MAPS-111

Hkkjr esa jkT; jktuhfr

m0 iz0 jktf"kZ V.Mu
eqDr fo'ofo|ky;] iz;kxjkt

[k.M&1 Hkkjrh; jktuhfrd O;oLFkk % ifjp;

इकाई–1	भारतीय राजनीतिक व्यवस्था का स्वरूप	3–9
इकाई–2	भारतीय संघ व्यवस्था का स्वरूप	10–21
इकाई–3	भारतीय संघ व्यवस्था में केन्द्र–राज्य सम्बन्ध	22–35
इकाई–4	भारत में राज्य स्वायत्तता की मांग : संघवादी व्यवस्था का मूल्यांकन	36–47

[k.M&2 nyh; O;oLFkk ,oa ncko lewg

इकाई–5	भारत में दलीय व्यवस्था का स्वरूप	48–64
इकाई–6	भारत में क्षेत्रीय एवं राज्य स्तरीय दल भारतीय राजनीति में दबाव समूह	65–82
खण्ड–7	भारतीय राजनीति में धर्म, जाति, क्षेत्र एवं भाषा	83–100

[k.M&3 Hkkjrh; jktuhfr esa /keZ] tkfr] {ks= ,oa Hkk"kk

इकाई–8	जाति एवं भारतीय राजनीति	101–105
इकाई–9	भारतीय राजनीति पर साम्प्रदायिकता एवं धर्म का प्रभाव	106–109
इकाई–10	भारतीय राजनीति में क्षेत्रवाद	110–113
इकाई–11	भारतीय राजनीति में भाषा	114–119

[k.M&4 jkT; dk;Zikfydk

इकाई–12	राज्य राजनीति में राज्यपाल की भूमिका	120–128
इकाई–13	राज्य–मंत्रिपरिषद तथा राज्य राजनीति में मुख्यमंत्री	129–135
इकाई–14	राज्य– विधानमण्डल और उसकी कार्यप्रणाली	136–141

[k.M&5 jkT; jktuhfr ds rRo

इकाई–15	भारत में राज्यों की राजनीति की पृष्ठभूमि	142–149
इकाई–16	राज्य राजनीति के अध्ययन का सैद्धान्तिक आधार	150–157
इकाई–17	राज्य राजनीति के सामाजिक–आर्थिक निर्धारक	158–164
इकाई–18	भारत में राज्यों की राजनीति रू प्रकृति, प्रारूप एवं उभरती प्रवृत्तियाँ	165–170
इकाई–19	राष्ट्रीय राजनीति का राज्य राजनीति पर प्रभाव	171–178

MAPS-111 Hkkjr esa jkT; jktuhfr

m0 iz0 jktf"kZ V.Mu eqDr fo'ofo|ky;] iz;kxjkt

---

laj{kd

izks0 lR;dke — dqyifr

उ0 प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

ikB~;Øe fuekZ.k lfefr ¼v/;;u cksMZ½

प्रो0 संतोषा कुमार	निदेशक, समाज विज्ञान विद्याशाखा, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज
प्रो0 अनुराधा अग्रवाल	आचार्य, राजनीति विज्ञान विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज
प्रो0 राजपाल बुदानिया	आचार्य, राजनीति विज्ञान विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज
डॉ. आनन्दा नन्द त्रिपाठी	सह आचार्य समाज विज्ञान विद्याशखा, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज
डॉ. त्रिविक्रम तिवारी	सहायक निदेशक/सह आचार्य, समाज विज्ञान विद्याशाखा उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज
डॉ. दीपशिखा श्रीवास्तव	सहायक आचार्य, राजनीति विज्ञान, समाज विज्ञान विद्याशाखा उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

ys[kd

डॉ0 जितेन्द्र कुमार	असि. प्रोफेसर राजनीति विज्ञान, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ
डॉ0 सत्यम तिवारी	असि. प्रोफेसर राजनीति विज्ञान, खुनखुनजी पी.जी. कॉलेज, लखनऊ
डॉ0 दीपशिखा श्रीवास्तव	असि. प्रोफेसर राजनीति विज्ञान, उ0प्र0राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय., प्रयागराज
डॉ0 सोहिनी देवी	असि. प्रोफेसर लोक प्रशासन, उ0प्र0राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय., प्रयागराज
डॉ0 आर.पी. सिंह	असि. प्रोफेसर, शिया पी.जी. कॉलेज
श्रीमती कामना यादव	असि. प्रोफेसर राजनीति विज्ञान, उ0प्र0राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

lEiknu

डॉ. आनन्दा नन्द त्रिपाठी	सह आचार्य, समाज विज्ञान विद्याशखा, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज
डॉ. त्रिविक्रम तिवारी	सहायक निदेशक/सह आचार्य, समाज विज्ञान विद्याशाखा उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

leUo;d

डॉ0 दीपशिखा श्रीवास्तव	असि. प्रोफेसर राजनीति विज्ञान, रा0ट0 मुक्त वि.वि., प्रयागराज

eqfær o"kZ & 2024

© mÙkj izns'k jktf"kZ V.Mu eqDr fo'ofo|ky;] iz;kxjkt

ISBN No.& 978-93-48270-22-1

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस सामग्री के किसी भी अंश को उ.प्र. राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में मिनियोग्राफी (वक्रमुद्रण) द्वारा या अन्यथा पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

ukV ¼ पाठय साम्रगी में मुद्रित साम्रगी के विचारों एवं आकड़ों आदि के प्रति विश्वविद्यालय, उत्तरदायी नहीं उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन विश्वविद्यालय, प्रयागराज।

izdk'ku ¼ उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

izdk'kd ¼ कुलसचिव, कर्नल विनय कुमार गुप्ता उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज –2024

eqnzd ¼& चंद्रकला यूनिवर्सल प्राइवेट लिमिटेड, 42/7 जवाहरलाल नेहरू रोड, प्रयागराज

इकाई–1 भारतीय राजनीतिक व्यवस्था का स्वरूप

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 राजनीतिक व्यवस्था की परिभाषा

1.3 भारतीय राजनीतक व्यवस्था का अर्थ

1.4 भारतीय राज–व्यवस्था के निर्धारक तत्व

1.5 भारतीय राजनीतक व्यवस्था की प्रकृति

1.5.1 प्रधानमन्त्रीय–व्यवस्था

1.5.2 सिद्धान्ततः समाजवादी व्यवस्था

1.5.3 व्यवहार में पूंजीवादी अर्थतन्त्र

1.5.4. बहुदलीय पद्धति के अन्तर्गत प्रधानता के लिए तीज प्रतियोगिता

1.5.5 परम्परा और आधुनिकता का मिश्रण

1.5.6. दल–बदल

1.5.7. गठबन्धन की राजनीति

1.5.8. विविधता में एकता

1.6 सारांश

1.7 शब्दावली

1.8 उपयोगी पुस्तकें

1.0 उद्देश्य

भारत एक संप्रभु समाजवादी धर्मनिरपेक्ष लोकतांत्रिक गणराज्य है, जिसकी सरकार संसदीय शासन प्रणाली वाली है, जो एकात्मक विशेषताओं के साथ संघीय संरचना के प्रकृति को प्रदर्शित करता है। राष्ट्रपति को सलाह देने के लिए प्रधानमंत्री के नेतृत्व में एक मंत्रिपरिषद है, जो देश का संवैधानिक प्रमुख है। इसी तरह राज्यों में भी मुख्यमंत्री के नेतृत्व में एक मंत्रिपरिषद है, जो राज्यपाल को सलाह देती है। यह खंड भारतीय राजनीतिक व्यवस्था की प्रकृति की सामान्य जानकारी प्रदान करता है। राजनीतिक प्रक्रिया का धनिष्ठ सम्बन्ध राजनीतिक व्यवस्था के स्वरूप से रहा है। राजनीति की प्रक्रिया का सम्बन्ध अनेक वर्गों और संगठनों से रहता है– राजनीतिक दल, दबाव समूह, हित समूह, चुनाव–तन्त्र, लोकमत की अभिव्यक्ति के साधन, साम्प्रदायिक और गैर–सामादायिक गुटों, बुद्धिजीवियों, नौकरशाही और अभिजात्यवर्ग, आदि–आदि से। ये वर्ग और संगठन देश विशेष की राजनीतिक व्यवस्था के स्वरूप को निर्धारित करते हैं।

1.1 प्रस्तावना

भारतीय राजनीतिक व्यवस्था एक विस्तृत और बहुआयामी प्रणाली है, जो देश की सांस्कृतिक, भाषाई, और सामाजिक विविधता को समाहित करते हुए लोकतांत्रिक आदर्शों पर आधारित है। भारत का संविधान, जो 26 जनवरी 1950 को लागू हुआ, इस व्यवस्था की आधारशिला है और भारत को एक संप्रभु, समाजवादी, धर्मनिरपेक्ष, और लोकतांत्रिक गणराज्य के रूप में स्थापित करता है। यह राजनीतिक ढांचा संघीय प्रणाली पर आधारित है, जिसमें केंद्र और राज्यों के बीच शक्तियों का बंटवारा किया गया है, जिससे सत्ता का विकेंद्रीकरण सुनिश्चित होता है।

भारत में संसदीय प्रणाली अपनाई गई है, जिसमें राष्ट्रपति राष्ट्र प्रमुख होते हैं जबकि वास्तविक कार्यकारी शक्ति प्रधानमंत्री और उनके मंत्रिमंडल के पास होती है। भारतीय लोकतंत्र का प्रमुख आधार स्वतंत्र और निष्पक्ष चुनाव हैं, जो जनता को सीधे अपने प्रतिनिधियों का चयन करने का अधिकार प्रदान करते हैं। इसके अलावा, न्यायपालिका की स्वतंत्रता और प्रेस की स्वायत्तता भी इस व्यवस्था की ताकत है। भारतीय राजनीतिक व्यवस्था सहकारी संघवाद, धर्मनिरपेक्षता और सामाजिक न्याय के सिद्धांतों पर आधारित है, जो समाज के सभी वर्गों को प्रतिनिधित्व और समान अवसर प्रदान करती है। इसके साथ ही यह व्यवस्था सामाजिक और आर्थिक असमानताओं को दूर करने और समग्र विकास सुनिश्चित करने के लिए प्रतिबद्ध है।

1.2. राजनीतिक व्यवस्था का अर्थ

'राजनीतिक व्यवस्था' क्या है? हमें सर्वप्रथम 'व्यवस्था' शब्द का अर्थ समझना चाहिए। यह शब्द भौतिक विज्ञानों से लिया गया है। भौतिक विज्ञानों के अन्तर्गत "व्यवस्था का अर्थ सुपरिभाषित अन्तःक्रियाओं के समूह से है जिसकी सीमाएं निश्चित की जा सकें।" शाब्दिक परिभाषा के अनुसार, व्यवस्था का अर्थ है–" जटिल सम्बन्धित वस्तुओं का समग्र समूह, विधि संगठन पद्धति के निश्चित सिद्धान्त तथा वर्गीकरण का सिद्धान्त।" अर्थात् एक व्यवस्था संगठित होनी चाहिए अथवा उसमें संगठन हो, उसके अंग सम्बद्ध हो। हम व्यवस्था के अन्तर्गत न केवल उन अंगों को शामिल करते हैं जो विधि पर आधारित हैं, जैसे विधानमण्डल, कार्यपालिका, आदि वरन् समस्त संरचनाओं को उनके राजनीतिक रूप में शामिल करते हैं जैसे जाति, धर्म, परिवार, आदि।

राजनीतिक व्यवस्था का संबंध सामाजिक संरचना से घनिष्ठता के साथ जुड़ा है। समाज स्वयं एक व्यवस्था है जिसका निर्माण राजनीतिक व्यवस्था के अतिरिक्त अन्य व्यवस्थाओं जैसे– आर्थिक, सास्कृतिक, शैक्षणिक, धार्मिक और जैविक व्यवस्थाओं से होता है। ये सभी व्यवस्थाएं एक–दूसरे को प्रभावित करती रहती हैं। राजनीतिक व्यवस्था अन्य व्यवस्थाओं से अलग और पूर्ण नहीं है। व्यक्ति का राजनीतिक आचरण न केवल उसके राजनीतिक मूल्यों अथवा प्रतिमानों से प्रभावित होता है वरन् रक्त सम्बन्ध, धार्मिक सम्बन्ध, आर्थिक क्रियाओं तथा सांस्कृतिक उपलब्धियों से भी प्रभावित होता है। व्यवस्था का अर्थ है–मानवीय सम्वन्धों का स्वरूप (Pattern of Human Realtionships)। कोई भी मानवीय सम्बन्धों की संरचना राजनीतिक व्यवस्था बन जाती है यदि उसके अन्तर्गत शक्ति, नियम और सत्ता के तत्व दृष्टिगोचर होने लगते हैं।

राजनीतिक व्यवस्था राजनीतिक संस्थाओं तक ही सीमित नहीं है। जाति, समूह, चर्च, व्यावसायिक संगठन सभी में राजनीतिक व्यवस्था की कल्पना की जा सकती है, यदि संस्था के सदस्य सत्ता, शक्ति और नियम से सम्बन्धित है। वस्तुत प्रत्येक संगठन का एक राजनीतिक पहलू होता है। इस संबंध में रॉबर्ट डहल की मान्यता है कि, "राजनीतिक व्यवस्था मानव सम्बन्धों का वह स्थायी स्वरूप है जिसके अन्तर्गत शक्ति, नियम और सत्ता महत्वपूर्ण मात्रा में एक दूसरे से जुड़े होते हैं।" डेविड ईस्टन के अनुसार, "राजनीतिक व्यवस्था के तीन संघटक हैं– प्रथम, राजनीतिक व्यवस्था नीतियों के माध्यम से मूल्यों का आवण्टन का कार्य करती है। द्वितीय, इसका आवण्टन प्राधिकारिक होता है, तीसरा, इसका अधिकारिक आवण्टन समाज पर वाह्य रूप से लागू होता है।"

1.3 भारतीय राजनीतिक व्यवस्था

कुछ लोग भारतीय संविधान को ही भारतीय राजनीतिक व्यवस्था का पर्याय मान बैठे हैं और अन्य विद्वान भारतीय राज व्यवस्था को अपनी निर्माण अवस्था में मान रहे हैं। वस्तुत भारतीय राज–व्यवस्था न तो संविधान मात्र है और न ही निर्माणाधीन। जब हम भारतीय राजव्यवस्था पर विचार करते हैं तो उसका अभिप्राय होता है कि शासन का स्वरूप क्या है, इसका ध्येय क्या है, नीति निर्माण किस प्रकार होता है, कौन–से ऐसे तत्व हैं जो नीतियों के निर्माण को प्रभावित करते है। समय के साथ इस व्यवस्था के साथ नित नए आयाम जुड़ते गए और साथ ही नित नए आया उजागर हो रहे हैं और उनसे राज–व्यवस्था का स्वरूप भी अवश्य ही निखर रहा है।

1.4. भारतीय राज–व्यवस्था के निर्धारक तत्व (Determinants Of Indian Political System)

राजनीति, समाज और संविधान में घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। संविधान राजनीति और समाज का आधार होता है, राजनीति समाज के केन्द्र में निर्मित होती है और फिर उसी को प्रभावित करती है। समाज का स्वरूप भी राजनीति को आधार प्रदान करत है। समाज में विद्यमान आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक तत्व राजनीतिक व्यवस्था के स्वरूप को बहुत हद तक निर्धारित करने हैं। भारतीय राज–व्यवस्था के निर्धारक तत्व कुछ निम्न

प्रकार हैं

(1) भारतीय संविधान (Indian Constitution (2) संविधान की उद्देशिका (Preamble of the Constitution) (3) ब्रिटिश विरासत (British LegScies) (4) एकीकरण की समस्या (Problem of National Integration) (5) समायोजन और सहमति के सिद्धान्त (Principle of CompromiseAnd Consensus) (6) आधुनिकीकरण (Modernization) (8) जाति (Caste) (9) क्षेत्रीयता (Regionalism) (10) भाषा (Language

1.5. भारतीय राजनीतिक व्यस्था का स्वरूप

संविधान और राजनीतिक व्यवस्था में धनिष्ठ सम्बन्ध है। संविधान की विशेषताएं राज–व्यवस्था को न केवल प्रभावित करती है अपितु उसे औपचारिक आधार प्रदान करती है. किन्तु राज–व्यवस्था संवैधानिक औपचारिकता मात्र नहीं है. इसमें अनेक अनीपचारिक तत्व भी निहित होते हैं। इसी परिप्रेक्ष्य में हम यहा भारतीय राज व्यवस्था के स्वरूप का विश्लेषण करेंगे। राज–व्यवस्था का स्वरूप निम्नलिखित है

1.5.1 प्रधानमन्त्रीय–व्यवस्था (Priministerial System)

संविधान निर्माता भारत में संसदात्मक तन्त्र की स्थापना करना चाहते थे, किन्तु धीरे–धीरे ससदात्मक व्यवस्था के संवैधानिक प्रावधानों के उपरान्त भी हमारी राज व्यवस्था प्रधानमन्त्रीय व्यवस्था में परिवर्तित हो गई। जिस प्रकार अमरीका में कांग्रेस की तुलना में राष्ट्रपति सत्ता और राजनीति का केन्द्र विन्दु है उसी प्रकार भारत में संसद की तुलना में प्रधानमन्त्री सत्ता और राजनीति का मुख्य विन्दु कहा जा सकता है। 13वीं एवं 14वी लोकसभा के चुनावों में दो व्यक्तित्वों की सीधी टक्कर में जहां वाजपेयी खुद को बतौर पितृपुरुष के रूप में पेश करते रहे वहीं सोनिया ने अपने परिवार की अपूर्व विरासत का इस्तेमाल किया। देश के संसदीय चुनाव को अमरीकी राष्ट्रपति के चुनाव की तरह दो शख्सियतों की सीधी टक्कर में बदल देने वाले इन नेताओं ने पिछले चुनाव से अब तक काफी दूरी तय कर ली। इस प्रकार वर्तमान समय की विश्वव्यापी प्रवृत्तियों के अनुरूप भारत ने भीः मन्त्रिमण्डलात्मक व्यवस्था में प्रधानमन्त्रीय–व्यवस्था का रूप ग्रहण कर लिया है।

1.5.2 सिद्धान्ततः समाजवादी व्यवस्था (Theoretically Socialist System)

संविधान–निर्माताओं ने भारत के संविधान को समाजवाद, साम्यवाद वा पूंजीवाद जैसे किसी विशिष्ट राजनीतिक दर्शन का अनुयायी नहीं बनाया, किन्तु धीरे–धीरे भारतीय राज–व्यवस्था का विचारदर्शन समाजवादी की ओर उन्मुक्त होती दिखाई दी। भारत में सम्पूर्ण शासन–तन्त्र अपनी पूरी शक्ति के साथ देश के आर्थिक पुनर्निर्माण में लगा हुआ है, निर्धनों के शोषण को समाप्त करने का प्रयास किया गया है। कमजोर वर्गों के लिए विशेष रियायत देने की कोशिश की गई है। सामन्तशाही और विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग का अन्त किया गया है, विषमता समाप्त की जा रही है और परम्परागत सामाजिक और आर्थिक ढांचे पर प्रहार किए जा रहे हैं।

1.5.3 व्यवहार में पूंजीवादी अर्थतन्त्र (Capitalist Economy in Practice)

स्वतन्त्रता के बाद के वर्षो के दौरान राजनीतिक नेताओं ने 'मिश्रित अर्थव्यवस्था' की नीति अपनाई जिसका अर्थ था एक नियोजित और विनियामक अर्थव्यवस्था। इसे पूंजीवादी अर्थव्यवस्था से आमूल रूप से भिन्न बताया गया और कहा गया कि वह समाजवादी ढांचे की स्थापना का मार्ग प्रशस्त करेगी। बाद के वर्षों के दौरान राजकीय विनियमन, भूमि सुधारों, सार्वजनिक क्षेत्र, बैंक राष्ट्रीयकरण और निजी क्षेत्र में हस्तक्षेप करने के अन्य उपाय अपनाए गए। इन्हें वहुधा भारत में समाजवादी गतिविधियों के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। व्यवहार में देखा जाय तो भारत में समाजवादी अर्थव्यवस्था को नहीं, बल्कि मिश्रित अर्थव्यवस्था को स्वीकार किया गया। मिश्रित अर्थव्यवस्था का अर्थ या नियोजन, विनिमय और निजी क्षेत्र की रियायतें प्रदान करती है।

1.5.4. बहुदलीय पद्धति के अन्तर्गत प्रधानता के लिए तीज प्रतियोगिता (Multiparty System with keen competition for Dominant Position)

भारत में ब्रिटेन या अमरीका की तरह द्विदत पद्धति नहीं, वरन् वहुदलीय पद्धति है। लोकसभा में 37 से अधिक और विभिन्न राज्यों की विधानसभाओं में कुल मिलाकर 40 से अधिक मान्यता प्राप्त पंजीकृत राजनीतिक दल हैं। इनमें से कुछ को छोड़कर अन्य के पास कोई नीति अथवा कार्यक्रम नहीं है तथा उनके पास साधनों का भी अभाव है। इन राजनीतिक दत्तों में से कुछ का संगठन और स्वरूप केवल कहने भर के लिए है और इनके

प्रभाव क्षेत्र बहुत सीमित हैं। इस बहुदलीय पद्धति ने कुछ राज्यों की राजनीति में और कुछ वर्षों (1967–69, 1978–79 और 1989–2011) के लिए केन्द्रीय स्तर पर भी कम अधिक राजनीतिक अस्थायित्व को जन्म दिया है।

यह बहुदलीय पद्धति दो रूपों में सामने आई है। एक दल (कांग्रेस, सत्ता कांग्रेस और कांग्रेस) की प्रधानता इसका प्रमुख स्वरूप रहा है लेकिन अपवादस्वरूप समय (1967–69, 1977–79 और 1989–2010) में इसने ऐसे रूप को प्राप्त कर लिया जिसमें किसी एक दल की प्रधानता नहीं रही और प्रधानता की स्थिति को प्राप्त करने के लिए दो या अधिक राजनीतिक दलों के बीच तीव्र और वास्तविक रूप में प्रतियोगिता की स्थिति खड़ी हो गई। आज की भारतीय राजनीति में प्रमुख रूप से राजनीतिक दल हैं काग्रेस, भारतीय जनता पार्टी, समाजवादी पार्टी और नेशनलिस्ट कांग्रेस पार्टी इत्यादि। इनमें भी मुख्य प्रतियोगिता तो भारतीय जनता पार्टी तथा कांग्रेस पार्टी के बीच ही है। केन्द्र में कांग्रेस के बाहरी समर्थन से 1996–97 में यूनाइटेड फ्रन्ट सत्तारूढ़ रहा और भाजपा केन्द्र में सत्ता प्राप्ति के लिए अनेक क्षेत्रीय दलों से गठवन्धन करती रही। इन दो राजनीतिक दलों और दलों के गठजोड़ के बीच सत्ता प्राप्ति के लिए प्रतियोगिता इतनी तीव्र है कि लोकतान्त्रिक मर्यादाओं का इसके लिए कोई महता नहीं रहा है।

1.5.5 परम्परा और आधुनिकता का मिश्रण (Mixture of Tradition And Modernity)

भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में परम्परा और आधुनिकता का संगम पाया जाता है। चुनाव व्यवस्था आधुनिक तत्व है जबकि चुनावों पर जाति और पंथ का प्रभाव परम्परागत है। व्यक्ति की गरिमा का सिद्धान्त परम्परागत है जबकि सामाजिक कल्याण की भावना आधुनिक है। संघवाद का सिद्धान्त परम्परागत है. किन्तु केन्द्रीभूत संघ का विचार आधुनिक है। संसदात्मक शासन–व्यवस्था का विचार परम्परागत है. किन्तु प्रधानमन्त्रीय–व्यवस्था का विचार आधुनिक है। मौलिक अधिकारों का सिद्धान्त परम्परागत है जबकि नीति निदेशक सिद्धान्तों का आधुनिक है। रजनी कोठारी के अनुसार भारत में आधुनिकता के प्रभाव से जो प्रतिक्रियाएं हुई उनसे पुरानी परम्परा और संस्कृति के प्रति नया बोथ उत्पन्न हुआ। आधुनिकता की प्रतिक्रियास्वरूप भारतीयता की भावना बड़ी और इसे नया अर्थ और रूप देने का यत्न किया गया। उदाहरणार्थ, पुरानी परम्परा और लोकतन्त्रीय व्यवस्था में निरन्तर आदान–प्रदान होता रहा। पुरानी परम्परा विभिन्नता और मतभेदों के प्रति सहनशीलता बरतती थी और मूल लोकतन्त्रीय व्यवस्था विचार तथा कार्य की स्वतन्त्रता का समर्थन करती थी और समाज के सभी वर्गों को साथ लेकर चलना चाहती थी। फलस्वरूप दोनों के मेल में कोई कठिनाई नहीं हुई। पुरानी परम्परा ने यह आत्मविश्वास उत्पन्न किया कि भारत की जनता में विवेक और वृत्ति का मार्ग ग्रहण करने की क्षमता है। इस बात पर भी सहमति दी कि भारतीय सभ्यता की समृद्ध परम्परा को बनाए रखने के लिए ऐसी शासन–व्यवस्था को अपनाना चाहिए, जिससे देश के सभी मतों और तार्किक दावों की स्वतन्त्रता सुरक्षित रहे।

1.5.6. दल–बदल (Defection)

दल–बदल से अभिप्राय है दलगत सम्बन्ध अथवा निष्ठा में परिवर्तन। भारतीय राज–व्यवस्था में कोई भी संसद अथवा विधानमण्डल का सदस्य कभी भी अपनी दलगत आस्थाओं और सम्वन्धों में परिवर्तन कर सकता है। किसी विधायक का अपने दल तथा निर्दलीय मंच का परित्याग कर किसी अन्य दल में जा मिलना, नया दल बना लेना या निर्दलीय स्थिति बना लेना अथवा अपने दल की सदस्यता त्यागे बिना ही बुनियादी मामलों पर सदन में उसके विरुद्ध मतदान करना आम बात ही गई है। भारतीय राजनीति में दल–बदल की घटनाएं कोई ऐसी बात नहीं जो 1967 के चुनावों के बाद ही सामने आई हों। विधायी संस्थाओं के प्रारम्भ में ही दल–बदल की घटनाओं का प्रारम्भ माना जा सकता है। सन् 1937 के चुनावों में कांग्रेस को संयुक्त प्रान्त में पूर्ण वहुमत प्राप्त हुआ फिर भी मुख्यमन्त्री गोविन्दवसभ पन्त ने मुस्लिम लीग के कुछ सदस्यों को दल बहलने और कांग्रेस में शामिल होने का प्रलोभन दिया। सन् 1948 में जब कांग्रेस समाजवादी दल ने कांग्रेस संगठन को छोड़ने का फैसला किया तो यह दल–बदल ही था। सन् 1950 में उत्तर–प्रदेश में सामूहिक दल–बदल की घटना घटी और 1958 में उत्तर प्रदेश के 98 विधायकों ने मुख्यमन्त्री के विरुद्ध अविश्वास व्यक्त किया। 1953 में प्रजा समाजवादी पार्टी के नेता श्रीप्रकाशम् को आन्ध्र प्रदेश का मुख्यमन्त्री पद का वचन देकर कांग्रेस में शामिल होने के लिए प्रेरित किया गया। चतुर्थ आम चुनाव से पूर्व समाजवादी नेता अशोक मेहता को उनके कई साथियों के साथ कांग्रेस दल में औपचारिक रूप से शामिल कर लिया गया। डॉ. सुभाष काश्यप के अनुसार, "राजनीतिक दल–बदल की समस्या का एक रोचक पहलू यह है कि एक ओर तो कोई भी विधायक और कोई भी

राजनीतिक दल, दल–बदल की घटनाओं की कड़ी–से–कड़ी भर्त्सना करने से नहीं चूकता, दूसरी ओर जब अवसर आता है और दल–बदल करने में कुछ लाभ दिखाई देता है तो कोई उसका उपयोग करने और स्वयं दल–बदल करने में तनिक भी संकोच नहीं करता। आज भी दल–बदल की घटनाएं आए दिन हो रही हैं।

1.5.7. गठबन्धन की राजनीति (Coalition Politics)

1998, 1999, 2004 एवं 2009 के चुनावों को ऐसे चुनाव के रूप में याद किया जाता है जिसके दौरान भारतीय राजनीति में गठवन्धनों और साझा सरकारों की अपरिहार्यता अन्ततः स्वीकार कर ली गई। पहली बार कांग्रेस समेत राजनीतिक दलों ने गठजोड़ों को चुनावी सफलता की कुंजी माना। अधिकांशतः तिरस्कार झेलने वाली खिचड़ी ही आज राजनीति का प्रमुख चरित्र बनती दिखाई दे रही थी। गठजोड़ों के स्वरूपों में भी जबरदस्त बदलाव आ गया था। देश की विशालता और विविधता के मद्देनजर गठवन्धन की राजनीति वर्तमान की जरूरत समझी गई। कांग्रेस के अन्दर कई दशकों तक सामाजिक और क्षेत्रीय गठवन्धन बनते रहे जिन्हें सामान्य गुटबन्दी, अवसरवाद पार्टी के अन्दरूनी विवादों की संज्ञा दी जाती रही। सत्ता से कांग्रेस के बाहर होने के बाद भी यही प्रक्रिया विभिन्न राजनीतिक दलों के बीच गठजोड़ के रूप में फिर सामने आई। राष्ट्रीय स्तर पर किसी एक राजनीतिक पार्टी के मौजूद न होने और केन्द्र में बहुमत जुगाड़ने की विवशता ने चुनावी गठवन्धन या चुनाव बाद की साझा सरकार को अपरिहार्य बना दिया।

1.5.8. विविधता में एकता (Unity in Diversity)

भारतीय राजनीतिक व्यवस्था को प्रभावित करने वाले तत्व है देश की विशालता, प्राचीनता, जाति, भाषा, धर्म और संस्कृतिगत विविधता। भारत की राजनीति में प्रान्तीय और वर्गगत मांगों ने राष्ट्रीय राज–व्यवस्था के सामने नई समस्याएं खड़ी की हैं। दबे हुए वर्गों और समूहों के राजनीतिक क्षेत्र में आने से अधिकार के लिए उनकी आकाक्षा से नई समस्याएं खड़ी हो जाती हैं। इस विविधता में भी राष्ट्रीय एकता की भावना विकसित हुई है और एकता के निर्माण में राजनीतिक व्यवस्था का मुख्य योगदान रहा है। रजनी कोठारी के अनुसार, "भारत जैसे विशाल देश में जहां इतने विविध प्रकार के लोग रहते हैं, एकता की स्थापना इसी से हो सकती है कि सब तत्वों को राजनीतिक सत्ता व अधिकार में भाग दिया जाए और सबको साथ लेकर चला जाए। इसके लिए जरूरी है कि समाज के सभी वर्गों में राजनीतिक संस्था का प्रवेश हो। राजनीति की इस रचनात्मक भूमिका से ही एकात्मक प्रवृत्तियों को बल मिलता है। इसके अतिरिक्त अस्थिरता और अव्यवस्था की राजनीति, नौकरशाही पर निर्भरता, परम्परावादी और आधुनिक दबाव समूहों की भूमिका को भारतीय राजनीतिक व्यवस्था के स्वरूप को प्रभावित करने के संदर्भ में समझा जा सकता है।

1.6 सारांश

भारतीय राजनीतिक व्यवस्था एक मजबूत और लचीला लोकतंत्र है, जो संघीय ढांचे, संसदीय प्रणाली और सहकारी संघवाद के सिद्धांतों पर आधारित है। संविधान इसके संचालन का मूलभूत ढांचा प्रदान करता है, जिसमें नागरिकों के अधिकारों की रक्षा, सत्ता का विकेंद्रीकरण, और न्यायपालिका की स्वतंत्रता सुनिश्चित की जाती है। हालांकि, इस व्यवस्था में कभी–कभी राजनीतिक विवाद, भ्रष्टाचार, और शासन में अक्षम्यताएँ सामने आती हैं, फिर भी यह व्यवस्था अपने उदार लोकतांत्रिक मूल्यों के साथ निरंतर विकासशील है। भारतीय राजनीतिक व्यवस्था न केवल राजनीतिक विविधता और बहुलवाद को समाहित करती है, बल्कि सामाजिक न्याय और समानता के लक्ष्यों को भी आगे बढ़ाती है, जो इसे दुनिया के सबसे सशक्त लोकतंत्रों में से एक बनाता है।

1.7 शब्दावली

संविधान (Constitution): भारत का सर्वोच्च कानून जो सरकार के ढांचे, शक्तियों और नागरिकों के अधिकारों और कर्तव्यों को परिभाषित करता है।

संघवाद (Federalism): केंद्र और राज्य सरकारों के बीच शक्तियों का विभाजन, जो संविधान के तहत निर्धारित है।

संसदीय प्रणाली (Parliamentary System): सरकार की वह प्रणाली जिसमें कार्यकारी (प्रधानमंत्री और मंत्रीमंडल) संसद के प्रति उत्तरदायी होता है।

लोकतंत्र (Democracy): शासन प्रणाली जिसमें जनता के प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से चुने गए प्रतिनिधियों के माध्यम से सरकार चलती है।

सहकारी संघवाद (Cooperative Federalism): केंद्र और राज्य सरकारों के बीच सहयोग और समन्वय पर आधारित संघीय ढांचा।

न्यायिक समीक्षा (Judicial Review): न्यायपालिका का वह अधिकार जिससे वह विधायिका और कार्यपालिका के कार्यों की संवैधानिकता की जाँच कर सकती है।

धर्मनिरपेक्षता (Secularism): शासन का सिद्धांत जिसमें राज्य का किसी विशेष धर्म से कोई संबंध नहीं होता और सभी धर्मों के प्रति समान व्यवहार किया जाता है।

राष्ट्रपति शासन (Presidentials Rule): एक संवैधानिक प्रावधान जिसके तहत राज्य सरकार की असफलता की स्थिति में राज्य में केंद्र सरकार का प्रत्यक्ष शासन लागू किया जाता है।

विधायी प्रक्रिया (Legislative Process): संसद और विधानसभाओं के माध्यम से कानून बनाने की प्रक्रिया।

स्थानीय स्वशासन (Local Self&Government): ग्राम पंचायतों, नगर पालिकाओं और अन्य स्थानीय निकायों द्वारा शासन का विकेंद्रीकृत रूप।

1.8 उपयोगी पुस्तकें

"भारतीय संविधान का परिचय" – डॉ. बी. आर. अम्बेडकर

भारतीय संविधान के निर्माता डॉ. अम्बेडकर द्वारा भारतीय संविधान और उसकी प्रक्रिया पर गहरा विवरण।

Indian Polity – एम. लक्ष्मीकांत। यह पुस्तक भारतीय राजनीति और संविधान पर आधारित है, और प्रतियोगी परीक्षाओं के लिए बहुत उपयोगी मानी जाती है।

The Constitution of India – पी. एम. बक्शी। संविधान के प्रावधानों और उसकी व्याख्या को समझने के लिए यह एक प्रमुख पुस्तक है, जो संविधान के विभिन्न अनुच्छेदों का विस्तृत विवरण देती है।

Politics in India – रजनी कोठारी। भारतीय राजनीति के सामाजिक और आर्थिक पहलुओं का व्यापक अध्ययन करने के लिए यह एक महत्वपूर्ण पुस्तक है।

Our Constitution– सुभाष कश्यप। संविधान और भारतीय राजनीति की जटिलताओं को समझने के लिए यह पुस्तक एक महत्वपूर्ण स्रोत है।

IndiaAfter GSndhi – रामचंद्र गुहा। यह पुस्तक भारत की स्वतंत्रता के बाद की राजनीति और सामाजिक बदलावों पर आधारित है।

The Idea of India– सुनील खिलनानी। भारतीय राजनीतिक व्यवस्था और उसकी विविधता को समझने के लिए यह एक महत्वपूर्ण पाठ है।

उपयोगी लेख

Challenges to Indian Federalism – ग्रानविल ऑस्टिन

SecularismAnd Its Discontents – अमर्त्य सेन

JudicialActivism in India: Transgressing BordersAnd Enforcing Limits– misंद्र बक्षी

Federalism in India:A CriticalAppraisal – कनीकसा घोष

The Evolution of Indian Democracy – राजीव भार्गव

Parliamentary Democracy in India – सुनील खरे

बोध प्रश्न

1. भारतीय संघीय ढांचे में केंद्र और राज्य सरकारों के बीच शक्तियों का बंटवारा किन सूचियों के आधार पर किया जाता है?
2. संसदीय प्रणाली में भारत के राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री की भूमिकाओं में क्या अंतर है?
3. भारतीय संसद के दो सदनों के नाम बताइए और उनमें क्या अंतर है?
4. भारतीय न्यायपालिका की स्वतंत्रता संविधान में किस प्रकार सुनिश्चित की गई है?
5. भारत में राष्ट्रपति शासन किस अनुच्छेद के तहत लागू किया जाता है?
6. भारत में लोकतंत्र को सशक्त करने के लिए स्थानीय स्वशासन (पंचायती राज) को संवैधानिक मान्यता किस संशोधन के तहत प्रदान की गई?
7. भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में 'धर्मनिरपेक्षता' का क्या तात्पर्य है?
8. भारत के संविधान में संघवाद के कौन–कौन से तत्व शामिल हैं जो इसे केंद्र–प्रधान संघीय व्यवस्था बनाते हैं?
9. सहकारी संघवाद और प्रतिस्पर्धी संघवाद में क्या अंतर है, और भारतीय संघीय ढांचे में कौन–सा अधिक प्रमुख है?

इकाई–2 भारतीय संघ व्यवस्था: स्वरूप

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 संघ व्यवस्था की सैद्धांतिक समझ

2.3 भारतीय संघात्मक व्यवस्था के स्वरूप एवं लक्षण

2.3.1 शक्तियों का विभाजन

2.4 व्यवहार में भारतीय संघवाद की प्रकृति

2.4.1 केन्द्रीकृत संघवाद

2.4.2 सहयोगी संघवाद

2.4.3 एकात्मक संघवाद

2.4.4 सौदेबाजी वाली संघ व्यवस्था

2.5 भारतीय संघवाद की नवीन प्रवृत्तिया

2.5.1 नीति आयोग

2.5.2 जीएसटी का भारतीय संघवादी आदर्श पर प्रभाव

2.5.3 भारतीय संघवाद और नागरिकता से संबंधित हालिया विवाद

2.5.4 राज्यपाल की भूमिका को लेकर उभरते विवाद (2014 के बाद की अवस्था)

2.5.5 भारतीय संघवाद के समक्ष कोरोना के रूप में नवीन चुनौती

2.6 सारांश

2.7 शब्दावली

2.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें एवं लेख

2.0 उद्देश्य

भारतीय संघीय व्यवस्था का प्रमुख उद्देश्य देश की विशालता, विविधता और बहुलतावाद को संरक्षित रखते हुए राष्ट्रीय एकता, अखंडता और स्थिरता सुनिश्चित करना है। भारतीय संविधान ने संघीय ढांचे को इस प्रकार से तैयार किया है, जिसमें केंद्र और राज्यों के बीच शक्तियों का स्पष्ट विभाजन किया गया है, ताकि शासन में संतुलन और समन्वय बना रहे। यह व्यवस्था भारत की जटिल सांस्कृतिक, भाषाई, और सामाजिक विविधताओं को समाहित करते हुए उन्हें सशक्त बनाती है और साथ ही देश की अखंडता को भी मजबूत करती है।

सत्ता का विकेंद्रीकरण और समन्वय करना भारतीय संघीय ढांचे का पहला और प्रमुख उद्देश्य है। यह व्यवस्था केंद्र और राज्य सरकारों के बीच शक्तियों का संतुलन बनाती है। संविधान ने केंद्रीय सूची, राज्य सूची, और समवर्ती सूची के रूप में शक्तियों का वितरण किया है, जिससे दोनों स्तरों पर सरकारें अपने–अपने क्षेत्रों में शासन कर सकें। इसका उद्देश्य यह है कि स्थानीय जरूरतों और समस्याओं का निवारण स्थानीय स्तर पर ही किया जा सके, जबकि राष्ट्रीय स्तर के मुद्दों को केंद्र सरकार द्वारा देखा जाए।

राष्ट्रीय एकता और अखंडता को बनाए रखना है भारतीय संविधान निर्माताओं का प्रमुख ध्येय था। भारत एक विविधताओं से भरा देश है, जहां विभिन्न भाषाएं, संस्कृतियां, धर्म और समुदाय सह–अस्तित्व में हैं। इस

संदर्भ में, संघीय प्रणाली केंद्र सरकार को पर्याप्त शक्ति देती है कि वह देश की अखंडता और संप्रभुता की रक्षा कर सके। राष्ट्रीय आपातकालीन स्थितियों या आंतरिक संकट के समय में केंद्र सरकार को अधिक शक्ति प्रदान करना इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए ही किया गया है।

संघीय व्यवस्था का एक प्रमुख उद्देश्य राज्यों को स्वायत्तता प्रदान करना है। भारतीय संविधान राज्यों को अपनी सांस्कृतिक, भाषाई, और सामाजिक पहचान बनाए रखने की स्वतंत्रता देता है। यह संघीय ढांचा राज्यों को उनकी क्षेत्रीय जरूरतों और आवश्यकताओं के अनुसार नीतियों को लागू करने की शक्ति देता है। राज्यों को कानून बनाने, कराधान करने, और विकास संबंधी नीतियों को लागू करने के अधिकार दिए गए हैं, जो उन्हें आर्थिक और सामाजिक विकास के लिए सक्षम बनाते हैं।

भारतीय संघीय व्यवस्था का एक और महत्वपूर्ण उद्देश्य सहकारी संघवाद को बढ़ावा देना है। यह वह सिद्धांत है जिसमें केंद्र और राज्य सरकारें परस्पर सहयोग और समन्वय के साथ कार्य करती हैं। नीति आयोग जैसे संस्थान सहकारी संघवाद को सशक्त करने के लिए स्थापित किए गए हैं, ताकि विकास संबंधी योजनाओं और नीतियों में केंद्र और राज्य सरकारें साथ मिलकर काम कर सकें। इसके अलावा, केंद्र और राज्यों के बीच वित्तीय संसाधनों का वितरण भी सहकारी संघवाद के तहत आता है, जिससे संसाधनों का समुचित उपयोग सुनिश्चित किया जा सके।

संघीय व्यवस्था का एक अन्य प्रमुख उद्देश्य सामाजिक और आर्थिक असमानताओं को दूर करना है। भारत के विभिन्न राज्यों में सामाजिक और आर्थिक विकास की दर में असमानता है। इस समस्या को ध्यान में रखते हुए संघीय व्यवस्था इस प्रकार बनाई गई है कि केंद्र सरकार पिछड़े राज्यों को विकास योजनाओं और वित्तीय सहायता प्रदान कर सके। इसके माध्यम से, राष्ट्रीय स्तर पर विकास की समानता सुनिश्चित की जा सकती है।

संविधान के 73वें और 74वें संशोधन के तहत स्थानीय स्वशासन संस्थाओं को संवैधानिक दर्जा दिया गया है, ताकि सत्ता का और अधिक विकेंद्रीकरण हो सके। इस व्यवस्था का उद्देश्य ग्राम पंचायतों और शहरी निकायों के माध्यम से ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों में अधिक से अधिक जनभागीदारी सुनिश्चित करना है। यह संघीय व्यवस्था लोकतांत्रिक प्रक्रिया को जमीनी स्तर तक ले जाती है और स्थानीय समस्याओं के समाधान के लिए जिम्मेदारी तय करती है।

भारतीय संघीय व्यवस्था का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य देश की सांस्कृतिक और भाषाई विविधता का संरक्षण करना है। संविधान ने राज्यों को भाषाई और सांस्कृतिक आधार पर पुनर्गठित करने की शक्ति प्रदान की है, ताकि वे अपनी सांस्कृतिक पहचान को बनाए रख सकें। यह संघीय ढांचा राज्यों को उनकी स्थानीय परंपराओं और सांस्कृतिक धरोहरों को संरक्षित करने की स्वतंत्रता देता है।

भारतीय संघीय व्यवस्था का प्रमुख उद्देश्य देश की विविधता और एकता के बीच संतुलन बनाना है। यह व्यवस्था जहां एक ओर राज्यों को स्वायत्तता प्रदान करती है, वहीं राष्ट्रीय एकता और अखंडता को सुनिश्चित करने के लिए केंद्र सरकार को पर्याप्त शक्ति भी देती है। सहकारी संघवाद, सामाजिक न्याय, और विकास की समानता को बढ़ावा देते हुए यह संघीय ढांचा भारतीय लोकतंत्र को सशक्त बनाने और समावेशी विकास की दिशा में कार्य करता है।

2.1 प्रस्तावना

भारतीय संघीय व्यवस्था एक विशेष प्रकार की शासन प्रणाली है, जिसमें केंद्र और राज्यों के बीच शक्तियों का संतुलित बंटवारा किया गया है। भारत के संविधान ने इस संघीय ढांचे की नींव रखी, जो देश की विविधता और व्यापकता को ध्यान में रखते हुए बनाई गई है। भारतीय संघीय व्यवस्था का उद्देश्य राष्ट्रीय एकता और अखंडता को बनाए रखते हुए राज्यों को उनकी क्षेत्रीय, सांस्कृतिक और भाषाई आवश्यकताओं के अनुसार स्वायत्तता प्रदान करना है।

संविधान के अनुच्छेद 1 में भारत को "राज्यों का संघ" कहा गया है, जिसका मतलब है कि यह पूर्ण संघीय ढांचा नहीं है, बल्कि एक "केंद्र–प्रधान संघीय ढांचा" है। इसमें तीन सूचियों के माध्यम से शक्तियों का बंटवारा किया गया है दृ केंद्रीय सूची, राज्य सूची, और समवर्ती सूची। केंद्र सरकार को केंद्रीय सूची के तहत

विषयों पर संपूर्ण अधिकार दिया गया है, जबकि राज्य सरकारें राज्य सूची के अंतर्गत अपने विषयों पर कार्य करती हैं। समवर्ती सूची के विषयों पर दोनों सरकारें एक साथ कार्य कर सकती हैं, लेकिन केंद्र का वर्चस्व बना रहता है।

भारतीय संघीय व्यवस्था सहकारी संघवाद के सिद्धांत पर आधारित है, जिसमें केंद्र और राज्य सरकारें विकास और राष्ट्रीय हितों के लिए मिलकर कार्य करती हैं। हालांकि इसमें केंद्र का प्रभुत्व है, लेकिन यह संघीय ढांचा राज्यों को पर्याप्त स्वायत्तता प्रदान करता है ताकि वे अपनी स्थानीय आवश्यकताओं के अनुसार नीतियां बना सकें। भारतीय संघीय व्यवस्था विविधता में एकता की अद्वितीय मिसाल प्रस्तुत करती है, जो देश के समग्र विकास और लोकतांत्रिक शासन प्रणाली को सशक्त बनाती है।

2.2 संघ व्यवस्था की सैद्धांतिक समझ

संघ व्यवस्था (Federalism½ ,d शासन प्रणाली है जिसमें सत्ता का बंटवारा एक केंद्रीय सरकार और क्षेत्रीय या राज्य सरकारों के बीच होता है। इसमें केंद्र और राज्य, दोनों स्तर की सरकारें अपने–अपने क्षेत्रों में स्वतंत्र रूप से कार्य करती हैं और संविधान द्वारा निर्दिष्ट शक्तियों का प्रयोग करती हैं। संघीय ढांचा एक संतुलन सुनिश्चित करता है, जिससे देश की विविधता और क्षेत्रीय आवश्यकताओं का ध्यान रखते हुए राष्ट्रीय एकता और अखंडता बनी रहती है।

संघ व्यवस्था का मुख्य सिद्धांत शक्ति का विकेंद्रीकरण है, जिसके अंतर्गत सरकार की जिम्मेदारियों को विभिन्न स्तरों पर विभाजित किया जाता है। केंद्र सरकार राष्ट्रीय सुरक्षा, विदेश नीति, और संचार जैसे विषयों पर अधिकार रखती है, जबकि राज्य सरकारें शिक्षा, स्वास्थ्य, और पुलिस जैसे विषयों पर नियंत्रण रखती हैं। इसके अलावा, कुछ विषयों पर केंद्र और राज्य सरकारें मिलकर कार्य करती हैं, जिसे "समवर्ती सूची" कहा जाता है।

संघीय ढांचे का उद्देश्य है कि केंद्र और राज्य सरकारें एक साथ मिलकर काम करें, ताकि विकास और शासन में संतुलन बना रहे। यह प्रणाली बहुसांस्कृतिक और बहुलतावादी देशों के लिए विशेष रूप से प्रभावी होती है, क्योंकि यह विविधताओं को संरक्षित करते हुए सामूहिक विकास सुनिश्चित करती है। भारत, अमेरिका, कनाडा, ऑस्ट्रेलिया आदि देशों ने संघीय प्रणाली को अपनाया है।

भारतीय संघीय व्यवस्था सहकारी संघवाद पर आधारित है, जहां केंद्र और राज्य सरकारें परस्पर सहयोग से देश के समग्र विकास के लिए कार्य करती हैं। यह प्रणाली देश की विशालता और सांस्कृतिक विविधता को समाहित करने के साथ–साथ राजनीतिक स्थिरता और प्रशासनिक दक्षता सुनिश्चित करती है।

2.3 भारतीय संघात्मक व्यवस्था के स्वरूप एवं लक्षण

संघवाद वह तन्त्र है जिसके द्वारा राज्य की सारी शक्तियों का विभाजन दो प्रकार की सरकारों के मध्य हो जाता है। दो प्रकार की सरकारें केन्द्रीय और राज्यों की सरकारों के रूप में होती हैं। संघात्मक सरकार की परिभाषा करते हुए फाइनर ने कहा है कि यह ''एक शासन है जिसमें सत्ता और शक्ति का एक भाग स्थानीय क्षेत्रों में निहित होता है और दूसरा संस्था में।'' डायसी के अनुसार, "संघात्मक राज्य एक ऐसी राजनीतिक रचना है जिसमें राष्ट्रीय एकता और शक्ति तथा प्रदेशों के अधिकारों की रक्षा करते हुए दोनों में सामंजस्य स्थापित किया जाता है।" गार्नर के कथनानुसार, "ऐसी शासन और स्थानीय संगठन एक प्रभुसत्ता के अन्तर्गत स्थिर होते हैं और ये दोनों प्रकार अपने निश्चित अधिकार क्षेत्र जो सामान्य संविधान द्वारा निर्धारित की गई हैं, सर्वोपरि होते हैं।" प्रो. पायली का विचार है कि "भारत के संविधान का ढांचा संघात्मक है, किन्तु उसकी आत्मा एकात्मक है।" डॉ. सुभाष काश्यप का विचार है कि संविधान दोहरे शासनतन्त्र की स्थापना करता है। सरकारों की दो श्रेणियां हैं संघ की सरकार एवं राज्य सरकार। "भारत एक संघीय राज्य नहीं बल्कि एक संघीय राज्य है जिसके पास एक सहायक संघीय सिद्धांत हैं।"–के.सी.व्हीयर ''संघ पूर्णतः संघीय शासन व्यवस्था नहीं है, बल्कि एक अर्ध–संघीय शासन व्यवस्था है, जिसमें एकात्मकता के कुछ महत्वपूर्ण तत्व हैं।"–जी. एन. जोशी

भारतीय संविधान में 'संघ' शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है, लेकिन उपर्युक्त परिभाषाओं के सन्दर्भ में यह एक संघ राज्य है। भारतीय संविधान में संघात्मक व्यवस्था के सभी प्रमुख लक्षण विद्यमान है। डायसी के अनुसार, "एक संघीय राज्य अपना अस्तित्व उस लेख–पत्र से प्राप्त करता है जिसके द्वारा उसकी स्थापना हुई

है। संघीय राज्य में लिखित संविधान सर्वोच्च कानून होता है। संविधान के लिखित स्वरूप से संघीय मामलों में मतभेद होने की सम्भावना बहुत कम हो जाती है। साधारण कानूनों की तुलना में लिखित संविधान स्थायी होते हैं। संविधान के द्वारा सरकारों के संगठन और कार्यों का कानूनी और संवैधानिक आधार तथा संच और राज्यों के सम्बन्ध और क्षेत्राधिकार निर्धारित किए जाते हैं। अमरीकी संविधान की भांति यद्यपि भारतीय संविधान में यह घोषित नहीं किया गया है कि संविधान सर्वोच्च होगा, लेकिन फिर भी भारतीय संविधान इस देश का लिखित सर्वोच्च कानून है। इसके उपबन्ध सभी सरकारों पर बाध्यकारी हैं और किसी भी सरकार द्वारा संविधान का उल्लंघन नहीं किया जा सकता। भारत में कोई भी शक्ति संविधान के ऊपर नहीं है।

2.3.1 शक्तियों का विभाजन

अन्य संघों की भांति भारतीय संविधान द्वारा भी संघ और राज्यों के बीच शक्ति का विभाजन किया गया है। संविधान के इस अंश का निर्माण कनाडा के संघ की प्रेरणा पर आधारित है, परन्तु एक समवर्ती सूची और जोड़ की दी गई, जो ऑस्ट्रेलिया के संविधान की देन है। भारत में भी शक्ति–विभाजन तीन सूचियों के आधार पर किया गया है–

संघ सूची : संघ सूची में 97 विषय हैं, यह सूची तीनों सूचियों में विशाल है। इसके प्रमुख विषय इस प्रकार हैं–प्रतिरखा, सशस्त्र सेनाएं, अणुशक्ति, विदेशी कार्य, राजनयिक प्रतिनिधित्व, युद्ध एवं शान्ति, डाक, तार, बेतार, दूरभाष, संचार, सिक्का, टंकण, विदेशी विनिमय, विदेशी ऋण, भारत का रिजर्व बैंक, सीमाकर, इत्यादि–इत्यादि विषय जो संघ के लिए समान हित के थे तथा सम्पूर्ण देश को एकसूत्रता प्रदान करने के लिए आवश्यक हैं। इस सूची में वर्णित विषयों पर केवल संसद को ही विधि निर्माण है।

राज्य सूची : मूल संविधान के अन्तर्गत राज्य सूची में कुल 66 विषय रखे गए थे, लेकिन 42वें संवैधानिक संशोधन (1976) द्वारा राज्य सूची के चार विषय (शिक्षा, वन, जंगली जानवरों और पक्षियों की रक्षा तथा नाप–तौल) राज्य सूची से हटाकर समवती सूची में कर दिए गए। इसमें कुछ प्रमुख विषय है पुलिस, न्याय, जेल, स्थानीय स्वशासन, सार्वजनिक स्वास्थ्य, कृषि, सिचााई और सड़कें, आदि। राज्य सूची में शामिल विषयों के सम्बन्ध में कानून बनाने का अधिकार केवल राज्य विधानमण्डत को ही होता है।

समवर्ती सूचो : इस सूची में वे विषय रखे गए हैं, जिनका महत्व क्षेत्रीय और संघीय दोनों ही दृष्टियों से है। मूल संविधान के अनुसार इस सूची में 47 विषय थे, लेकिन 42वें संवैधानिक संशोधन द्वारा राज्य सूची के चार विषय समवर्ती सूची में शामिल कर दिए गए और एक नवीन विषय 'जनसंख्या नियन्त्रण और परिवार नियोजन' समवर्ती सूची में जोड़ा गया। इसमें कुछ प्रमुख विषय हैं: फौजदारी विधि और प्रक्रिया, निवारक निरोध, विवाह और विवाह–विच्छेद, कारखाने, श्रमिक संघ, औद्योगिक विवाद, सामाजिक सुरक्षा और सामाजिक बीमा, शिक्षा, जनसंख्या नियन्त्रण और परिवार नियोजन, आदि। समवती सूची के ये विषय केन्द्र तथा राज्य दोनों के ही क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत रखे गए हैं। इन विषयों पर पदि केन्द्रीय सरकार ने कोई व्यवस्थापन नहीं किया है तो राज्य के विधान–मण्डल कानून बना सकते हैं, किन्तु यदि संसद कभी भी कानून बना दे तो वह राज्य द्वारा पारित विधि को शून्य करने में सक्षम होगी।

स्वतन्त्र सर्वोच्च न्यायालय–भारतीय संविधान के संरक्षक के रूप में कार्य करने के लिए एक स्वतन्त्र सर्वोच्च न्यायालय की भी व्यवस्था की गई है। संविधान के द्वारा एक सर्वोच्च न्यायालय और राज्यों में उच्च न्यायालयों की भी व्यवस्था की गई है जिन्हें उन कानूनों की अवैधानिक घोषित करने का अधिकार है, जो संविधान के विरुद्ध हैं। ब्रो. के. बी. राब के शब्दों में, "इस दृष्टि से हमारा संविधान सोवियत संघ या स्विट्tjySण्ड के संविधान से अधिक संघात्मक है।"

संशोधन प्रणाली– भारतीय संविधान में संशोधन प्रणाली पूर्णतया संघीय प्रक्रिया के अनुरूप है। कतिपय संशोधन विधेयकों को राष्ट्रपति के समक्ष उनकी अनुमति के लिए प्रस्तुत करने से पूर्व कम–से–कम आधे राज्यों के विधानमण्डलों के संकल्प द्वारा स्वीकृति प्राप्त करना आवश्यक है। यदि आधे राज्यों के विधानमण्डलों की स्वीकृति प्राप्त न हो तो संविधान के अनेक महत्वपूर्ण अंशों में संशोधन नहीं किया जा सकता। उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारतीय संविधान एक पूर्ण संघात्मक प्रणाली की स्थापना करता है। भारतीय संघीय व्यवस्था के मुख्य–मुख्य विशेषताओं को निम्नलिखित बिन्दुओं के माध्यम से इंगित किया जा सकता है–

- संघीय सरकार और राज्यों के बीच शक्तियों का स्पष्ट विभाजन
- संविधान की सर्वोच्चता
- स्वतंत्र न्यायपालिका
- द्विसदनीय विधायिका
- दोहरी सरकार की राजनीति
- संविधान के द्वारा केंद्र सरकार और इकाइयों की सरकारों में शक्तियों का विभाजन
- लिखित और कठोर संविधान
- संविधान की व्याख्या करने का अंतिम अधिकार न्यायालयों के पास है
- संविधान के मुताबिक, विधायी, कार्यकारी, और वित्तीय अधिकार केंद्र और राज्यों के बीच बंटे हैं।

2.4. व्यवहार में भारतीय संघवाद की प्रकृति

भारत की राजनीतिक परिस्थितियों के साथ संघवाद के स्वरूप में भी परिवर्तन आता रहा है। भारत की संघ व्यवस्था को राजनीतिक तत्वों के बदलते परिप्रेक्ष्य में निम्न चार प्रकार से चित्रित किया जा सकता हैः (1) केन्द्रीकृत संघवाद का युग। (2) सहयोगी संघवाद का युग। (3) एकात्मक संघवाद का युग। (4) सौदेबाजी वाली संघ

2.4.1 केन्द्रीकृत संघवाद

भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में सन् 1950 से 1967 तक 'केन्द्रीकृत संघवाद का युग' कहा जा सकता है। सन् 1950 से 1964 तक का भारतीय राजनीति युग 'नेहरू युग' कहलाता है। इस युग में केन्द्र तथा राज्यों के सम्बन्ध मधुर बने रहे और इस दौर में बहुत गंभीर मतभेद उभरकर सामने नहीं आए। इस कारण व्यवहार में कुछ ऐसे राजनीतिक तथ्य उभरे जिन्होंने भारत में केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति को पनपने में मदद दी। केन्द्र में पं. नेहरू, सरदार पटेल जैसे नेता मौजूद थे। केन्द्र तथा राज्यों में कांग्रेस का एकछत्र शासन या, अतः मतभेदों को दल के संगठन स्तर पर ही हल कर लिया जाता था। नेहरू के व्यक्तित्व तथा नेतृत्य–शक्ति का कोई राज्य विरोध करने तथा कोई नेता मतभेद उत्पन्न करने का साहस नहीं करता था। योजना आयोग तथा राष्ट्रीय विकास परिषद् संघ तथा राज्यों के बीच तालमेल हेतु 'सुपर कैबिनेट' के रूप में कार्य कर रही थी और एक दल की प्रधानता के कारण इसके कार्यों को चुनौती नहीं दी जा सकती थी। इस काल में केन्द्रीकरण की सशक्त प्रवृत्तियों के परिणामस्वरूप भारतीय संघवाद राजनीतिक समन्वय और आर्थिक विकास के दोहरे उद्देश्यों की पूर्ति का साधन बना रहा।

2.4.2 सहयोगी संघवाद

इस दौर के संबंध में प्रमुख तथ्य यह रहा कि चतुर्थ आम चुनाव (1967) के पश्चात् शक्ति का सन्तुलन राज्यों की ओर झुका। कांग्रेस का एकछत्र शासन समाप्त हुआ, केन्द्र में नेहरू जैसा व्यक्तित्व नहीं रहा और राष्ट्रीय विकास परिषद् में अनेक दलों के मुख्यमन्त्री अपनी केन्द्र विरोधी आवाज बुलन्द करने लगे। राज्यों में नेहरू के बाद मुख्यमन्त्री शक्ति के केन्द्र बन गए और वे केन्द्र को प्रभावित करने लगे। कांग्रेस दल के विभाजन (1969) के पश्चात् लोकसभा में शासक दल अल्पमत में आ गया जिससे केन्द्रीय नेतृत्व को राज्यों की मांग के आगे झुकना पड़ा।

1967 के चुनावों के पश्चात संघ व राज्यों के पारस्परिक संवैधानिक सम्वन्धों के विषय में गंभीर मतभेद प्रारंभ हुए। मुख्य रूप से क्षेत्र एवं भाषा के प्रश्न को लेकर संघर्ष उत्पन्न हुए। केन्द्रीय रिजर्व पुलिस की लेकर मतभेद पैदा हुए और राज्यपालों की नियुक्ति का प्रश्न भी विवाद का कारण बन गया। केन्द्र और राज्यों के बीच विवादों के उपरान्त भी आपसी सहयोग बना रहा और सहयोगी संघवाद के युग का सूत्रपात देखा जा सकता है।

सहयोगी संघ की प्रमख विशेषता केन्द्र और राज्यों की सरकारों की एक–दूसरे पर निर्भरता है। इस व्यवस्था में केन्द्र सरकार शक्तिशाली तो होती है, किन्तु राज्य सरकारें भी अपने क्षेत्र में कमजोर नहीं होती। चौथे आम

चुनाव के पश्चात् प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी को मद्रास के बी अन्नादुराई, उड़ीसा के आर. एन. सिंहदेव, उत्तर प्रदेश के चरणसिंह तथा पंजाब के गुरुनामणिव जैसे गैर–कांग्रेसी मुख्यमन्त्रियों का विश्वास प्रास करने में सफलता मिली। यहां तक कि अक्सर ये मुख्यमन्त्री अपनी कठिनाइयों में और अपने साझेदारों में मतभेद पैदा होने पर उनसे सलाह लेते थे।

2.4.3 एकात्मक संघवाद

एकात्मक संघीय व्यवस्था की शुरूआत सन् 1971 के पंचम लोकसभा के निर्वाचन तथा 1972 के राज्य विधानसभाओं के निर्वाचन से माना जा सकता है। जनवरी 1980 के लोकसभा एवं बाद के विधानसभा चुनावों से दो तथ्य उभरे प्रथम, भारतीय राजनीति में श्रीमती गांधी और संजय गांधी ही सर्वमान्य नेता हैं तथा द्वितीय, कांग्रेस दल ही जनता का नेतृत्व कर सकता है। इससे शक्ति का सन्तुलन केंद की ओर झुक गया। जिस द्रुतगति से संविधान में संशोधन किए गए उससे ती ऐसा प्रतीत होने लगा कि भारत एकात्मकता की और उन्मुख हो रहा है। जून 1975 से मार्च 1977 तक तो भारतीय राज्य एकात्मक राज्य में परिवर्तित कर दिया गया था। समूची शक्तियां केन्द्रीय सरकार के हाथों में आ गई। राज्यों के मुख्यमन्त्रियों की स्थिति केन्द्रीय सरकार के सूबेदार जैसी हो गई। आपातकाल के दौरान मुख्यमन्त्रियों का एक पैर अपने राज्य में रहता था तथा दूसरा दिल्ली में। बहुगुणा और नन्दिनी सत्पथी जैसे कांग्रेस मुख्यमन्त्रियों को केन्द्र के इशारे पर हटना पड़ा। जनवरी 1976 में तमिलनाडु में और मार्च 1976 में गुजरात में राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया। तमिलनाडु में द्रविड़ मुनेत्र कड़गम और गुजरात में जनता मोर्चे का शासन था। इन सभी बातों से स्पष्ट होता है कि भारतीय राजनीति में यह दौर एक दल प्रधान व्यवस्था के लक्षणों को इंगित करता है।

2.4.4 सौदेबाजी वाली संघ व्यवस्था

छठे आम चुनों के परिणामों से भारतीय राजनीति में आमूलचूल परिवर्तन आया। केन्द्र में जनता पार्टी की सरकार स्थापित हुई और राज्यों में विविध दलों की सरकारों की स्थापना हुई। उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश, उड़ीसा, दिल्ली, राजस्थान, हरियाणा व हिमाचल प्रदेश में जनता पार्टी सत्ता में आई। पंजाब में जनता व अकाली दल, पश्चिमी बंगाल में मार्क्सवादी दल, तमिलनाडु व पाण्डिचेरी में अन्नाद्रमुक, कश्मीर में नेशनल कान्फ्रेंस, केरल में साम्यवादी दल के नेतृत्व वाली सरकार, कर्नाटक और आन्ध्र प्रदेश में कांग्रेसी सरकारें पदासीन थीं। केन्द्र की जनता सरकार एक दुर्बल सरकार थी क्योंकि या विभिन्न घटकों से बनी एक गठबंधन सरकार के समतुल्य थी। अतः राज्यों की सरकारों ने सौदेबाजी करने का अनवत प्रयत्न किया। यहां तक कि कतिपय गैर–जनता पार्टी राज्य सरकारों ने 'राज्य–स्वायत्तता' का नारा बुलन्द किया। वित्तीय स्रोतों के वितरण की लेकर पश्चिम बंगाल की मार्क्सवादी सरकार ने सदैव केन्द्रीय सरकार से दबाव एवं सौदेबाजी की भाषा में बातचीत करने का प्रयल किया। 1989–2009 के निर्वाचनों से यह इंगित होता है कि भारत में संघ व्यवस्था का 'सौदेबाजी वाला प्रतिमान' ही कार्यरत है। विश्वनाथ प्रताप सिंह (1989), चन्द्रशेखर (1990), पी. वी. नरसिंहराव (1991), श्री एच. डी. देवेगौड़ा (1996), श्री इन्द्रकुमार गुजराल (1997), अटल बिहारी वाजपेयी (1998 एवं 1999) तथा डॉ. मनमोहन सिंह (2004 एवं 2009) के नेतृत्व में बनने वाली सभी केन्द्रीय सरकारें अल्पमतीय सरकारें थीं जिन्हें सत्ता में बने रहने के लिए उन दलों का सहारा लेना पड़ा जो राज्यों में शक्ति के पुंज हैं। अनेक राज्यों में क्षेत्रीय दलों की सरकारें सत्तारूढ़ है जिनके कन्धों पर केन्द्रीय सरकार टिकी हुई है और अनेक मसलों पर वे केन्द्र से सौदेबाजी करने से नहीं हिचकिचाते।

2.5 भारतीय संघवाद की नवीन प्रवृत्तियाँ

भारत में होने वाले चुनावों के परिणामों ने भारतीय लोकतंत्र की दिशा को तय किया है। चुनाव परिणामों ने संविधान के मूल्यों को प्राप्ति के साथ–साथ भारतीय संघवाद के ढांचे को प्रभावित किया है। केन्द्र में सरकारों की स्थितियों का सीधा–सीधा प्रांतीय सरकारों पर पड़ता ही है किन्तु भारतीय संघीय ढांचे में संघ का कितना हस्तक्षेप है इसका निर्धारण केन्द्र में बनने वाली सरकारों पर निर्भर रहा है।

राजनीतिक मापदण्डों पर अगर भारत की शासकीय व्यवस्था का मूल्यांकन करें तो हमें चर्चा प्रथम चुनावी राजनीति से लेकर वर्तमान के 2014 में हुए आम चुनाव तक करनी होगी। प्रथम आम चुनाव अर्थात् 1952 से लेकर 2014 तक भारतीय संघीय व्यवस्था एवं व्यावहारिकता के बीच कभी सामंजस्य तो कभी टकराव देखने को मिला है। इन्हीं घटनाक्रमों के समानान्तर इकाईयों एवं उनके संघ अर्थात् भारत की शासकीय व्यवस्था बदलती

रही है।

2.5.1 नीति आयोग

15 मार्च 1950 में बने योजना आयोग के स्थान पर नीति आयोग का गठन 1 जनवरी 2015 को केंद्रीय मंत्रिमंडल के एक प्रस्ताव के माध्यम से किया गया। नीति आयोग व शासी परिषद, जिसमें सभी राज्यों और केंद्र शासित प्रदेशों के मुख्यमंत्री और अन्य केंद्र शासित प्रदेशों के उपराज्यपाल शामिल हैं जो कैबिनेट सचिवालय द्वारा एक अधिसूचना के माध्यम से 16 फरवरी 2015 को लागू हुआ। कैबिनेट सचिवालय द्वारा 19 फरवरी 2021 की अधिसूचना के तहत गवर्निंग काउंसिल का पुनर्गठन किया गया था। नीति आयोग के गठन के साथ ही 65 वर्षों से चली आ रही योजना आयोग का अस्तित्व समाप्त हो गया है। दरअसल योजना आयोग अपने उद्देश्य में कभी भी उस प्रकार से सफल नहीं रहा जिसे लेकर इसका निर्माण किया गया था। केन्द्र और राज्य सरकारों के बीच इसे लेकर विभिन्न प्रकार के मतभेद रहे हैं। केन्द्र और राज्यों के बीच वित्तीय मामलों को लेकर अनेकों बार टकराव की स्थिति बनी। बहुत सारे राज्यों के द्वारा यह आरोप लगयाा कि योजना आयोग ने 65 वर्षों के अपने कार्यकाल में केवल 12 पंचवर्षीय योजना और 60 वार्षिक योजनाओं को बनाने के अतिरिक्त कुछ नहीं किया।

2.5.2 जीएसटी का भारतीय संघवादी आदर्श पर प्रभाव

जीएसटी 1 जुलाई 2017 को एक देश एक कर की भावना को ध्यान में रखकर किया गया था जिससे निर्माताओं, उत्पादकों, निवेशकों और उपभोक्ताओं के हितार्थ वस्तुओं और सेवाओं का स्वतंत्र परिचालन हो सके। यह सहकारी संघवाद की भावना के अनुरूप केन्द्र और राज्य सरकारों को कराधान की समवर्ती शक्तियां प्रदान करती है। संविधान के 101वें संशोधन 2016 में माल एवं सेवा कर से संबंधी प्रावधानों को शामिल किया गया है। संघ और राज्यों (जिसमें संघ और राज्यों के विधानमण्डल सहित संघ–राज्य भी हैं) को वस्तुओं या सेवाओं या दोनों के प्रदाय के प्रत्येक संव्यवहार पर 'वस्तु एवं सेवा' कर–संग्रहण की विधियां बनाने की समवर्ती कर दायक शक्तियां देने हेतु माल एवं सेवा कर को प्रारंभ करने के लिए यह संशोधन किया गया।

वस्तु एवं सेवा कर के अंतर्गत सहकारी संघवाद की भावना के साथ केन्द्र एवं राज्य दोनों ने अपनी कुछ कराधान की शक्ति का परित्याग किया। वस्तु एवं सेवा कर व्यवस्था में केन्द्र द्वारा पहले लगाए जा रहे उत्पाद एवं सेवा कर जैसे करों को तथा राज्यों द्वारा पूर्व में लगाए जा रहे बिक्री व मनोरंजन करों को जीएसटी में सम्मिलित कर इसे सहकारी व्यवस्था के अंतर्गत लाने की कोशिश की गई। कराधान की समवर्ती शक्तियों का निर्धारण किया गया है। संघवाद की संरचना अपनाए जाने के वजह से भारत में केन्द्र एवं राज्य दोनों को समुचित विधानों के माध्यम से कर आरोपित करने तथा कर उगाही की शक्तियां प्रदान की गई है। संविधान में सातवीं अनुसूची में उल्लिखित शक्तियों के बटवारे के अनुसार केन्द्र एवं राज्य दोनों स्तर की सरकारों के अलग–अलग अधिकार एवं दायित्व का निर्धारण किया गया है। अतः राजस्व संबंधी संघवाद की संवैधानिक आवश्यकता–दोहरे जीएसटी प्रारंभ करने के लिए संविधान में आवश्यक संशोधन करने की जरूरत पड़ी जिससे केन्द्र व राज्य दोनों को ही इस कर को लगाने और एकत्र करने के लिए सशक्त किया जा सके।

जीएसटी व्यवस्था लागू होने के पश्चात् केन्द्र द्वारा केन्द्रीय वस्तु एवं सेवा कर (Central GoodsAnd Service Tax- CGST) अर्थात् इससे प्राप्त आय केन्द्र सरकार के राजस्व का भाग है तथा संयुक्त वस्तु एवं सेवा कर (Integrated GoodsAnd Service Tax- IGST) का उगाही और एकत्रीकरण किया जाता है। संयुक्त वस्तु एवं सेवा कर के अंतर्गत एकत्रित राजस्व केन्द्र व राज्य सरकारों के मध्य पहले से निर्धारित दरों पर बाटा जाता है। संयुक्त वस्तु एवं सेवा कर उन वस्तुओं और सेवाओं पर लागू है जिनका हस्तांतरण एक राज्य से दूसरे राज्य में किया जाता है। जीएसटी से पहले लागू 17 अप्रत्यक्ष करों (8केन्द्रीय एवं 9 राज्य स्तरीय कर) तथा 23 उपकरों का प्रतिस्थापन किया गया है।

सहकारी संघवाद की स्थापना के दृष्टिकोण से वस्तु एवं सेवा कर को लागू करने का मुख्य उद्देश्य यह था कि करारोपण के पहले की संरचना में अप्रत्यक्ष करों के अधिकार को लेकर केन्द्र एवं राज्य सरकारों के बीच अस्पष्टता के कारण केन्द्र–राज्य के बीच वित्तीय अंतर्विरोध सामने आता है वह समाप्त होगा। केन्द्र तथा राज्य सरकारों दोनों के लिए ही इसे भविष्य में लाभकारी माना गया है। वस्तु और सेवा कर व्यवस्था को लागू करने के उपरान्त होने वाले लाभों में शामिल है–सरल एवं आसान कर प्रशासन, केन्द्र एवं राज्यों में प्रचलित बहुआयामी अप्रत्यक्ष करों के व्यवस्था के स्थान में मजबूत सूचना प्रौद्योगिकी प्रणाली पर आधारित समान कर

व्यवस्था, व्यापारियों के कर अनुपालन में प्रोत्साहन, कर उद्ग्रहण की लागत में कमी आने से अधिक राजस्व निपुणता, कर संरचना में विसंगतियों से मुक्ति, कर संग्रहण की सहकारी शासन व्यवस्था स्थापित होने से सहकारी संघवाद को बढ़ावा मिलना आदि है।

2.5.3 भारतीय संघवाद और नागरिकता से संबंधित हालिया विवाद

भारत में नागरिकता की संबंधी प्रावधान संविधान के भाग II के अंतर्गत अनुच्छेद 5–11 में किया गया है। नागरिकता संघ सूची का विषय है जिस पर कानून बनाने का अधिकार केन्द्रीय संसद को प्राप्त है। संसद द्वारा पारित 1955 नागरिकता संबंधी कानून में भारत की नागरिकता को प्राप्त करने के तरीकों का विवरण दिया गया था जिसमें समय समय पर संशोधन किए जाते रहे हैं। इन संशोधनों में मुखतः 1986, 1992, 2003, 2005, 2015 प्रमुख हैं। वर्तमान में नागरिकता संशोधन कानून 2019 (12 दिसम्बर 2019 को लागू) पारित किया गया। जिसमें नागरिकता संबंधी जो प्रावधान किए गए उनमें अफगानिस्तान, बांग्लादेश और पाकिस्तान से आए हिन्दू, सिक्ख, बौद्ध, जैन, पारसी और ईसाई धर्म को मानने वाले अल्पसंख्यकों को भारतीय नागरिकता किन्हीं शर्तों पर प्रदान करने की बात कही गई है। नागरिकता प्राप्ति संबंधी पूर्ववर्ती प्रावधानों में बदलाव किए गए। जिनमें मुख्य रूप से यह कहा गया है 31 दिसम्बर 2014 तक आने वाले उक्त अल्पसंख्यकों को जो न्यूनतम 5 वर्ष की अवधि पूरी कर चुकें है (1955 के नागरिकता कानून में यह अवधि 11 वर्ष थी) उन्हें नागरिकता दिए जाने की बात कही गई है।

नागरिकता संशोधन कानून 2019 के संदर्भ में विवाद का मुख्य मुद्दा या क्षेत्र यह है कि इसमें धार्मिक आधार पर अल्पसंख्यकों को परिभाषित किया गया है किन्तु मुस्लिम समुदाय को इसके अंतर्गत शामिल नहीं किया गया है। साथ ही इस कानून पर कुछ अन्य आक्षेप लगाए गए हैं जिनमें अनुच्छेद 14 और 15 का उल्लंघन, भारत की पंथनिरपेक्षता पर प्रश्नचिन्ह और साथ ही असम समझौता (15 अगस्त, 1985) का उल्लंघन इत्यादि। केन्द्र और राज्यों के बीच उक्त प्रावधान विवाद का मुख्य मुद्दा बना

नागरिकता (संशोधन) अधिनियम (सीएए) और राष्ट्रीय नागरिक रजिस्टर (एनआरसी) के आसपास के हालिया राजनीतिक घटनाक्रमों ने भारतीय संघवाद की कुछ सबसे महत्वपूर्ण दरारों का खुलासा किया है। विरोध प्रदर्शन शुरू होने के तुरंत बाद, विपक्षी दलों या भारतीय जनता पार्टी (भाजपा) के सहयोगियों के कब्जे वाली कई राज्य सरकारों ने घोषणा की कि वे कानून को लागू नहीं करेंगे। इसके अलावा, कुछ हद तक अभूतपूर्व कदम में, केरल की विधान सभा एक प्रस्ताव पारित करने की हद तक चली गई, जिसमें कहा गया था कि कानून 'संविधान के बुनियादी मूल्यों और सिद्धांतों के विपरीत है'। वास्तव में, संकल्प केवल प्रतीकात्मक है, और इसका कोई कानूनी प्रभाव नहीं है। और, हालांकि इस तरह के किसी भी प्रस्ताव के पारित होने पर संवैधानिक रूप से रोक नहीं है, यह संविधान के तहत संघीय योजना के अनुरूप नहीं हो सकता है।

संविधान का अनुच्छेद 256 राज्य सरकार को संसद द्वारा बनाए गए कानूनों के कार्यान्वयन को सुनिश्चित करने के लिए बाध्य करता है। यदि राज्य सरकार ऐसा करने में विफल रहती है, तो भारत सरकार को 'किसी राज्य को ऐसे निर्देश देने का अधिकार है जो आवश्यक प्रतीत हो'। केंद्र द्वारा निर्देश जारी करने के बाद भी कानून को लागू करने से इनकार करने पर राष्ट्रपति को उन राज्यों में अनुच्छेद 356 और 365 के तहत राष्ट्रपति शासन लगाने का अधिकार मिल जाएगा। भारत के सर्वोच्च न्यायालय ने भी एस.आर. बोम्मई बनाम भारत संघ वाद में इसकी पुष्टि की है। निश्चित रूप से यह भारतीय संघवाद पर सबसे महत्वपूर्ण मामला माना जा सकता है।

नागरिकता संशोधन कानून से संबंधित पश्चिम बंगाल में एक और विवाद खड़ा हो गया, जहाँ राज्य सरकार ने अपनी वेबसाइटों पर सीएए विरोधी विज्ञापन डाल दिए। जिसका संदर्भ लेते हुए, कलकत्ता उच्च न्यायालय ने एक अंतरिम आदेश देते हुए राज्य सरकार को उन विज्ञापनों को हटाने का निर्देश दिया। सवाल यह है कि क्या राज्य सरकारों को संसद द्वारा बनाए गए कानून के खिलाफ प्रचार करने के लिए सार्वजनिक धन के उपयोग का अधिकार है? अपने अंतिम फैसले में, उच्च न्यायालय राज्य सरकार को संसदीय कानून के खिलाफ प्रचार करने से रोक सकता है। इसलिए, न तो राज्य इस कानून को लागू करने से इनकार कर सकता है और न ही राज्य सरकारों द्वारा पंजीकृत आधिकारिक विरोधों में अधिक कानूनी बल है। हालाँकि, यदि हम उस आधार को देखने में विफल रहते हैं जिसके कारण कुछ राज्य सरकारों की ओर से केंद्र में एक प्रमुख पार्टी का उदय हुआ है, तो हम पेड़ों के लिए जंगल को याद कर रहे हैं। राजनीतिक विश्लेषकों ने चुनावी राजनीति

के लिए भारतीय जनता पार्टी (भाजपा) के प्रभुत्व के बढ़ने का क्या मतलब है, इस पर विभिन्न बारीकियां पेश की हैं। हालांकि, हमारे संवैधानिक ढांचे के कामकाज पर एक दल के प्रभुत्व के प्रभाव पर बहुत कम ध्यान दिया गया है। उदाहरण के लिए, संसद, जिसे 'लोकतंत्र का मंदिर' कहा जाता है, को प्रक्रियात्मक औपचारिकताओं के लिए एक वेबसाइट तक सीमित कर दिया गया है।

2.5.4 राज्यपाल की भूमिका को लेकर उभरते विवाद (2014 के बाद की अवस्था)

लगातार दो राष्ट्रीय चुनावों (2014 और 2019) और कई राज्यों के चुनावों में अपनी प्रभावशाली जीत से भाजपा की चुनावी ताकत कई गुना बढ़ गई है। 2014 में, भाजपा कांग्रेस के वोट बैंक में सेंध लगाने में सक्षम थी। लेकिन 2019 में उसने उन राज्यों, में भी काफी पैठ बनाई जहां शक्तिशाली क्षेत्रीय दल सत्ता में हैं। दूसरा, मध्य प्रदेश और उत्तर प्रदेश जैसे राज्यों में, कर्नाटक जिसमें भाजपा कम अंतर से सरकार नहीं बना सकी, विधायकों के दलबदल ने उसे सत्ता पर कब्जा करने में मदद की।, तीसरा, एक बार फिर विपक्ष शासित राज्यों में राज्यपाल की भूमिका विवादास्पद हो गई। इस अवधि में अरुणाचल प्रदेश, उत्तराखंड और जम्मू–कश्मीर जैसे राज्यों में राष्ट्रपति शासन की घोषणा ने एक बार फिर मजबूत केंद्र सरकार के केंद्रीकरण के इरादों को उजागर किया। गोवा, मणिपुर और महाराष्ट्र जैसे राज्यों में सरकार के गठन में राज्यपाल की भूमिका ने केंद्र में सत्तारूढ़ दल के लिए राज्यपाल की वरीयता पर सवाल उठाया।

संविधान राज्यपाल को मुख्यमंत्री से प्रशासनिक मामलों की जानकारी मांगने का अधिकार देता है। इस प्रावधान पर संविधान सभा में सारगर्भित बहस हुई और कुछ सदस्यों ने इसे बहुत अधिक गंभीर भी कहा, क्योंकि इससे राज्य की दिन–प्रतिदिन की राजनीति में राज्यपाल के हस्तक्षेप का द्वार खुल जाएगा। डॉ. अम्बेडकर ने इस पर अपनी आशंकाएं स्पष्ट रूप से व्यक्त की कि 'संविधान के तहत राज्यपाल के पास कोई कार्य नहीं है जिसे वह स्वयं निर्वहन कर सकता है। जबकि राज्यपाल को किसी विशेष मामले पर मंत्रालय पर शासन करने की शक्ति प्रदान नहीं करता है, उसके पास कुछ कर्तव्यों का पालन करने के लिए सबसे महत्वपूर्ण है कि उसे मंत्रालय को सलाह देना, मंत्रालय को चेतावनी देना, मंत्रालय को एक विकल्प सुझाने और पुनर्विचार के लिए कहने से संबंधित है। अच्छे और शुद्ध प्रशासन के लिए राज्यपाल को ऐसे कर्तव्यों का पालन करने की आवश्यकता होती है।'

भारतीय राजनीति में राज्यपाल की भूमिका को लेकर उठने वाले विवादों को 2014 के बाद से उन घटनाओं के आलोक में देखा जा सकता है। राज्यों में होने वाले चुनावों और उसके परिणामों की घोषणा के बाद अनिश्चित जनादेश की अवस्था में ऐसे बहुत से मामलों को इसके अंतर्गत समझा जा सकता है। इन मामलों में यहां उन मुख्य घटनाक्रमों का विवरण देना अपरिहार्य है जिससे भारतीय संघवादी राजनीति की भावना से संबंधित राज्यपाल की भूमिक संदिग्ध देखी गई।

18 मार्च 2016 को, उत्तराखंड में कांग्रेस की हरीश रावत सरकार तब संकट में पड़ गई, जब नौ विधायकों ने भाजपा के साथ हाथ मिलाया, जिसने सरकार बनाने का दावा पेश किया। अगले दिन राज्यपाल से मिले के. के. पॉल ने मुख्यमंत्री से 28 मार्च तक बहुमत साबित करने को कहा। विश्वास मत से एक दिन पहले अध्यक्ष ने नौ विधायकों को अयोग्य घोषित कर दिया। केंद्र की एनडीए सरकार ने राज्यपाल की सिफारिश पर रावत को बहुमत साबित करने का मौका दिए बिना उसी दिन राष्ट्रपति शासन लगा दिया। मामला अदालत में गया और अप्रैल में उत्तराखंड उच्च न्यायालय ने राष्ट्रपति शासन लगाने को रद्द कर दिया और रावत को बहुमत साबित करने के लिए कहा, जो उन्होंने किया।

इसी प्रकार 2017 में, गोवा में विधानसभा चुनावों के बाद, कांग्रेस 17 सीटों (40 में से) के साथ सबसे बड़ी पार्टी के रूप में उभरी, जबकि भाजपा के पास 13 सीटें थी। लेकिन राज्यपाल मृदुला सिन्हा ने भाजपा को आमंत्रित किया, जिसने कुछ क्षेत्रीय दलों के साथ चुनाव के बाद गठबंधन किया था और भाजपा ने निर्दलीय दलों के साथ मिलकर सरकार बनाई। मणिपुर में भी, कांग्रेस 60 सदस्यीय सदन में 28 सीटों के साथ सबसे बड़ी पार्टी के रूप में उभरी, लेकिन राज्यपाल नजमा हेपतुल्ला ने समर्थन करने वाले विधायकों की सूची प्रस्तुत करने के बाद सबसे पहले भाजपा को आमंत्रित किया। ऐसा ही मामला कर्नाटक में 2018 के चुनावों में देखा गया, भाजपा सबसे बड़ी पार्टी के रूप में उभरी, लेकिन 224 में से आधे से आठ सीटें कम रह गईं। कांग्रेस ने नाटकीय रूप से भाजपा को बाहर रखने के लिए जद (एस) के साथ चुनाव के बाद गठबंधन की घोषणा की। राज्यपाल वजुभाई वाला ने भाजपा के बी.एस. येदियुरप्पा को आमंत्रित किया और उन्हें बहुमत साबित करने के

लिए 15 दिन का समय दिया जिसके बाद येदियुरप्पा ने 17 मार्च को शपथ ली थी। कांग्रेस सुप्रीम कोर्ट पहुंची, जिसने दिए गए समय में कटौती की और येदियुरप्पा को 19 मई को बहुमत साबित करने के लिए कहा। बहुमत प्राप्त करने में असमर्थता को समझकर, उन्होंने फ्लोर टेस्ट दिए बिना इस्तीफा दे दिया। महाराष्ट्र में 2019 साल अक्टूबर में हुए विधानसभा चुनाव में त्रिशंकु जनादेश आया था। परिणाम के 15 दिन बाद भी एक स्थिर सरकार के गठन की संभावनाओं के सामने नहीं आने के कारण, राज्यपाल भगत सिंह कोश्यारी ने राष्ट्रपति शासन की सिफारिश की, जिसे लागू किया गया। कांग्रेस, शिवसेना और राकांपा ने चर्चा शुरू की और 22 नवंबर को शिवसेना प्रमुख उद्धव ठाकरे के मुख्यमंत्री के रूप में सरकार बनाने का दावा करने के लिए एक समझौता हुआ। किन्तु भगत सिंह कोश्यारी ने देवेंद्र फडणवीस को 23 नवंबर को सुबह 8 बजे मुख्यमंत्री के रूप में शपथ दिलाई, साथ ही एनसीपी नेता अजीत पवार को डिप्टी सीएम बनाया गया थे। दिलचस्प बात यह है कि यह उस दिन सुबह 5.47 बजे राष्ट्रपति शासन रद्द करने के बाद ऐसा किया गया। राज्यपाल ने दोपहर 12.30 बजे निरस्तीकरण की सिफारिश करते हुए एक रिपोर्ट सौंपी थी।

2.5.5 भारतीय संघवाद के समक्ष कोरोना के रूप में नवीन चुनौती

2020 में भारतीय संघवाद के समक्ष एक नवीन चुनौती तब उभरी जब पूरी दुनियां कोरोना* नामक वैश्विक महामारी की चपेट में आ गया। इस चरण में संघवाद के लिए सबसे महत्वपूर्ण क्षण COVID- 19 संकट के प्रबंधन में जमीनी स्तर पर राज्य सरकारों की महत्वपूर्ण भूमिका का खुलासा है। प्रारंभिक चुनौतियों के बाद, केंद्र सरकार ने राज्यों को उनकी स्वास्थ्य सुविधाओं को मजबूत करने, स्थानीय लॉकडाउन के प्रबंधन और महामारी के प्रभाव को कम करने के लिए सामाजिक सुरक्षा उपायों को लागू करने के लिए पर्याप्त स्थान और स्वायत्तता प्रदान की। चूंकि स्वास्थ्य एक राज्य का विषय बना हुआ है, राज्यों ने ज्यादातर मामलों में केंद्र सरकार के साथ अपने राजनीतिक समीकरण की परवाह किए बिना अपने अधिकार क्षेत्र में स्वास्थ्य सेवा प्रदाताओं और शासन प्रदाताओं के मुख्य एजेंट के रूप में काम किया, जिसमें केंद्र ने समन्वय की भूमिका निभाई।

कोरोना के वैश्विक महामारी की अवस्था में राज्यों के साथ केन्द्र के संबंधों में अनेक प्रकार की जटिलता को देखा गया। राज्य पहले से ही वित्तीय मामलों में केन्द्र पर निर्भरता के कारण विकास के विभिन्न कार्यक्रमों को पूरा करने में कठिनाई का सामना कर रहे थे। इस आपदा के कारण केन्द्र द्वारा समय रहते वित्तीय सहायता न करने के आरोप राज्यों द्वारा लगाए गए साथ ही जीएसटी के अंतर्गत निर्गत किए जाने वाले फण्ड में भी केन्द्र ने कटौती कर राज्य को स्वयं से कोरोना महामारी से निपटने के लिए राजस्व की व्यवस्था करने को कह दिया गया। किन्तु यह बात पूरी तरह से सत्य नहीं है क्योंकि केन्द्र सरकार द्वारा बहुत हद तक राज्यों को राजस्व मुहैया कराने की कोशिश की है। किन्तु राज्य सरकारों के आरोप को भी निराधार नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि केन्द्र सरकार ने उन राज्यों को अधिक और समय रहते आर्थिक सहायत प्रदान किया जिन राज्यों में उनके राजनीतिक दल की सरकार थी। अब हम अगर इस संदर्भ में भाजपा के क्षेत्रीय दलों से संबंधित राजनीति को देखे तो इसे बेहतर तरीके से समझा जा सकता है।

इस चरण में, चूंकि भाजपा राष्ट्रीय स्तर पर भारत में प्रमुख पार्टी बनी हुई है, इसलिए राज्य और क्षेत्रीय स्तर पर राजनीतिक विरोध बना हुआ है। हालाँकि, जैसा कि भाजपा कई राज्यों में सत्ता पर काबिज है, या तो अपने दम पर या गठबंधन में, केंद्र सरकार के प्रभुत्व के लिए क्षेत्रीय राजनीतिक दल पिछले चरण की तुलना में काफी कमजोर साबित हुए हैं। राष्ट्रीय राजनीतिक शक्ति के प्रभुत्व के बावजूद, क्षेत्रीय दलों के साथ–साथ राज्यों में कांग्रेस पार्टी के क्षेत्रीय नेताओं द्वारा प्रतिरोध उनके राजनीतिक अस्तित्व के लिए महत्वपूर्ण है क्योंकि कांग्रेस अब राष्ट्रीय स्तर पर बहुत ही कमजोर हो गई है। चूंकि क्षेत्रीय ताकतों के पास अंतिम चरण के विपरीत गठबंधन करने के लिए एक वैकल्पिक राष्ट्रीय दल नहीं है, इसलिए उन्होंने अपने–अपने राज्यों में भाजपा को चुनौती देने के लिए इसे अपने ऊपर ले लिया है। लेकिन बीजेपी राज्यों और केंद्र सरकार दोनों में राजनीतिक सत्ता साझा करने के लिए क्षेत्रीय ताकतों को समायोजित और सहयोजित करके 'इंद्रधनुष गठबंधन' या 'एक नई सामाजिक ताकत' बनाने की अपनी क्षमता प्रदर्शित कर रही है। यह भारतीय संघवाद की प्रकृति को काफी हद तक

*The COVID-19 pandemic, also known as the coronavirus pandemic, is an ongoing global pandemic of coronavirus disease 2019 (COVID-19), which is caused by severe acute respiratory syndrome coronavirus 2 (SARS-CoV-2). The virus was first identified in December 2019 in Wuhan, China. The World Health Organization declared a Public Health Emergency of International Concern on 30 January 2020, and later declared a pandemic on 11 March 2020.

प्रभावित कर सकता है। हालांकि, जैसा कि प्रवृत्ति से पता चलता है, भाजपा के राष्ट्रीय राजनीतिक प्रभुत्व के युग में भी, इसे राज्यों से कुछ प्रतिस्पर्धा और चुनावी चुनौती का सामना करना पड़ा है, हालांकि सीमित तरीके से। यद्यपि क्षेत्रीय दल राष्ट्रीय राजनीति को उस तरह प्रभावित करने में असमर्थ हैं जिस तरह से उन्होंने तीसरे चरण में किया था, ये क्षेत्रीय ताकतें राज्य–स्तरीय राजनीतिक प्रतियोगिता में राष्ट्रीय सत्ताधारी दल के लिए एक चुनौती पेश कर रही हैं। हालाँकि, इस चरण में भाजपा का राजनीतिक उदय यकीनन भारत में नई चौथी पार्टी प्रणाली की शुरुआत का प्रतीक है, संघ पर राज्यों के दावे की अपनी चुनौतियाँ होंगी। चूंकि यह चरण भाजपा द्वारा क्षेत्रीय दलों की सहयोग की राजनीति की प्रमुखता का गवाह है, इसलिए राष्ट्रीय संघवाद का एक नया पैटर्न भारतीय राजनीतिक विमर्श को आकार दे रहा है। इस संदर्भ में, यह देखना और भी महत्वपूर्ण होगा कि क्या इस चरण में भारत में संघीय गतिशीलता अधिक सहकारी, समायोज्य या जबरन मोड़ लेगी।

2.6 सारांश

भारतीय संघीय प्रणाली एक मजबूत एकात्मक पूर्वाग्रह के साथ संघवाद का एक अनूठा मिश्रण है, जिसे राष्ट्रीय एकता और शासन दक्षता सुनिश्चित करते हुए देश की विशाल विविधता को समायोजित करने के लिए डिज़ाइन किया गया है। यह संवैधानिक प्रावधानों के माध्यम से केंद्र और राज्य सरकारों के बीच शक्तियों के स्पष्ट विभाजन की विशेषता है, जो राज्यों के बीच सहयोग और प्रतिस्पर्धा दोनों को बढ़ावा देता है। संघीय प्रणाली होने के बावजूद, केंद्र सरकार के पास महत्वपूर्ण अधिकार होते हैं, खासकर आपात स्थितियों या संकटों के दौरान, जो भारत की राजनीतिक संरचना की "अर्ध–संघीय" प्रकृति को दर्शाता है।

भारतीय संघीय प्रणाली ने एक विविध और बहुलवादी समाज द्वारा उत्पन्न जटिल चुनौतियों का सफलतापूर्वक प्रबंधन किया है। यह क्षेत्रीय स्वायत्तता की अनुमति देता है, राज्य के हितों की रक्षा करता है, साथ ही साथ राष्ट्र की अखंडता सुनिश्चित करता है। सहकारी संघवाद को अपनी नींव के रूप में रखते हुए, यह प्रणाली राष्ट्रीय विकास के लिए केंद्र और राज्यों के बीच सहयोग को बढ़ावा देती है, जिससे यह एक लचीला और अनुकूलनीय शासन मॉडल बन जाता है। इस प्रकार, भारतीय संघीय प्रणाली एक व्यावहारिक दृष्टिकोण है जो विविधता में एकता सुनिश्चित करते हुए, मजबूत केंद्रीय प्राधिकरण की आवश्यकता को विकेंद्रीकरण के महत्व के साथ संतुलित करता है।

2.7 शब्दावली

संघवाद– एक ऐसी शासन प्रणाली जिसमें सत्ता का विभाजन केंद्र और राज्य सरकारों के बीच होता है, और दोनों स्वतंत्र रूप से अपने–अपने अधिकार क्षेत्र में कार्य करते हैं।

संविधान–देश का सर्वोच्च कानून, जिसमें केंद्र और राज्य सरकारों के बीच शक्तियों और कर्तव्यों का विभाजन स्पष्ट किया गया है।

केंद्र–राज्य संबंध–केंद्र और राज्य सरकारों के बीच राजनीतिक, प्रशासनिक, और वित्तीय संबंध जो संविधान के तहत निर्धारित होते हैं।

शक्तियों का विभाजन–संविधान में केंद्र और राज्य के बीच शक्तियों का वितरण, जिसे तीन सूचियों में विभाजित किया गया हैकृकेंद्रीय सूची, राज्य सूची, और समवर्ती सूची।

राज्यपाल–राज्य में केंद्र सरकार का प्रतिनिधि, जिसकी नियुक्ति केंद्र सरकार करती है और जो राज्य की कार्यपालिका का प्रमुख होता है।

वित्त आयोग–एक संवैधानिक निकाय जो केंद्र और राज्यों के बीच वित्तीय संसाधनों का वितरण सुनिश्चित करता है।

राष्ट्रपति शासन–अनुच्छेद 356 के तहत केंद्र सरकार द्वारा किसी राज्य में संविधानिक तंत्र की विफलता की स्थिति में शासन करने का प्रावधान।

सहकारी संघवाद–केंद्र और राज्य सरकारों के बीच परस्पर सहयोग और समन्वय के साथ कार्य करने की अवधारणा, जिससे विकास और शासन बेहतर हो सके।

वित्तीय संघवाद–केंद्र और राज्यों के बीच राजस्व और कराधान की शक्तियों का विभाजन, जिसमें वित्त आयोग द्वारा वित्तीय संसाधनों का वितरण किया जाता है।

संविधान संशोधन–संविधान में परिवर्तन करने की प्रक्रिया, जिसमें कुछ संशोधनों के लिए केंद्र और राज्यों दोनों की सहमति आवश्यक होती है।

न्यायिक समीक्षा–सुप्रीम कोर्ट द्वारा केंद्र और राज्यों के कानूनों की संवैधानिकता की जांच करने की शक्ति, ताकि संविधान का पालन हो सके।

2.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें एवं लेख

"भारतीय संविधान का परिचय" – डॉ. बी. आर. अम्बेडकर

भारतीय राजनीति" – महेन्द्र प्रताप सिंह

भारतीय राज्यव्यवस्था" – विवेक कुमार

"संविधान और भारतीय संघीय ढांचा" – सुभाष कश्यप

"भारतीय संघीय व्यवस्था" – डॉ. रामनरेश तिवारी

महत्वपूर्ण लेख–

"भारतीय संघीय व्यवस्थाः समस्याएँ और चुनौतियाँ" – प्रो. सतीश चंद्र

"सहकारी संघवाद और भारतीय राजनीति" – डॉ. अशोक कुमार

"भारतीय संघवादः वित्तीय संबंध" – डॉ. एम. जी. राव

राज्यपाल की भूमिका और भारतीय संघवाद" – डॉ. एन.के. सिंह

"संविधान संशोधन और संघवाद" – डॉ. शंकर दयाल शर्मा

बोध प्रश्न–

1. भारतीय संघीय व्यवस्था क्या है?
2. भारतीय संघीय व्यवस्था में शक्तियों का विभाजन कैसे किया गया है?
3. भारतीय संघीय ढांचे की प्रमुख विशेषताएं क्या हैं?
4. समवर्ती सूची क्या है?
5. क्वासी–फेडरलिज्म (Quasi & Federalism½ D;k है?
6. राज्यपाल की भूमिका भारतीय संघीय व्यवस्था में क्या है?
7. वित्तीय संघवाद क्या है?
8. अनुच्छेद 356 का संघीय ढांचे पर क्या प्रभाव पड़ता है?
9. वित्त आयोग की क्या भूमिका है?
10. सहकारी संघवाद क्या है?

इकाई—3 भारतीय संघ व्यवस्था में केन्द्र—राज्य सम्बन्ध

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 संघ व्यवस्था की संवैधानिक एवं सैद्धांतिक पक्ष

3.2.1 विधायी संबंध

3.2.2 प्रशासनिक संबंध

3.2.3 वित्तीय संबंध

3.2.4 न्यायिक संबंध

3.3 केंद्र—राज्य संबंधों में तनाव, वित्त और योजना के क्षेत्र—

3.3.1 राज्यपाल का पद

3.3.2 अन्तर्राज्यीय व्यापार

3.3.3 सरकारिया आयोग

3.3.4 प्रशासनिक सुधार आयोग

3.4 केन्द्र—राज्य संबंधों में टकराव की स्थिति

3.5 निष्कर्ष

3.6 शब्दावली

3.7 महत्वपूर्ण बोध प्रश्न

3.8 संदर्भ ग्रन्थ

3.0 उद्देश्य

भारतीय संघीय व्यवस्था का मुख्य उद्देश्य देश की विविधता को मान्यता देते हुए राष्ट्रीय एकता और अखंडता को बनाए रखना है। इसके तहत, केंद्र और राज्य सरकारों के बीच शक्तियों का स्पष्ट विभाजन किया गया है, जिससे दोनों स्तरों पर शासन सुचारू रूप से चल सके। भारतीय संविधान निर्माताओं का उद्‌देश्य एक ऐसे संविधान की रचना करना था जिससे भारतीय राजनीतिक व्यवस्था के माध्यम से समाज के सभी वर्गों को प्रतिनिधित्व प्रदान करना था।

संघीय ढांचा देश के विभिन्न राज्यों, भाषाओं, धर्मों और संस्कृतियों के बावजूद, भारत की एकता और अखंडता को सुनिश्चित करता है। इसमें केंद्र सरकार को आवश्यक शक्तियाँ दी गई हैं ताकि वह देश की सुरक्षा और समृद्धि सुनिश्चित कर सके। भारत जैसे विविधतापूर्ण देश में राज्यों की अपनी विशिष्ट पहचान, भाषाएं, संस्कृतियां, और परंपराएं हैं। संघीय व्यवस्था राज्य सरकारों को क्षेत्रीय आवश्यकताओं के अनुसार नीतियां बनाने और लागू करने की स्वतंत्रता देती है।

शक्तियों का विकेंद्रीकरण करना जिससे केंद्र सरकार राष्ट्रीय मुद्दों पर ध्यान केंद्रित कर सके और राज्य सरकारें स्थानीय और क्षेत्रीय समस्याओं का समाधान कर सकें। भारतीय संघीय व्यवस्था सहकारी संघवाद पर आधारित है, जिसमें केंद्र और राज्य सरकारों के बीच सहयोग की भावना होती है। इसका उद्देश्य राष्ट्र के समग्र विकास के लिए विभिन्न स्तरों की सरकारों के बीच समन्वय स्थापित करना है। स्थानीय शासन को सशक्त बनाना जिससे स्थानीय सरकारों को सशक्त बनाया जा सके ताकि ग्राम और शहर स्तर पर लोकतंत्र को मजबूत किया जा सके और नागरिकों की भागीदारी बढ़ाई जा सके। भारतीय संघीय व्यवस्था का मूल उद्देश्य एक ऐसे

शासन ढांचे का निर्माण करना है जो राष्ट्रीय एकता के साथ–साथ क्षेत्रीय स्वायत्तता और विकास को भी सुनिश्चित कर सके।

3.1 प्रस्तावना

भारत ने स्वतंत्रता के पश्चात् अपने सामाजिक और आर्थिक क्षेत्रों में सकारात्मक सुधार के लिए राजनैतिक रास्ते का चुनाव किया। संविधान में सामाजिक–आर्थिक व प्रशासनिक परिवर्तन के लिए प्रावधान किए गए। भारत राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक विषमताओं के रोग से ग्रस्त रहा है और इसके उपचार के लिए औषधि के रूप में शासन संबंधी विभेदों को दूर करने के लिए संघीय ढांचे का प्रयोग किया गया। सैद्धांतिक रूप से केन्द्र राज्य संबंधो कों विधायी, प्रशासनिक एवं वित्तीय इन तीन भागों में विभाजित करके समझा जाता है।

संघीय संविधान, राष्ट्रीय प्रभुता तथा राज्य प्रभुता के दावों के बीच, जो कि ऊपरी दृष्टि से विरोधी जान पड़ती है, सामंजस्य पैदा करने का प्रयत्न करता है। संविधान के अन्तरंग में ही कुछ ऐसे उपवन्ध होते हैं जो सामजस्य के तौर–तरीकों पर प्रकाश डालते हैं। केन्द्र एवं राज्यों की सरकारों के बीच सामंजस्यपूर्ण सम्वन्धों की स्थापना करने वाली संथ प्रणाली को सहयोगी संघवाद' की संज्ञा दी जाती है। इस व्यवस्था में संघीय सरकार शक्तिशाली तो होती है, किन्तु राज्य सरकारें भी अपने क्षेत्रों में कमजोर नहीं होती, साथ ही दोनों सरकारों की एक–दूसरे पर निर्भरता इस व्यवस्था का मुख्य लक्षण होता है। संघवाद का बुनियादी तत्व है शक्तियों का विभाजन। सहयोगी संघवाद में शक्तियों के विभाजन के उपरान्त भी केन्द्र एवं राज्यों के बीच अन्त क्षेत्रीय सहयोग पर बल दिया जाता है। यह सहयोग केन्द्रीय एवं प्रादेशिक सरकारों के बीच ही नहीं अपितु विभिन्न प्रादेशिक सरकारों एवं असंख्य राजनीतिक संरचनाओं के मध्य भी दिखाई देता है।

3.2 केन्द्र–राज्य संबंधों का संवैधानिक एवं सैद्धांतिक पक्ष

3.2.1 संघ और राज्यों के बीच विधायी संबंध

संघ और राज्यों के संबंधों को संविधान के सातवीं अनुसूची, भाग 11 के अनुच्छेद 245 से 263 तक वर्णित है। विधायी संबंध अनु0 245–255 तक वर्णित है। अनुच्छेद 246 दो तरह के विधि निर्माण संस्था की बात करता है–संसद तथा राज्य विधायिका। इन दोनों संस्थाओं के बीच संविधान की सातवीं अनुसूची में लिखित तीन सूचियों के आधार पर अधिकारों को बाटा गया है। पहली सूची में वर्णित विषय जैसे– रेलवे पूर्णतः केन्द्र के अधिकार क्षेत्र में आता है। दूसरी अनुसूची राज्यों से संबंधित है जिसमें जन–स्वास्थ्य एवं स्वच्छता जैसे विषयों पर राज्यों विधायी एकाधिकार होता है। तीसरी अनुसूची समवर्ती सूची है, जिसमें इस तरह के विषय हैं जिसमें संघ तथा राज्यों को समान अधिकार दिया गया है। यदि किसी विषय का वर्णन इन तीन सूचियों में नहीं है तब प्रथम सूची अनुच्छेद 248 तथा प्रविष्ट मूल रूप से 97 ऐसे मसलों के ओर इंगित करता है जो केन्द्र को इस संबंध में अवशिष्ट शक्तियाँ प्रदान करता है। इसके प्रभाव से राज्य सूची की सीमा से बाहर केन्द्र किसी भी तरह के उचित विधायी अधिकार का प्रयोग कर सकता है। वह ऐसा विधान बना सकता है जो प्रथम सूची तथा तीसरी सूची के विषयों के संबंध में हो या इन सूचियों से अतिरिक्त मामले से संबंधित हो। इस आधार पर एच0एस0 ढिल्लों (1971) ने माना कि किसी कानून पर संघ के अधिकारिता की जांच–पड़ताल बहुत सरलता से की जा सकती है। न्यायालय को यह देखना पड़ता है कि उक्त विषय दूसरी सूची में वर्णित है कि नहीं, यदि नहीं है तो इस बात का अंतर नहीं पड़ता की इसे किस प्रविष्ट के अंतर्गत बनाया गया है। क्योंकि यह केन्द्र के अधिकारों के अंतर्गत आता है।

संघीय सूची में कुल 97 विषयों का उल्लेख किया गया है, जिनमें प्रमुख हैं– रक्षा, वैदेशिक मामले, युद्ध व संधि, देशीकरण व नागरिकता, विदेशियों का आवागमन, रेले, बन्दरगाह, हवाई यात्रा मार्ग, डाक, तार, टेलीफोन व बेतार, मुद्रा निर्माण, बैंक, बीमा, खानें व खनिज आदि। यदि राज्य सूची के विषयों की बात करें तो उनकी संख्या मूल संविधान में 66 थी लेकिन 42 संवैधानिक संशोधन (1976) से इस सूची से संबंधित 4 विषय शिक्षा, वन, जंगली जानवरों और पक्षियों की रक्षा तथा नापतौल जैसे विषय राज्य सूची से समवर्ती सूची में हस्तांतरित कर दिए गए। राज्य सूची में पुलिस, न्याय, जेल, स्थानीय स्वशासन, सार्वजनिक स्वास्थ्य, कृषि, सिचाई और सड़के आदि विषय रखे गये हैं।

समवर्ती सूची में सामान्यतः वे विषय हैं जो प्रांतीय एवं संघीय दोनों दृष्टिकोणों से महत्वपूर्ण है। मूल

संविधान में इस सूची में 47 विषय थे, परन्तु 42 वें संवैधानिक संशोधन द्वारा समवर्ती सूची में चार विषय जोड़े गये और एक नवीन विषय 'जनसंख्या एवं परिवार नियोजन' समवर्ती सूची में जोड़ा गया। इन परिवर्तनों के परिणामस्वरूप समवर्ती सूची में विषयों की संख्या 52 हो गयी है। यह तथ्य महत्वपूर्ण है कि समवर्ती सूची के विषयों पर विधायन का अधिकार केन्द्र तथा राज्य दोनों को प्रदान किया गया है। यदि विधायन में कोई गतिरोध होता है तो केन्द्रीय विधायन मान्य होगा। इस सूची में निर्दिष्ट विषयों की चर्चा करें तो फौजदारी, निवारक निरोध, विवाह और विवाह विच्छेद, संपत्ति का अर्जन और अधिग्रहण, समाचारपत्र, पुस्तकें और मुद्रणालय, वन, वन्य जीव जन्तुओं और पक्षियों का संरक्षण इत्यादि।

केन्द्र तथा राज्य के बीच संबंधों के इस प्रकार स्पष्ट विभाजन के होते हुए भी राज्य सूची के कुछ ऐसे विषय हैं जिन पर कानून निर्माण का अधिकार केन्द्रीय संसद को प्राप्त है और यही अधिकार केन्द्रीय प्रभुत्व को प्रदर्शित करता है। अनुच्छेद 249 के अधीन यदि राज्य सभा में दो तिहाई सदस्यों द्वारा समर्थित संकल्प के माध्यम से यह घोषणा कर दी जाय कि राष्ट्रीय हित में यह आवश्यक या समीचिन है कि राज्य सूची में शामिल किसी विषय के बारे में संसद विधियां बनाए तो समूचे भारत या उसके किसी भाग के लिए उस विषय के बारे में संसद विधियां बनाने में सक्षम होगी। ऐसा संकल्प एक वर्ष तक वैध रहता है। उसकी अवधि को एक वर्ष के लिए बाद के संकल्प द्वारा बढ़ाया जा सकता है। ऐसे संकल्प के अधीन बनाई गयी विधि संकल्प की अवधि बीत जाने के बाद छः माह की समाप्ति पर प्रभावी नहीं रहेगी।

संकटकालीन उपबंधों की बात करें तो अनुच्छेद 250 के अंतर्गत आपातकालीन घोषणा की स्थिति में राज्य की समस्त विधायिनी शक्ति पर केन्द्रीय संसद का प्राधिकार हो जाता है। संकटकालीन घोषणा की समाप्ति के छः माह बाद तक संसद द्वारा बने कानून पूर्ववत प्रवर्तन में रहेंगे। अनुच्छेद 252 के अनुसार दो या दो से अधिक विधानमंडल एक संकल्प पारित करके संसद से आग्रह कर सकते हैं कि वह राज्य सूची से संबंधित विषय पर विधियां बनाएं। इस आग्रह के द्वारा बनाई गयी विधियों को उन राज्यों पर भी लागू किया जा सकता है जो राज्य विधानमंडल उस आशय के संकल्प पारित करें।

अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के अंतर्गत यदि संघ सरकार ने विदेशी राज्यों से किसी प्रकार की संधि या समझौता किया है अथवा उनसे सहयोग स्वरूप किसी नवीन योजना का निर्माण किया है तो इस संधि के पालन को सुनिश्चित कराने हेतु संघ सरकार को संपूर्ण भारत के सीमा क्षेत्र के अंतर्गत पूरी तरह से हस्तक्षेप और व्यवस्था करने का अधिकार होगा। इन परिस्थितियों में भी केन्द्र का प्राधिकार राज्य सूची के विषयों पर हो जाता है जब कभी ऐसी स्थिति आ जाय जिसके कारण राज्य में संवैधानिक संकट उत्पन्न हो जाय अर्थात् सवैधानिक व्यवस्था विफल हो जाय तो ऐसी स्थिति में राष्ट्रपति राज्य विधानमंडल के सभी अधिकार भारतीय संसद को दे सकता है।

वास्तव में देखा जाय तो राज्य विधानमंडल द्वारा राज्य सूची में वर्णित विषयों पर विधायन की शक्ति सीमित होती है, क्योंकि कुछ ऐसे विधेयक भी है जिनको राज्य विधानमंडल में प्रस्तावित किए जाने से पहले राष्ट्रपति की पूर्व स्वीकृति की आवश्यकता होती है। ऐसे ही प्रावधान अनुच्छेद 31 (ग) के अंतर्गत वर्णित है कि राज्य सूची के कुछ विषयों पर राज्यों के विधायिकाओं द्वारा पारित विधेयक उस दशा में मान्य नहीं होंगे, यदि उन्हें राष्ट्रपति ने विचार के लिए रोक रखा हो और उस पर राष्ट्रपति की स्वीकृति न प्राप्त कर ली गयी हो। राज्य विधानमंडल से पारित विधेयक राज्यपाल की स्वीकृति से पूर्ण होता है, परन्तु राज्यपाल अनुच्छेद 200 के अंतर्गत अपनी शक्ति का प्रयोग करते हुए विधेयक को राष्ट्रपति के लिए आरक्षित कर लेता है तो ऐसी स्थिति में राष्ट्रपति बिना कोई कारण बताए विधेयक को अस्वीकार कर सकता है।

संघ और राज्यों को संविधान द्वारा प्रदत्त संवैधानिक स्थिति पर दृष्टि डाली जाय तो शक्तियों का झुकाव केन्द्र की ओर दिखाई पड़ता है, इसकी ऐतिहासिकता में जाने से जो तथ्य देखने को मिलता है उसके केन्द्र में स्वतंत्रता आन्दोलन और स्वतंत्र भारत की वर्तमान परिस्थितियों को जिम्मेदार माना जा सकता है। फिर भी यह बात महत्वपूर्ण है कि भारतीय संघ का गठन राज्यों की ओर से नहीं बल्कि संघ की ओर हुआ है। राज्यों को स्वायत्त रखने के साथ–साथ उन्हें संघ से अभिभाज्य रखने की मंशा से ही भारतीय संघवाद की भावना विकसित की गई है।

3.2.2 संघ और राज्यों के बीच प्रशासनिक संबंध

संघीय शासन व्यवस्था की शक्ति और सफलता संघ और राज्यों के बीच सहयोग और समन्वय पर निर्भर करता है। केन्द्र तथा राज्यों के बीच विधायी संबंध उसके प्रशासनिक संबंध को आकार देता है। उसका प्रशासनिक संबंध उसके विधायी संबंध के साथ समदर्शी है। केन्द्र का प्रशासनिक अधिकार उन विषयों तक विस्तृत है जिन पर केन्द्रीय संसद विधान कर सकता है। तथा राज्य का प्रशासनिक अधिकार उन विषयों तक है जिस पर कानून बनाने का उनकों अधिकार प्राप्त है। इन अधिकारों के संदर्भ में विस्तृत व्याख्या अनुच्छेद 256 तथा 257 द्वारा किया गया है। ये सामान्यतया प्रदर्शित करते हैं कि राज्य के प्रशासनिक अधिकारों का इस प्रकार प्रयोग किया जाना चाहिए कि वह केन्द्र तथा राज्य द्वारा बनाए गए कानूनों के साथ समन्वय बिठा सके। राज्य के प्रशासनिक शक्तियों का प्रयोग इस प्रकार नहीं किया जा सकता है जिससे संघ की प्रशासनिक शक्तियाँ अव्यवस्थित हों तथा संघीय कार्यपालिका को यह विशेष अधिकार है कि वह विशेष परिस्थितियों में दूर संचार तथा रेलवे से संबंधित मुद्दे पर राज्यों को खास निर्देश दे सके।

अधिकतर संघात्मक राज्यों में संघ द्वारा निर्देश जारी करने का विचार अस्वीकार माना जाता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में अशंका तथा अविश्वास की दृष्टि से देखा जाता है। आस्ट्रेलिया में भी लगभग यही प्रावधान है। फिर व्यावहारिक दृष्टि से इससे किनारा काट लेना बहुत कठिन है। यदि केन्द्र के पास यह शक्ति न होती तो संसद द्वारा पारित अधिनियमों को सही तरीके से लागू करना असंभव हो जाता। अश्पृष्यता समाप्त करने का कानून, कारखानों के नियम, बाल विवाह प्रभा का उन्मूलन इत्यादि इसके कुछ उदाहरण हैं।

यह संभव है कि केन्द्र द्वारा निर्देशित कार्यों को पूरा करने में राज्यों को उससे अधिक व्यय करना पड़े जितना उनके सामान्य कार्यों के निवर्हन में होता है। ऐसी स्थिति में संविधान द्वारा यह व्यवस्था की गई है कि इस अतिव्यय की क्षतिपूर्ति की जाय। अनुच्छेद 261 के द्वारा प्रशासनिक कार्य को और अधिक सरल बनाया गया है। इस अनुच्छेद के अनुसार भारत के राज्य क्षेत्र में सर्वत्र, संघ के और प्रत्येक राज्य के सार्वजनिक कार्यों, अभिलेखों और न्यायिक कार्यवाहियों को प्रमाणित करने के तरीकों और मानकों तथा उनके प्रभाव का निर्धारण संसद द्वारा बनायी गयी द्वारा उपबंधित नियमों के द्वारा किया जाएगा। यह भी व्यवस्था किया गया है कि भारतीय राज्य क्षेत्रों के किसी भी हिस्से में सिविल न्यायालयों द्वारा दिए गए अंतिम निर्णयों या आदेशों का उस राज्य क्षेत्र के अंदर कही भी विधि के आधार पर निष्पादन किया जा सकेगा।

संविधान के अनुच्छेद 262 के अंतर्गत अंतर्राज्यीय नदियों के जल तथा नदी–घाटियों के जल से संबंधित अतिमहत्वपूर्ण उपबंध है। अन्य संघात्मक राज्यों विशेषतः संयुक्त राज्य अमेरिका में जल संबंधी विवादों को देखकर संविधान निर्माताओं ने यह निर्णय किया कि यह शक्ति पूर्ण रूप से संसद को दे देनी चाहिए। अतः संसद, विधि द्वारा, किसी अंतर्राज्यीय नदी या नदी घाटियों के, या उसके जल उपयोग, वितरण या नियंत्रण के लिए व्यवस्था करेगी। ऐसे विवाद के संबंध में संसद यह निर्णय भी कर सकता है कि उच्चतम न्यायालय या अन्य कोई न्यायालय इस संबंध में अधिकारिता का प्रयोग नहीं करेगा। यह उपबंध भारत के बहुत से क्षेत्रों मे कई बहु–प्रयोजन नदी–घाटी योजनाओं, जैसे– दामोदर घाटी योजना इत्यादि के संदर्भ में अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

उपरोक्त प्रावधान राज्यों को केन्द्र का सम्मान करने के लिए संबोधित करते हैं लेकिन संविधान द्वारा केन्द्र को यह शक्ति भी देता है कि राज्यों को शक्तिशाली बना सके। अनुच्छेद 258 के अंतर्गत किसी राज्य की इच्छा से राष्ट्रपति को यह अधिकार है कि वे उस राज्य में केन्द्र के कार्यकारी अधिकार निहित कर सके। इसके अतिरिक्त एक केन्द्रीय कानून किसी राज्य के अधिकारियों को शक्तियां एवं कर्त्तव्य दे सकता है कि बावजूद इसके उक्त राज्य के पास इस विषय से संबंधित विधान बनाने का अधिकार न हो। यह उल्लेखनीय तथ्य है कि अनुच्छेद 258 के अंतर्गत राष्ट्रपति किसी राज्य में केवल केन्द्रीय प्रशासनिक अधिकार ही निहित कर सकते हैं। जयंतीलाल अमृतलाल शोधन (1964) तथा शमशेर सिंह (1974) जैसे मामले राष्ट्रपति में संविधान द्वारा प्रदत्त शक्तियों (आपालकाल घोषित करने का अधिकार) का राज्यों में निहित किए जाने का निषेध करते हैं क्योंकि यह अधिकार केन्द्र के दायरे से बाहर है। यह अधिकार राष्ट्रपति का है। महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि संघ का कार्यकारी अध्यक्ष राष्ट्रपति ही होता है।

3.2.3 संघ और राज्यों के बीच वित्तीय संबंध

किसी भी संवैधानिक प्रणाली की सफलता इस बात पर अधिक निर्भर करती है कि केन्द्र तथा राज्य के

पास वित्तीय साधनों की पर्याप्तता कितनी है। जिससे संविधान द्वारा जिन उत्तरदायित्वों को केन्द्र तथा राज्य पर आरोपित किया गया है उनका निवर्हन सुव्यवस्थित ढंग से हो सके। राज्यों के प्रशासनिक एवं विधायी अधिकार इस बात अधिक निर्भर करते हैं कि उसकी वित्तीय स्वतंत्रता कितनी है, अर्थात् केन्द्र और राज्य के संबंधों की त्रिवेणी का तीसरा आधार वित्तीय है।

संविधान निर्माताओं का यह विचार था कि केन्द्र एवं राज्यों के वित्तीय संबंध सरल हो और परिवर्तित परिस्थितियों तथा आवश्यकताओं के अनुकूल रहें। संविधान के अंतर्गत वित्तीय संघवाद की एक व्यवस्थित संरचना बनाई गई है तथा करों का आवंटन अनन्य रूप से या तो केन्द्र को किया गया है, या राज्य को किया गया है। अनुच्छेद 265 के अंतर्गत यह प्रावधान है कि एक कर को कानूनी आधार पर आधारित होना ही चाहिए अर्थात् विधि के प्राधिकार के बिना कोई कर अधिरोपित या संकलित नहीं होता है।

केन्द्र तथा राज्य के अंतर्गत वित्तीय संबंधों से संबधित करों के आरोपण में कोई परिवर्तन विधायी प्राधिकार से संभव है न कि प्रशासनिक प्राधिकार से। कर के प्रारूप एवं भुगतान के निर्धारण को लेकर संविधान निर्माताओं में व्यापक परिचर्चा हुई। यद्यपि संविधान की सातवीं अनुसूची कर और शुल्क में अंतर मानती है और निर्दिष्ट विधान के आधार पर शुल्क के संग्रहण की अनुमति देती है, परन्तु कर संग्रहण के लिए विशेष कानूनी प्रारूप की मांग करती है जबकि आम तौर पर कर का चित्रण कैथोलिक शैली में अनिवार्य भुगतान के रूप में होता है। एक शुल्क का निर्धारण अधिक विशेषता से किया जाता है, जहां भुगतान तथा किसी खास सेवा के निष्पादन के बीच स्पष्ट तौर पर सह–संबंध स्थापित होता है। यह वैधानिक व्याख्या कर की साझा व्यवस्था के संवैधानिक समझ को स्पष्ट करता है।

संघ तथा राज्यों के बीच विभिन्न विषयों से संबंधित करों के आरोपण का अधिकार का विभाजन किया गया है। जो विषय राष्ट्रीय महत्व के हैं जिनका विवरण संघ सूची में हैं उन पर कर के आरोपण का अधिकार केन्द्र सरकार को प्राप्त है जिसे यूनियन टैक्स कहा जाता है। इन करों का स्वरूप प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष दोनों रूपों का हो सकता है। इसी प्रकार राज्य सूची में वर्णित स्थानीय महत्व के विषयों पर कर आरोपण का अधिकार राज्य को है जिसे स्टेट टैक्स कहा जाता है। जो विषय संघ सूची या राज्य सूची में वर्णित नहीं हैं अर्थात अवशिष्ट विषय के रूप में हैं उन पर करारोपण का अधिकार संघ को प्राप्त है। जैसे, व्यय कर एवं उपहार कर। ध्यान देने की बात यह है कि करों के संदर्भ में संविधान में समवर्ती सूची से संबंधित कोई विषय नहीं वर्णित है।

जहां संविधान द्वारा केन्द्र तथा राज्यों के बीच करों के विभाजन की स्पष्ट व्याख्या है परन्तु इस विभाजन का वित्तीय तात्पर्य उत्साहजनक नहीं है। एम0गोविन्दराव तथा निर्विकार सिंह जैसे अर्थशास्त्रियों का मानना है कि यद्यपि वस्तु एवं सेवाओं पर कर एक साथ नहीं लगाए जाते हैं इसलिए एक समन्वित कर ढांचा अनुपस्थित रहा है। यद्यपि करों का ठोस विभाजन किया गया है फिर भी कई बार केन्द्र एवं राज्य एक ही आधार पर कर आरोपित कर देते हैं जिसके कारण लम्बित रूप में करों का अतिव्यापन हो जाता है।

उक्त समस्या के निराकरण के लिए ही संविधान के 101 वें संशोधन अधिनियम 2016 द्वारा अनुच्छेद 246क को जोड़ा गया। इसके अंतर्गत वस्तु एवं सेवाओं के संबंध में विशिष्ट प्रावधान किए गये जिसके अनुसार प्रत्येक राज्य के विधानमंडल को केन्द्र या राज्य द्वारा आरोपित वस्तु एवं सेवा कर के संबंध में कानून बनाने का अधिकार दिया गया है। केन्द्र राज्यों तथा संघ–शासित प्रदेशों को वस्तु एवं सेवाओं या दोनों के आपूर्ति के प्रत्येक क्रियाकलाप पर करारोपण व संग्रहण का अधिकार देता है यद्यपि अंतरराज्यीय व्यापार एवं वाणिज्य के दौरान वस्तु एवं सेवा कर का उद्ग्रहण व एकत्रीकरण का अधिकार केन्द्र का होगा। इस प्रकार कराधान के संदर्भ में केन्द्र व राज्यों की सम्मिलित संप्रभुता को स्थापित किया गया है।

संविधान द्वारा केन्द्र तथा राज्यों के बीच करों के वितरण के लिए एक वित्त आयोग की स्थापना की गई है। जिसके द्वारा कुछ साधनों से होने वाली प्राप्तियों को निर्धारित और व्यवस्थित करके संघ और राज्यों के बीच वितरित किया जाता है। इस कार्य में अनेक समस्याएं उत्पन्न होती है। इस समस्या को सुलझाने के लिए एक मौलिक कदम उठाया गया है। प्रत्येक पांच वर्ष के अंत तक वित्त आयोग का गठन किया जाता है। यह भारतीय संविधान की नवीन देन है। इसने केन्द्र तथा राज्यों के बीच सामान्यतः सुचारू संबंधों को और सहज और सरल बनाया है। वित्त आयोग एक स्वतंत्र संवैधानिक संस्था का उदाहरण है फिर भी यह कार्यपालिका के अधीन है। केन्द्रीय राजस्व के बटवारे के अलावा अनुच्छेद 270 के अंतर्गत वित्त आयोग, संचित निधि से राज्यों

को प्राप्त होने वाले अनुदान पर भी परामर्श देता है। वित्तीय समीकरण की प्रणाली को निश्चित करने के उद्देश्य से अनुच्छेद 275 के अंतर्गत केन्द्र को राज्यों को अनुदान देने का अधिकार प्राप्त है।

व्यावहारिक दृष्टिकोण से देखने पर केन्द्र राज्यों के बीच वित्तीय असंतुलन को संवैधानिक प्रावधानों से अलग संस्था के द्वारा प्रदर्शित किया गया था। इस कार्य के लिए योजना आयोग जैसी संस्था का गठन किया गया था। योजना आयोग एक संविधानेत्तर संस्था थी जिसे एक कार्यकारी आदेश द्वारा सृजित किया गया था। जिसका अन्य महत्वपूर्ण कार्यों के साथ–साथ प्रत्येक पांच वर्ष में राज्यों को विकास अनुदान देना था। योजना आयोग के माध्यम से केन्द्र तथा राज्यों के बीच संबंधों को व्याख्यायित करने की कोशिश की गयी थी। अनुच्छेद 301 के राज्यों के बीच तथा राज्यों के आंतरिक मामलों का विनियमन करता है। मुख्य रूप से यह व्यापार, वाणिज्य तथा राष्ट्र के अंदर समागम को ''मुक्त'' घोषित करते हुए राष्ट्रीय नागरिकता पर जोर देता है। इस प्रावधान की मुख्य विशेषता यह है कि यह संपूर्ण भारतीय क्षेत्र पर लागू होता है इसलिए, यह राज्यों के बीच तथा राज्यों के अंदर दोनों व्यापारों को संबोधित करता है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि भारत में साधारणतया संघीय संसद तथा राज्यों की व्यवस्थापिकाओं के कार्यक्षेत्र संविधान द्वारा विभाजित हैं, लेकिन विशेष परिस्थितियों में संघ सरकार द्वारा राज्य सरकार के कार्यक्षेत्र का अतिक्रमण किया जा सकता है। के. वी. राव ने ठीक ही कहा है कि राज्य सूची में दिए गए विषय कितने महत्वहीन कितने संदिग्ध और अस्पष्ट हैं।" पायली के अनुसार "विधायी सत्ता के वितरण की सूची योजना से निःसन्देह केन्द्रीकरण की एक प्रबल प्रवृत्ति प्रकट होती है। डॉ महादेवप्रसाद शर्मा ने लिखा है कि जब राज्यों के सिर पर संघ का भय सर्वदा विद्यमान रहता है तो उनसे यह अपेक्षा नहीं की जा सकती है कि वे पूर्ण विश्वास के साथ अपने अधिकारों की मांग दृढ़तापूर्वक करेंगे।" अमर नन्दी ने लिखा है कि "विशाल मूर्ति की भांति केन्द्र ही सारे रंगमंच पर छाया रहता है।

3.2.4 न्यायिक संबंध

केंद्र–राज्य संबंधों में न्यायिक संबंध महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं, क्योंकि भारतीय संविधान केंद्र और राज्यों के बीच शक्ति के विभाजन को स्पष्ट रूप से परिभाषित करता है। किसी भी प्रकार के विवाद की स्थिति में न्यायपालिका इसका समाधान करती है और संविधान की सर्वोच्चता को बनाए रखती है। भारतीय न्यायपालिका, विशेष रूप से उच्चतम न्यायालय, संघीय ढांचे की रक्षा और केंद्र–राज्य संबंधों के मामलों को सुलझाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। न्यायिक संबंधों की व्याख्या निम्नलिखित बिंदुओं में की जा सकती हैः

संविधान की व्याख्याः भारतीय संविधान एक संघीय ढांचा प्रदान करता है, जिसमें केंद्र और राज्यों के बीच शक्तियों का विभाजन तीन सूचियों – केंद्रीय सूची, राज्य सूची और समवर्ती सूची – के तहत किया गया है। न्यायपालिका, विशेष रूप से उच्चतम न्यायालय, संविधान की व्याख्या करते समय यह सुनिश्चित करता है कि केंद्र और राज्य सरकारें अपने–अपने अधिकार क्षेत्रों में काम करें। अगर किसी कानून या निर्णय के तहत अधिकारों का अतिक्रमण होता है, तो न्यायपालिका इसे निरस्त कर सकती है।

संविधान के अनुच्छेद 131 के तहत विवादों का निपटाराः संविधान के अनुच्छेद 131 के तहत, केंद्र और राज्य या दो राज्यों के बीच कानूनी विवादों को सुलझाने का अधिकार सर्वोच्च न्यायालय को दिया गया है। यह विवाद अक्सर शक्तियों के दुरुपयोग या केंद्र और राज्य के अधिकार क्षेत्रों की व्याख्या से जुड़े होते हैं। सर्वोच्च न्यायालय इस तरह के विवादों में अंतिम निर्णय देता है।

संविधान की सर्वोच्चता बनाए रखनाः भारतीय न्यायपालिका यह सुनिश्चित करती है कि केंद्र और राज्य सरकारें संविधान के अनुरूप कार्य करें। अगर केंद्र या राज्य सरकार किसी भी असंवैधानिक कानून या निर्णय को लागू करती है, तो न्यायपालिका उसे अमान्य घोषित कर सकती है। इससे संविधान की सर्वोच्चता और संघीय ढांचे की रक्षा होती है।

समवर्ती सूची के विवादः समवर्ती सूची में शामिल विषयों पर केंद्र और राज्य दोनों कानून बना सकते हैं। यदि केंद्र और राज्य सरकार के कानूनों के बीच कोई टकराव होता है, तो न्यायपालिका इस पर निर्णय देती है। सामान्यतः केंद्र के कानून को प्राथमिकता दी जाती है, लेकिन न्यायपालिका यह सुनिश्चित करती है कि इसका दुरुपयोग न हो।

अनुच्छेद 356 और न्यायिक समीक्षाः भारतीय संविधान के अनुच्छेद 356 के तहत राष्ट्रपति शासन लागू करने का प्रावधान है, जब राज्य में संवैधानिक तंत्र विफल हो जाता है। इस अनुच्छेद के तहत केंद्र सरकार किसी राज्य सरकार को भंग कर सकती है। न्यायपालिका राष्ट्रपति शासन के दुरुपयोग को रोकने के लिए इसकी समीक्षा कर सकती है, जैसा कि एस.आर. बोंबई केस (1994) में देखा गया, जब सर्वोच्च न्यायालय ने अनुच्छे 356 के तहत राज्य में राष्ट्रपति शासन की वैधता को जांचने का अधिकार सुरक्षित रखा।

राज्यपाल की भूमिका की न्यायिक समीक्षाः राज्यपाल राज्य का संवैधानिक प्रमुख होता है और केंद्र सरकार का प्रतिनिधि भी। राज्यपाल की भूमिका पर यदि कोई विवाद होता है, जैसे विधायिका भंग करना, विधानसभा का सत्र बुलाना या बहुमत परीक्षण कराना, तो न्यायपालिका इसमें हस्तक्षेप कर सकती है और राज्यपाल के फैसलों की समीक्षा कर सकती है। हाल के समय में कई ऐसे मामले सामने आए हैं, जहाँ न्यायपालिका ने राज्यपाल की भूमिका की वैधता पर निर्णय दिए हैं।

अंतर–राज्यीय विवादः विभिन्न राज्यों के बीच जल विवाद, सीमा विवाद या अन्य प्रकार के संसाधन विवाद होते हैं। ऐसे मामलों में न्यायपालिका, विशेष रूप से सर्वोच्च न्यायालय, विवादों का समाधान करती है। जैसे कि कावेरी जल विवाद, जिसमें कर्नाटक और तमिलनाडु राज्यों के बीच जल वितरण का विवाद था, जिसे न्यायालय ने सुलझाया।

न्यायपालिका का स्वतंत्रता और निष्पक्षताः न्यायपालिका की स्वतंत्रता और निष्पक्षता केंद्र–राज्य संबंधों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। न्यायालय यह सुनिश्चित करता है कि केंद्र और राज्य सरकारें अपनी सीमाओं के भीतर रहें और किसी भी प्रकार के अधिकारों का उल्लंघन न हो।

भारतीय संघीय व्यवस्था में न्यायिक संबंधों का मुख्य उद्देश्य केंद्र और राज्यों के बीच संतुलन बनाए रखना और विवादों का संवैधानिक समाधान करना है। न्यायपालिका केंद्र–राज्य संबंधों के किसी भी विवाद में निष्पक्षता से हस्तक्षेप करती है और संविधान की रक्षा करते हुए संघीय ढांचे को स्थिर बनाए रखती है।

3.3 केंद्र–राज्य संबंधों में तनाव, वित्त और योजना के क्षेत्र

सैद्धान्तिक दृष्टि से केन्द्र तथा राज्यों के मध्य विवादों को तीन भागों में बांटा जा सकता है। प्रथम, संस्थागत विषय जैसे राज्यपाल का पद, नौकरशाही की भूमिका और संविधान का स्वरूप, आदि विषयों को लेकर उत्पन्न होने वाले विवाद। द्वितीय, कार्यात्मक विषय जैसे कानून और व्यवस्था के अधिकार क्षेत्र के प्रश्न पर विवाद अन्तरर्राज्यीय विवाद, भाषा विवाद, राज्य सूची के विषयों पर केन्द्रीव हस्तक्षेप, आवश्यक वस्तुओं पर केन्द्रीय नियन्त्रण, आदि मसले। तृतीय वित्तीय और योजना सम्बन्धी विषय– संघीय शासन–व्यवस्था में केन्द्र और राज्यों के मध्य वित्तीय और योजना सम्बन्धी प्रश्नों को लेकर मतभेद होना स्वाभाविक है। इनमें से कुछ महत्वपूर्ण पहलुओं का अध्ययन करना अपरिहार्य हो जाता है।

3.3.1 राज्यपाल का पदः राज्यपाल राज्य का संवैधानिक कार्यकारी है। चतुर्थ आम चुनावों के बाद राज्यपालों के अधिकार क्षेत्र, नियुक्ति के तरीके, आदि को लेकर केन्द्र–राज्य मतभेद, उत्पन्न हुए। गैर–कांग्रेसी राज्य सरकारें बराबर यह आरोप लगाती रहीं कि केन्द्र राज्यपालों के माध्यम से उनकी सरकारों को पदच्युत करने में लगा हुआ है। गैर–कांग्रेसी मुख्यमन्त्रियों का यह भी कहना था कि उनके राज्यों में राज्यपालों की नियुक्ति करते समय उनसे परामर्श किए जाने की परम्परा का केन्द्र पालन नहीं कर रहा है। कतिपय राज्यपालों ने तो सुनिश्चित लोकतान्त्रिक अभिसमयों का भी पालन नहीं किया और ऐसा आभास मिलता था कि उन्होंने केन्द्रीय सरकार के एजेण्ट की भूमिका का निर्वाह करने में ही अपने कर्तव्य की इतिश्री मान ली। राज्यपाल धर्मवीर की भूमिका को लेकर पश्चिम बंगाल और केन्द्रीय सरकार के मध्य विवाद इतना उग्र हो गया कि अन्तत राज्यपाल को स्थानान्तरित ही करना पड़ा।

आन्ध्र प्रदेश के तात्कालिक राज्यपाल रामलाल ने एन टी रामाराव की तेलुगु देशम् सरकार (1984) को बखास्त करके राज्यपाल पद को अत्यन्त हास्यास्पद बना दिया, जबकि विधानसभा में रामाराव को स्पष्ट बहुमत प्राप्त था। समूचे आन्ध्र प्रदेश में राज्यपाल और केन्द्र के खिलाफ जनआक्रोश जब अपनी चरम सीमा पर पहुंचा तो रामाराव की सरकार को पुनः पदासीन करना पड़ा और राज्यपाल को हटना पड़ा।

तमिलनाडु में में राज्यपाल डॉ चेन्ना रेड्डी तथा मुख्यमन्त्री सुश्री जयललिता के सम्बन्धों में इतनी कड़वाहट आ

गई कि तमिलनाडु विधानसभा ने राज्यपाल डॉ रेड्डी को हटाने के लिए प्रस्ताव पारित कर दिया। लोकतान्त्रिक मान्यताओं, परम्पराओं और संवैधानिक मर्यादाओं का राज्यपाल रोमेश भण्डारी (21 फरवरी, 1998) ने उत्तर प्रदेश की कल्याण सिंह सरकार को उसे अपना वहुमत सिद्ध करने का मौका दिए बिना ही वर्खास्त करके जो मखौल बनाया था उस पर अंतरिम स्थगनादेश देकर तथा कल्याण सिंह सरकार को तत्काल बहाल करने का निर्देश देकर इलाहाबाद हाईकोर्ट की खण्डपीठ ने लोकतान्त्रिक व्यवस्था को बनाये रखने का ऐतिहासिक कार्य किया। भाजपा से तात्कालिक केन्द्रीय सरकार की नाराजगी हो सकती है। लेकिन राजनीतिक लड़ाई राज्यपाल को माध्यम बनाकर लड़ना लोकतान्त्रिक आदशों के सर्वथा प्राकृतित था। खण्डपीठ का फैसला राज्यपाल रोमेश भण्डारी के निर्णय को अतार्किक सिद्ध करना था और इसके बाद उन्हें अपने पद पर बने रहने का कोई अधिकार शेष नहीं बचा। राज्य विधानसभा में शक्ति परीक्षण में कल्याण सिंह की जीत के बाद भी भण्डारी 15 मार्च, 1998 तक निर्लज्जता से अपने पद पर बने रहे।

30 जून, 2001 को तमिलनाडु में पूर्व मुख्यमन्त्री करुणानिधि और दी केन्द्रीय मन्त्रियों मुरासोली मारन और टी. आर. बालू की गिरफ्तारी के सम्बन्ध में राज्यपाल फातिमा बीवी द्वारा समय पर और निष्पक्ष रिपोर्ट न भेजने पर बर्खास्तगी के भय से तत्काल त्याग–पत्र दे देना राज्यपाल की भूमिका को विवादास्पद बना देता है। इसी प्रकार 21 मई, 2005 को राज्यपाल बूटासिंह ने बिहार विधानसभा भंग करने की सिफारिश की और 23 मई, 2005 को विधानसभा भंग करने की केन्द्र ने अधिसूचना जारी कर दी जिसे उच्यतम न्यायालय ने 7 अक्टूबर, 2005 को असंवैधानिक घोषित कर राज्यपाल बूटासिंह के साथ–साथ केन्द्र सरकार को भी कटघरे में खड़ा कर दिया।

3.3.2 अन्तर्राज्यीय व्यापारः संविधान के अनुसार अन्तर्राज्यीय व्यापार को नियमन करने की शक्ति केन्द्रीय सरकार में निहित है। केन्द्रीय सरकार राष्ट्रीय और स्थानीय राज्यों के हितों में समन्वय स्थापित करने के लिए कभी–कभी हस्तक्षेप करती है। इस केन्द्रीय हस्तक्षेप से कतिपय राज्य नाराज होते हैं और केन्द्र–राज्य मतभेद उभरते हैं। उदाहरण के लिए, खाद्य नीति को लिया जा सकता है जो कि राज्य सूची का विषय है और केन्द्रीय हस्तक्षेप से पंजाब ने अपनी लगातार नाराजगी प्रकट की। सन् 1969 में केन्द्रीय शासन ने गेहूं के सम्बन्ध में प्रचलित एक राज्य क्षेत्र' नीति का परित्याग कर 'आठ राज्यीय क्षेत्र' घोषित किया तो पजाब ने इसे पसन्द नहीं किया। मई 1979 में मुख्यमन्त्रियों के दो दिन के सम्मेलन में केन्द्र के वित्तीय साधनों के बंटवारे के सवाल पर विवाद ने उग्र रूप धारण कर लिया। विवाद इतना बढ़ गया जिसका पता इसी तथ्य से लग जाता है कि पश्चिम बंगाल के मुख्यमन्त्री ने इस मामले को सर्वोच्च न्यायालय के सामने ले जाने का निश्चय प्रकट किया। पश्चिम बंगाल के वित्त मन्त्री डॉ. अशोक मित्र ने कहा कि कच्ची तम्बाकू, चीनी तथा कपड़ों पर एकत्र करों के बंटवारे के प्रश्न पर अनेक स्मरण–पत्र भेजने के बावजूद केन्द्र ने अपना वायदा पूरा नहीं किया। उन्होंने कहा था कि कुछ वर्ष पूर्व उक्त मदों पर एकत्र करों को राज्य सरकार ने स्वेच्छा से केन्द्र को दे दिया था। यदि मामला वार्ता से न सुलझा तो राज्य सरकार सर्वोच्च न्यायालय में मुकदमा दायर करेगी।

3.3.3 सरकारिया आयोग–सरकारिया आयोग भारतीय संघीय ढांचे में सुधार के लिए गठित एक महत्वपूर्ण आयोग है। इसे वर्ष 1983 में तत्कालीन भारत सरकार द्वारा केंद्र और राज्य सरकारों के बीच संबंधों की समीक्षा करने के उद्देश्य से स्थापित किया गया था। इस आयोग का नाम इसके अध्यक्ष, न्यायमूर्ति आर.एस. सरकारिया के नाम पर रखा गया था। सरकारिया आयोग ने केंद्र और राज्यों के बीच विभिन्न प्रशासनिक, विधायी, और वित्तीय संबंधों का अध्ययन कर सिफारिशें दीं। सरकारिया आयोग की निम्न प्रमुख सिफारिशे थी–

- राज्यपाल की नियुक्तिः राज्यपाल की नियुक्ति में राजनीति से दूरी बनाए रखने और राज्यों की संस्कृति व संवेदनाओं का सम्मान करने की सिफारिश की गई। साथ ही, यह सुझाव दिया गया कि राज्यपाल की नियुक्ति से पहले संबंधित राज्य के मुख्यमंत्री से परामर्श किया जाना चाहिए।

- राष्ट्रपति शासन (अनुच्छेद 356): सरकारिया आयोग ने अनुच्छेद 356 के अनुचित उपयोग को रोकने की सिफारिश की। इसके तहत यह सुझाव दिया गया कि राष्ट्रपति शासन का उपयोग अंतिम विकल्प के रूप में ही किया जाए और इसे लागू करने से पहले सभी संवैधानिक उपायों को आजमाया जाए।

- वित्तीय संबंधः केंद्र और राज्य के बीच वित्तीय संसाधनों के संतुलन की सिफारिश की गई। आयोग ने वित्तीय संघवाद को मजबूत बनाने के लिए राज्यों को अधिक वित्तीय स्वायत्तता प्रदान करने पर जोर दिया।

- केंद्र–राज्य सहयोगः सरकारिया आयोग ने केंद्र और राज्यों के बीच अधिक सहयोग और समन्वय की आवश्यकता पर जोर दिया। इसमें राष्ट्रीय विकास के उद्देश्यों को पूरा करने के लिए सहकारी संघवाद को बढ़ावा देने का सुझाव दिया गया।

- आंतरिक सुरक्षाः आयोग ने आंतरिक सुरक्षा के मामलों में केंद्र और राज्यों के बीच अधिक समन्वय और सहयोग का सुझाव दिया, जिससे कानून और व्यवस्था को प्रभावी ढंग से बनाए रखा जा सके।

- आयकर और अन्य करः करों के बंटवारे में सुधार की सिफारिश की गई ताकि राज्यों को अधिक वित्तीय स्वायत्तता दी जा सके, साथ ही केंद्र और राज्य के बीच कराधान के वितरण में उचित संतुलन सुनिश्चित किया जा सके।

- सरकारिया आयोग की अन्य प्रमुख सिफारिशें: केंद्र–राज्य परिषद की स्थापना की सिफारिश, जिसमें विभिन्न मुद्दों पर केंद्र और राज्य सरकारों के बीच विचार–विमर्श हो सके। केंद्र द्वारा राज्यों के अधिकारों का सम्मान और अनावश्यक हस्तक्षेप से बचने की सिफारिश। क्षेत्रीय असंतुलन को दूर करने और राज्यों के बीच विकास के अंतर को कम करने के लिए नीतियां बनाने की आवश्यकता।

सरकारिया आयोग की रिपोर्ट भारतीय संघवाद को अधिक मजबूत और संतुलित बनाने के लिए एक महत्वपूर्ण दस्तावेज मानी जाती है। हालांकि, आयोग की सभी सिफारिशें लागू नहीं की गई हैं, लेकिन इसका भारतीय संघीय ढांचे के विकास में बड़ा योगदान रहा है।

सरकारिया आयोग के सामने राज्यों ने केन्द्र राज्य वित्त सम्बन्धों की आलोचना करते हुए निम्नलिखित शिकायतें प्रस्तुत की है–

- राज्यों ने यह शिकायत की कि आयकर अधिभार के एक सम्बी अवधि तक जारी रहने के कारण वे काफी राजस्व से वंचित रहे हैं जो राज्यों के साथ भागीदारी योग्य होता पदि भारत सरकार ने इसके बजाय आयकर की मूल दरों को समायोजित किया होता। कुछ राज्यों ने सुझाव दिया कि आयकर अधिभार की प्राप्तियां राज्यों के साथ भागीदारी योग्य बना दी जानी चाहिए।

- कुछ राज्यों ने आरोप लगयाा है कि संघ सरकार आयकर से राजस्व जुटाने में पर्याप्त रुचि नहीं दिखा रही है जिसका 85% इस समय राज्यों के साथ भागीदारी योग्य है। दूसरी ओर, विशेष वाहक पत्र योजना के माध्यम से संघ सरकार ने केवल अपने इस्तेमाल के लिए संसाधन जुटाये हैं जिनमें अन्यया प्रकार से राज्यों की भागीदारी होती, यदि आयकर अधिनियम को बेहतर ढंग से लागू किया जाता।

- अनेक राज्यों ने संघ द्वारा उत्पाद शुल्क बढ़ाने की बजाय जो उनके साथ भागीदारी योग्य होने, एकपक्षीय रूप में पेट्रोलियम और कोयला जैसी वस्तुओं के निर्देशित मूल्य में वृद्धि की शिकायत की।

- अनेक राज्यों ने संविधान (छठां संशोधन) अधिनियम, 1956 द्वारा अनुच्छेद 269 और 286 में हुए परिवर्तनों तथा केन्द्रीय विक्रय कर अधिनियम, 1956 की ओर ध्यान दिलाया। उनका आरोप है कि इन संशोधनों ने राज्यों के विक्रय कर की प्राप्ति पर प्रतिकूल प्रभाव डाला है जो कि उनका सर्वाधिक महत्वपूर्ण राजस्य का स्रोत है।

- वेतन में संशोधन, सेवान्त प्रसुविधाएं महैगाई भत्ते की किस्तों के दिए जाने, इत्यादि पर संघ सरकार के निर्णयों के कारण राज्यों पर उसके अनुरूप भार पड़ता है। इसे संघ की कार्यवाही के कारण राज्यों के ब्यय पर अनिश्चित भार के उदाहरण

3.3.4 प्रशासनिक सुधार आयोगः ने अनुच्छेद 283 के अन्तर्गत राज्यों को दी जाने वाली वित्तीय सहायता का सरलतम रूप प्रस्तुत किया। इस सम्बन्ध में आयोग की अनुशंसाएं इस प्रकार हैं–

- प्रथम, राज्यों को दी जाने वाली कुल केन्द्रीय सहायता की मात्रा तथ की जानी चाहिए। इसके बाद ऋण के रूप में दी जाने वाली रकम तय कर लेनी चाहिए।

- द्वितीय, इस अनुदान के वितरित करते समय वह राशि अलग कर लेनी चाहिए जो मूलभूत राष्ट्रीय महत्व की परियोजनाओं पर खर्च की जानी है। अवशिष्ट राशि को ही केन्द्रीय अनुदान के रूप में राज्यों

को वितरित किया जाना चाहिए।

- तृतीय, यदि राज्य ने किसी परियोजना को पूरा नहीं किया है तथा केन्द्रीय अनुदान की अधिक राशि खर्च कर दी है तो बाद में केन्द्रीय अनुदान की मात्रा कम की जा सकती है।
- चतुर्थ, राज्यों में केन्द्रीय पहल से संचालित होने वाली परियोजनाओं की संख्या कम होनी चाहिए और केन्द्रीय पहल की परियोजनाओं के मानदण्ड निश्चित होने चाहिए। प्रशासनिक सुधार आयोग का विचार था कि राज्यों की परियोजनाओं को दो भागों उत्पादित और गैर–उत्पादित में बांटा जाना चाहिए। योजना आयोग को ये सिद्धान्त तय करने चाहिए जिनके आधार पर परियोजना को दो भागों में बांटा जा सकता है। केवल उत्पादित परियोजना के लिए ही ऋण सहायता उपलब्ध कराई जानी चाहिए। ऐसी व्यवस्था की जानी चाहिए ताकि उस परियोजना के चालू होने पर ब्याज सहित ऋण लौटाया जा सके। केन्द्रीय सरकार अपने कर्मचारियों का महैगाई भत्ता, आदि बढ़ाती रहती है जिसका प्रभाव राज्यों के बजट पर भी पड़ता है। राज्य कर्मचारी भी केन्द्र के बराबर महैगाई भत्ते की मांग करते हैं, राज्य सरकारों को उनकी मांगों के आगे झुकना पड़ता है जिससे उन पर काफी आर्थिक भार बढ़ जाता है। आयोग का विचार है कि केन्द्रीय सरकार की नीति के कारण ही मुद्रा–प्रसार बढ़ता है. अतः राज्यों के इस प्रकार के बढ़ते हुए व्यय का भार केन्द्रीय सरकार को ही वहन करना चाहिए।

3.4 केन्द्र–राज्य संबंधों में टकराव की स्थिति

केन्द्र राज्य सम्बन्ध आज भी उतने ही खराब हैं जितने श्रीमती इन्दिरा गांधी के शासन काल में थे। श्रीमती गांधी के कार्यकाल (1984) में ये सम्बन्ध बहुत बिगड़ गए ये जब सिक्किम, जम्मू–कश्मीर व आन्ध्र प्रदेश की गैर–काग्रेस सरकारों को अपदस्थ किया गया था। तीन गैर–कांग्रेस शासित राज्यों से जो केन्द्रीय सरकार के मन्त्री थे वे इन राज्यों (आन्ध्र, प. बंगाल, कर्नाटक) के मुख्यमन्त्रियों के खिलाफ बन्दूक ही ताने रहते थे। नवम्बर 1987 में प्रधानमन्त्री ने त्रिपुरा की कई सभाओं में भाषण किया और नृपेन चक्रवर्ती की सरकार के खिलाफ टीका–टिप्पणी की। भाजपा, माकपा व तेलुगुदेशम् के सदस्यों ने राज्यसभा में उनके राज्यों के प्रति केन्द्र की उपेक्षा के प्रति नाराजगी प्रकट की। कर्नाटक, पश्चिम बंगाल व आन्ध्र प्रदेश में कई विकास योजनाएं इस वजह से रुकी हुई थीं कि केन्द्र ने स्वीकृति नहीं भेजी। राज्य विधानसभा में स्वीकृत विधेयकों पर राष्ट्रपति के अनुमोदन के सम्बन्ध में भी ऐसे ही हाल रहे। इन विधेयकों को गृह मन्त्रालय में अटका दिया जाता था। कुछ मामलों में तो राज्यपाल ही विधेयकों को दवा कर बैठ जाते थे। आन्ध्र प्रदेश की राज्यपाल कुमुदवेन जोशी के बारे में ऐसी ही शिकायत की गई। कर्नाटक की बोम्बई सरकार (1989) को बर्खास्त करके राज्यपाल वेंकटसुब्बैया ने केन्द्रीय सरकार के सूबेदार की भूमिका का ही परिचय दिया। पर्यवेक्षकों के अनुसार अब देश में टकराव का वातावरण फिर पैदा हो रहा है। कावेरी जल विवाद और अयोध्या में मन्दिर निर्माण का मसला टकराव के उभरते मुद्दे रहे हैं। 1992 में भाजपा शासित राज्यों–राजस्थान, हिमाचल प्रदेश और मध्य प्रदेश की सरकारों को बर्खास्त करके नरसिम्हा राय सरकार ने केन्द्र राज्य टकराव को और अधिक प्रखर कर दिया। 21 फरवरी 1998 को उत्तर प्रदेश के राज्यपाल रोमेश भण्डारी ने षड्यंत्र के तहत् भाजपा मुख्यमन्त्री कल्याण सिंह को वर्खास्त कर जगदम्बिका पाल को सदन में शक्ति परीक्षण के बिना ही मुख्यमन्त्री पद की तुरत–फुरत शपथ दिला दी। इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने राज्यपाल की कार्यवाही को अनुचित बताते हुए रोक लगा दी। शक्ति परीक्षण में जीतने के बाद मुख्यमन्त्री कल्याण सिंह ने राज्यपाल रोमेश भण्डारी को हटाने की मांग दोहराई। प्रधानमन्त्री इन्द्र कुमार गुजराल ने राष्ट्रपति को अपनी मजबूरी बताई कि उनके मन्त्रिमण्डल के अधिकांश सदस्य भण्डारी को पद से हटाने के पक्ष में नहीं हैं। केन्द्र में भाजपा सरकार बनने के आसार देखते हुए रोमेश भण्डारी ने 16 मार्च, 1998 को बर्खास्तगी के भय से त्यागपत्र दे दिया। तमिलनाडु की मुख्यमन्त्री जयललिता के निर्देशानुसार 30 जून, 2001 को राज्य में दो केन्द्रीय मन्त्रियों की गिरफ्तारी और राज्य सरकार को केन्द्र द्वारा चेतावनी जारी करना केन्द्र राज्य सम्बन्धों में टकराव के विकृत संकेत कहे जा सकते हैं। राज्यपाल बूटासिंह ने बिहार में राष्ट्रपति शासन लागू करने की जो अनुशंसा 21 मई, 2005 को केन्द्रीय सरकार से की उसके बारे में उच्चतम न्यायालय में चुनौती देने वाली याचिका में कहा गया कि राज्यपाल ने दुर्भावना के साथ रिपोर्ट तैयार की और उच्चतम न्यायालय ने 7 अक्टूबर, 2005 को बिंहार विधानसभा भंग करने को असंवैधानिक ठहराया। यह सच है कि केन्द्रीय सरकार की अपेक्षाकृत शक्तिशाली स्थिति ने राज्य सरकारों की स्थिति को प्रभावित किया है, किन्तु फिर भी राज्य केन्द्रीय सरकार की प्रशासनिक इकाइयां मात्र नहीं हैं। ग्रेनविल ऑस्टिन लिखते हैं, भारत

नई दिल्ली नहीं है बल्कि राज्यों की राजधानियां भी है। राज्य केन्द्रीय सहायता के आकांक्षी हैं, किन्तु राज्यों के सहयोग के बिना संघ बहुत दिनों तक कायम नहीं रह सकता। राज्य सरकारें केन्द्रीय सरकार की नीतियों का माध्यम हो सकती है, किन्तु उनकी सहायता के बिना केन्द्रीय सरकार अपनी योजनाओं को क्रियान्वित नहीं कर सकती। वस्तुत दोनों ही एक–दूसरे पर निर्भर हैं। उपर्युक्त विचार–विमर्श से स्पष्ट होता है कि सुदृढ़ केन्द्र के वावजूद झुकाव केन्द्र और राज्यों के वीच सहयोगी साझेदारी के सम्बन्ध की ओर है। सहयोगी सम्बन्ध में स्वतन्त्रता और परस्पर निर्भरता दोनों होती हैं और यही समकालीन संघवाद की विशिष्टता है।

3.5 निष्कर्षः

केन्द्र–राज्य संबंधों के विभिन्न पक्षों के विश्लेषण के से यह स्पष्ट होता है कि यह भारतीय संविधान के संरचनात्मक स्वरूप को निश्चित करता है। केन्द्र राज्य संबंधों के सहयोगात्मक पक्ष को मजबूत करने में भारतीय राजनीति के व्यावहारिक पक्षों के साथ ही कुछेक ऐसे पहलू हैं जिसने इनके बीच विवादों को अत्यधिक गंभीर किया है तो साथ ही सांविधानिक प्रावधानों ने केन्द्र राज्य संबंधों में संतुलन बनाने का प्रयास भी किया है। इस अध्याय के व्याख्या एवं विश्लेषण से हमने यह समझा कि सांविधानिक प्रावधानों से इतर राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं ने केन्द्र–राज्य संबंधों को अधिक जटिल बनाया है। यह भी देखने को मिला कि राज्य के अपरिपक्व निर्णयों के बानगी में केन्द्र राज्य संबंधों को समझने का प्रयास किया जा सकता है। केन्द्र की बहुत सारी नीतियों ने यह प्रदर्शित किया की संघीय ढांचे को बनाए रखने में केन्द्रीय सरकार की सकारात्मक मंशा अपरिहार्य रूप से आवश्यक है।

संघीय ढांचे से संबंधित संवैधानिक प्रावधानों की उपादेयता तभी तक है जब तक कि केन्द्रीय सरकार राज्यों से सहयोगात्मक रवैया अपनाकर नीतियों का निर्माण एवं क्रियान्वयन करता है। केन्द्रीय सरकार को दलीय भावना को सकारात्मक आकार में ढालते हुए राज्यों के साथ पक्षपात रहित व्यवहार करने के लिए आगे आने की आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे प्रयासों के माध्यम से केन्द्र राज्य के बीच के तनावों को कम किया जा सकता है। इसमें मुख्य रूप से राज्यपालों की नियुक्ति करते समय संबंधित राज्य के मुख्यमन्त्री से परामर्श अवश्य किया जाना चाहिए क्योंकि राज्यपाल केन्द्र और राज्य के मध्य कड़ी के रूप में कार्य करता है। अखिल भारतीय सेवाएँ केन्द्र और राज्यों के बीच तनाव उत्पन्न न कर सकें, इसके लिए उनकी सेवा शर्तों में संशोधन किया जाना चाहिए और राज्य सरकारों का उन पर प्रभावशाली नियन्त्रण स्थापित किया जाना चाहिए। केन्द्रीयकरण की बढ़ती हुई प्रवृत्ति को रोकने के लिए राज्यों के नेता और अधिक अधिकारों की माँग कर रहे राज्यों के दायित्व निरन्तर बढ़ते जा रहे हैं, उन्हें कल्याणकारी और विकास सम्बन्धी योजनाओं का क्रियान्वयन करना होता है। उनकी आय के स्रोत बहुत कम हैं, ऐसी स्थिति में संविधान का पुनर्निरीक्षण होना चाहिए और उन्हें आर्थिक एवं वित्तीय मामलों में स्वायत्तता प्रदान की जानी चाहिए। अनुच्छेद 356 का प्रयोग बहुत कम अवसरों पर तथा अत्यावश्यक मामलों में ही अन्तिम उपाय के रूप में उस समय किया जाना चाहिए, जब अन्य उपलब्ध सभी विकल्पों से राज्य में सांविधानिक तन्त्र को भंग होने से रोका न जा सके या उसमें कोई सुधार न किया जा सके। केन्द्र सरकार को राज्य सरकार द्वारा किये गये अनुरोध से भिन्न सिविल शक्ति की सहायतार्थ राज्य में सशस्त्र बलों तथा अन्य बलों को परिनियोजित करने अथवा राज्य में 'उपद्रवग्रस्त क्षेत्र' घोषित करने से पहले यह वांछनीय है कि जहाँ कहीं भी सम्भव हो राज्य सरकार से परामर्श किया जाय और उसका सहयोग प्राप्त किया जाए।

3.6 शब्दावलीः

संघीय व्यवस्था	एक ऐसी शासन प्रणाली जिसमें सत्ता का विभाजन केंद्र और राज्यों के बीच किया जाता है, ताकि दोनों स्तरों पर सरकारें अपने–अपने क्षेत्रों में कार्य कर सकें।
सहकारी संघवाद	यह संघवाद की वह अवधारणा है जिसमें केंद्र और राज्य सरकारें मिलकर कार्य करती हैं, एक–दूसरे के सहयोग से नीतियां बनाती और लागू करती हैं, ताकि देश का विकास हो सके।
वित्त आयोग	यह एक संवैधानिक निकाय है जो केंद्र और राज्य सरकारों के बीच करों और अन्य वित्तीय संसाधनों के वितरण की सिफारिश करता है।

	इसका गठन हर पांच वर्ष में किया जाता है।
राज्यपाल	राज्यपाल राज्य का संवैधानिक प्रमुख होता है, जिसे केंद्र सरकार द्वारा नियुक्त किया जाता है। वह केंद्र और राज्य सरकार के बीच सेतु का काम करता है और राज्य में संवैधानिक व्यवस्था बनाए रखने में सहायक होता है।
राज्य पुनर्गठन आयोग	यह आयोग राज्यों की सीमाओं के पुनर्गठन और नई राज्यों की स्थापना से संबंधित मुद्दों पर विचार करता है। इसका उद्देश्य भाषाई, सांस्कृतिक, और आर्थिक आधार पर राज्यों का गठन सुनिश्चित करना है।
क्वासी—फेडरलिज्म	यह उस संघीय ढांचे को संदर्भित करता है जिसमें संघीय प्रणाली के बावजूद केंद्र सरकार को अधिक शक्तियां होती हैं। भारत में संघवाद को इसी प्रकार का माना जाता है, क्योंकि यह केंद्र—प्रधान संघवाद है।
आर्थिक योजना आयोग	केंद्र सरकार का वह निकाय जो विभिन्न राज्यों के लिए आर्थिक योजनाओं और संसाधनों का आवंटन करता था। 2015 में इसे नीति आयोग से प्रतिस्थापित किया गया।
नीति आयोग	यह केंद्र सरकार का थिंक टैंक है जो राज्य सरकारों के साथ मिलकर नीति निर्माण और विकास योजना तैयार करता है। इसका उद्देश्य सहकारी संघवाद को बढ़ावा देना है।

3.7 महत्वपूर्ण बोध प्रश्न

- भारतीय संविधान में केंद्र और राज्य के बीच शक्तियों के विभाजन के लिए कितनी सूचियाँ हैं?
- केंद्र और राज्यों के बीच वित्तीय संबंधों को नियंत्रित करने के लिए किस संवैधानिक निकाय की स्थापना की गई है?
- केंद्र—राज्य संबंधों की समीक्षा करने के लिए गठित सरकारिया आयोग की प्रमुख सिफारिशों में से कोई दो बताइए।
- भारतीय संघीय व्यवस्था में राज्यपाल की भूमिका क्या होती है, और उसे कौन नियुक्त करता है?
- राष्ट्रपति शासन को लागू करने के लिए भारतीय संविधान में किस अनुच्छेद का प्रावधान है?
- अनुच्छेद 262 के तहत केंद्र सरकार किस प्रकार के विवादों को सुलझाने के लिए कानून बना सकती है?
- वित्तीय आपातकाल किस अनुच्छेद के तहत घोषित किया जा सकता है, और इसके क्या प्रभाव होते हैं?
- संविधान के किस अनुच्छेद के तहत केंद्र और राज्यों के बीच विवादों का निपटारा सर्वोच्च न्यायालय द्वारा किया जाता है?

3.8 संदर्भ ग्रन्थ

Books

1. **Austin, Granville**. *The Indian Constitution: Cornerstone ofA Nation*. Oxford University Press, 1966.

- This book providesAn insightfulAnalysis of the making of the Indian ConstitutionAnd its provisions, including Centre-State relations.

2. **Austin, Granville**. *WorkingS Democratic Constitution: The Indian Experience*. Oxford University Press, 1999.
   - A follow-up to his earlier work, this book delves into how the Indian Constitution, especially federalism, has functioned since its inception.
3. **Kashyap, Subhash C.**. *Our Constitution:An Introduction to India's ConstitutionAnd Constitutional Law*. National Book Trust, 2011.
   - AnAccessible guide to the Indian Constitution, covering the federal structureAnd Centre-State dynamics.
4. **Jain, M.P.**. *Indian Constitutional Law*. Lexis Nexis, 2013.
   - A comprehensive book on Indian constitutional law that discusses the legSl framework of Centre-State relations in great detail.
5. **Singh, M.P. & Verney, Douglas V.** (Eds.). *Indian Federalism in the New Millennium*. Manohar Publishers, 2003.
   - This book focuses on the evolutionAnd transformation of Indian federalism in the context of political, economic,And social changes.
6. **Kohli,Atul**. *The StateAnd Poverty in India: The Politics of Reform*. Cambridge University Press, 1987.
   - A political scienceApproach to understanding Centre-State relations, particularly in the context of economic reformsAnd povertyAlleviation.
7. **Dua, B.D. & M.P. Singh**. *Indian Federalism in the Context of Globalization*. Manohar, 2001.
   - Examines how globalization hasAffected Centre-State relationsAnd governance structures in India.
8. **Wheare, K.C.**. *Federal Government*. Oxford University Press, 1963.
   - A classic text on the theory of federalism that provides comparative insights relevant to understanding Indian federalism.
9. **Rao, Bhaskara**. *Indian FederalismAnd Centre-State Relations*. Kanishka Publishers, 1999.
   - A focused work on the complexitiesAnd legSl framework governing Centre-State relations in India.
10. **Singh, M.P.**. *Federalism, NationalismAnd Development: IndiaAnd the Punjab Economy*. Routledge, 2019.
    - A contemporary lookAt Centre-State relations from the perspective of economic policiesAnd regional development, especially Punjab.

Government Reports

1. **Sarkaria Commission Report** (1988). *Report of the Commission on Centre-State Relations*.
   - A landmark report commissioned to review Centre-State relationsAnd recommend changes forA more balanced federal system.

2. **Punchhi Commission Report** (2010). *Report of the Commission on Centre-State Relations*.

   - A follow-up to the Sarkaria Commission, this report offers recommendations for improving Centre-State relations inA more globalizedAnd decentralized political landscape.

JournalArticlesAnd Papers

1. **Rudolph, Lloyd I.And Susanne Hoeber Rudolph**. "The Iconization of Chandrababu: Sharing Sovereignty in India's Federal Market Economy." *EconomicAnd Political Weekly*, vol. 34, no. 18, 1999, pp. 1134-1145.

   - AnArticle exploring the evolving role of state-level leadershipAnd Centre-State relations in India's market economy.

2. **Singh, M.P.** "Challenges to Indian Federalism." *India Quarterly:A Journal of InternationalAffairs*, vol. 66, no. 2, 2010, pp. 125-142.

   - Discusses the various challenges that Indian federalism faces in the contemporary political environment.

3. **Chhibber, PradeepAnd Kollman, Ken**. "The Formation of National Party Systems: FederalismAnd Party Competition in Canada, Great Britain, India,And the United States."A*merican Journal of Political Science*, vol. 42, no. 4, 1998, pp. 1006-1033.

   - A comparative study of federal systems, including India,And how Centre-State dynamics shape political competition.

4. **Jha, Pranav Kumar**. "Reforming Centre-State Relations in India: The Role of the Finance Commission." *Journal of FederalismAnd Governance*, vol. 3, no. 1, 2015.

   - Discusses the financialAspects of Centre-State relationsAnd the role of the Finance Commission inAddressing fiscal imbalances.

Edited Volumes

1. **Singh, M.P. & Saxena, Rekha** (Eds.). *Indian Politics: Constitutional FoundationsAnd Institutional Functioning*. PHI Learning, 2011.

   - A collection of essays that cover the constitutionalAnd institutional framework of Indian politics, withA strong focus on Centre-State relations.

2. **Narain, Iqbal (Ed.)**. *State Politics in India*. Meenakshi Prakashan, 1976.

   - This edited volume providesAnAnalysis of the politics of various Indian statesAnd their interactions with the Centre.

3. **Verney, Douglas V. &Arora, Balveer (Eds.)**. *Multiple Identities inA Single State: Indian Federalism in Comparative Perspective*. Konark Publishers, 1995.

   - A comparativeAnalysis of Indian federalism withinA global context, emphasizing the complexity of Centre-State relations.

इकाई–4 भारत में राज्य स्वायत्तता की मांग : संघवादी व्यवस्था का मूल्यांकन

इकाई की रूपरेखा

4.1 उद्देश्य

4.2 प्रस्तावना

4.3 राज्यों की स्वायत्तता का अर्थ

4.4 भारत में राज्य स्वायत्तता की मांगः–विविध आयाम

4.5 राज्य स्वायत्तता के समर्थन में तर्क

4.6 राज्य स्वायत्तता के विपक्ष में तर्क

4.7 राज्यों पर केन्द्रीय नियन्त्रण के उपकरण

4.7.1 अनुच्छेद 356

4.7.2 संसद द्वारा राज्य सूची के विषयों पर कानून बनाने का अधिकारः (अनुच्छेद 249)

4.7.3 राज्य सूची के विषयों पर राज्यों की सहमति से कानून बनाना (अनुच्छेद 252)

4.7.4 अनुच्छेद 356ः आपातकालीन प्रावधान (राष्ट्रीय आपातकाल)

4.7.5 अनुच्छेद 360ः वित्तीय आपातकाल

4.7.6 राज्यपाल की भूमिका

4.7.7 संविधान के समवर्ती सूची में केंद्र की प्राथमिकता

4.7.8 वित्तीय नियंत्रण (वित्त आयोग और अनुदान)

4.7.9 आंतरिक सुरक्षा कानून (एनआईए और अन्य कानून)

4.8 निष्कर्ष

4.9 महत्वपूर्ण शब्दावली

4.10 महत्वपूर्ण बोध प्रश्न

4.11 संदर्भ सूची

4.1 उद्देश्य

भारतीय संघवाद का एक प्रमुख उद्देश्य यह सुनिश्चित करना है कि राज्यों को उनके क्षेत्रीय, सांस्कृतिक और सामाजिक पहचान को बनाए रखने के लिए राज्यों को स्वायत्तता प्रदान की जाए। भारत जैसे विशाल और विविध देश में हर राज्य की अपनी विशेषताएं और आवश्यकताएं हैं। राज्य स्वायत्तता की मांग इसी आवश्यकता की ओर संकेत करती है। इसका उद्देश्य यह सुनिश्चित करना है कि राज्यों को उन विषयों पर स्वतंत्र निर्णय लेने का अधिकार हो, जो उनकी क्षेत्रीय और सांस्कृतिक पहचान से जुड़े हैं, जैसे शिक्षा, कृषि, और स्थानीय शासन।

संघीय ढांचे में एक महत्वपूर्ण उद्देश्य केंद्र और राज्यों के बीच शक्ति का संतुलन बनाए रखना है। भारतीय संविधान की सातवीं अनुसूची राज्यों को अपनी नीतियों और विकासात्मक योजनाओं को प्रभावी ढंग से लागू करने की स्वतंत्रता देता है। राज्यों की स्वायत्तता की मांग का एक महत्वपूर्ण पक्ष यह है कि राज्यों को पर्याप्त वित्तीय अधिकार दिए जाएं ताकि वे अपने संसाधनों का प्रबंधन कर सकें और अपनी विकासात्मक प्राथमिकताओं के अनुसार नीतियाँ बना सकें। वर्तमान में केंद्र सरकार के पास अधिकांश वित्तीय अधिकार हैं और राज्यों को केंद्र द्वारा वित्तीय सहायता पर निर्भर रहना पड़ता है। इसलिए राज्य स्वायत्तता की मांग का उद्देश्य

वित्तीय विकेंद्रीकरण को मजबूत करना है, जिससे राज्य अपने विकास कार्यों को स्वतंत्र रूप से संचालित कर सकें।

राज्य स्वायत्तता की मांग का एक और महत्वपूर्ण उद्देश्य यह है कि संवैधानिक मर्यादाओं और सिद्धांतों का पालन किया जाए। यह सुनिश्चित करना आवश्यक है कि संविधान द्वारा निर्धारित संघीय ढांचे का उल्लंघन न हो और केंद्र अपनी शक्तियों का दुरुपयोग न करे। जैसे कि अनुच्छेद 356 के तहत राष्ट्रपति शासन का प्रावधान, जिसे कई बार राजनीतिक उद्देश्यों के लिए उपयोग किया गया है, राज्य स्वायत्तता के संदर्भ में संवेदनशील मुद्दा है। राज्य स्वायत्तता की मांग का उद्देश्य यह सुनिश्चित करना है कि इस तरह के प्रावधानों का उचित और सीमित उपयोग हो, जिससे राज्यों की स्वायत्तता सुरक्षित रहे। राज्य स्वायत्तता की मांग संविधान में सुधार की आवश्यकता की ओर संकेत करती है, ताकि केंद्र–राज्य संबंधों को अधिक समतुल्य, पारदर्शी और प्रभावी बनाया जा सके। सरकारिया आयोग और पंची आयोग ने केंद्र–राज्य संबंधों में सुधार के लिए महत्वपूर्ण सिफारिशें दी हैं, जो संघीय ढांचे को अधिक मजबूत और विकेंद्रित बनाने में सहायक हो सकती हैं।

4.2 प्रस्तावना

भारत का संघीय ढांचा विविधता में एकता की अवधारणा पर आधारित है, जहां विभिन्न सांस्कृतिक, भाषाई और सामाजिक संरचनाओं वाले राज्यों को एक संयुक्त राजनीतिक व्यवस्था के अंतर्गत लाया गया है। भारतीय संविधान एक अर्ध–संघीय या "क्वासी–फेडरल" ढांचे की व्यवस्था करता है, जिसमें संघीय और एकात्मक दोनों तत्व विद्यमान हैं। केंद्र और राज्यों के बीच शक्ति का विभाजन संविधान की सातवीं अनुसूची में तीन सूचियों–संघ सूची, राज्य सूची और समवर्ती सूची के आधार पर किया गया है। इसके साथ ही केंद्र को आपातकालीन परिस्थितियों में अतिरिक्त अधिकार भी प्राप्त हैं, जो इस संघीय ढांचे को एकात्मक बनाते हैं। यद्यपि यह संरचना राज्यों को कुछ हद तक स्वायत्तता प्रदान करती है, समय–समय पर राज्यों द्वारा अधिक स्वायत्तता की मांग की जाती रही है।

राज्य स्वायत्तता की मांग के पीछे कई कारण हैं, जिनमें प्रमुख हैं सांस्कृतिक पहचान, आर्थिक असंतुलन और केंद्र द्वारा शक्ति का अत्यधिक केंद्रीकरण। भारत की राजनीतिक और सामाजिक संरचना अत्यधिक विविध है, जिसमें प्रत्येक राज्य की अपनी अलग भाषा, संस्कृति और परंपराएँ हैं। यह विविधता राज्यों के लिए विशिष्ट अधिकारों और शक्तियों की मांग को जन्म देती है ताकि वे अपनी सामाजिक और सांस्कृतिक पहचान को सुरक्षित रख सकें। इसके अतिरिक्त वित्तीय असंतुलन भी राज्य स्वायत्तता की मांग का एक महत्वपूर्ण कारण रहा है। केंद्र के पास अधिकांश वित्तीय संसाधन होने के कारण राज्य आर्थिक विकास के लिए केंद्र पर निर्भर रहते हैं। राज्यों की वित्तीय स्वतंत्रता की कमी के कारण वे अपने क्षेत्रीय विकास और सामाजिक कल्याण के कार्यक्रमों को स्वतंत्र रूप से लागू नहीं कर पाते हैं। यह स्थिति विशेष रूप से उत्तर–पूर्वी राज्यों और दक्षिण के कुछ राज्यों में अधिक स्पष्ट है, जहां आर्थिक और सामाजिक पिछड़ापन केंद्र की नीतियों के प्रति असंतोष को जन्म देता है।

भारत में केन्द्र और राज्यों के बीच शक्तियों का वितरण आरम्भ से ही वाद–विवाद का विषय रहा है। संविधान–निर्मात्री सभा में भी अनेक सदस्यों की ओर से यह आपत्ति उठाई गई थी कि शक्ति–विभाजन की यह योजना भारतीय संघ के इकाई राज्यों को 'नगरपालिकाओं' का स्थान प्रदान करती है। संविधान लागू होने के बाद भी भारतीय संविधान की संघात्मकता को सन्देह की दृष्टि से देखा जाता रहा है और राज्य सरकारों की सीमित शक्तियों को दृष्टि में रखते हुए कुछ संविधानशास्त्री उसे एक संघीय संविधान स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं।

संविधान द्वारा केन्द्र सरकार को विस्तृत शक्तियां प्रदान की गई हैं और राज्यों को निःसन्देह कम शक्तिशाली बनाया गया है। संविधान लागू होने के बाद से 1967 के चतुर्थ आम चुनाव तक भारत में केन्द्र और राज्य सरकारों के बीच मैत्रीपूर्ण सम्वन्ध रहे और उनके बीच कोई विशेष संवैधानिक गतिरोध उत्पन्न नहीं हुआ जिसका मूल कारण केन्द्र और अधिकांश राज्यों में एक ही राजनीतिक दल (कांग्रेस दल) का सत्तारूढ़ होना था। सन् 1967 के आम चुनावों ने एकदलीय आधिपत्य का अन्त कर दिया और भारतीय संघ के आठ घटक राज्यों में कांग्रेस दल को बहुमत प्राप्त न हो सका फलस्वरूप इन राज्यों में गैर–कांग्रेसी मिली–जुली सरकारों का निर्माण हुआ जिसके पश्चात् केन्द्र और राज्यों के बीच शक्तियों के वितरण और सामंजस्य की समस्या उत्पन्न

हुई। राज्य सरकारों की ओर से स्वायत्तता की मांग की गई और यह मांग तमिलनाडु में अपनी चरम सीमा पर पहुंच गई जहां द्रविड़ मुनेत्र कड़गम (डी. एम. के.) जैसे प्रादेशिक दल ने भारतीय संघ से पृथक् होने की धमकी दी और यह नारा दिया कि "भारत भारत वालों के लिए और तमिलनाडु तमिल लोगों के लिए।"

1977 के लोकसभा एवं राज्य विधानसभाओं के निर्वाचनों का विलक्षण परिणाम रहा केन्द्र में सत्तारूढ़ पार्टी से भिन्नता रखने वाली पार्टियों का राज्यों में उदय। फलस्वरूप केन्द्र–राज्य सम्बन्ध पर नए सिरे से बहस महत्वपूर्ण हो गई। राज्यों में शासन करने वाली पार्टियां केन्द्र से और अधिक स्वतन्त्र होने की मांग करने लगीं। राज्यों की केन्द्र पर अत्यधिक वित्तीय निर्भरता की स्थिति ने एक बड़ी सीमा तक सत्ता के केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति को बढ़ायाः अतः केन्द्र पर राज्यों की वित्तीय निर्भरता दूर करने के लिए पश्चिम बंगाल की वामपन्थी सरकार ने मांग की कि केन्द्र के राजनीतिक और आर्थिक अधिकारों में कमी करके राज्यों को अधिक–से–अधिक स्वायत्तता प्रदान की जाए।

4.3 राज्यों की स्वायत्तता का अर्थ

भारतीय संघ में राज्यों की स्वायत्तता से अभिप्राय है कि राज्यों के आन्तरिक मामलों में केन्द्रीय सरकार की दखलन्दाजी कम हो तथा संविधान द्वारा प्रदत्त विषयों पर उन्हें निरपेक्ष सत्ता प्रयोग करने का अधिकार हो। राज्यों को अपने कार्यक्षेत्र में पूर्व स्वायत्त बनाया जाए ताकि वे जनकल्याण के कार्यों को अपनी योजनाओं और विचारों के अनुसार स्वतन्त्र रूप से कार्य कर सकें। यह स्वायत्तता वित्तीय क्षेत्र में लगभग पूरी होने के साथ केन्द्र की राजनीतिक और प्रशासनिक शक्तियां भी न्यूनतम रहे। उसका कार्य विदेश सम्बन्ध रक्षा मुद्रा और जनसंचार के विषयों तक सीमित और संकुचित कर दिया जाए। उसकी कराधान की शक्ति साथ अतरिक्त शक्ति प्रदान की जाए जिससे वे साधनों के अभाव में अपने को असहाय और अप्रभावशाली महसूस न कर सकें। राज्यों को अपने निश्चित क्षेत्र में स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करने का अधिकार ही स्वायत्तता है।

कर्नाटक के भूतपूर्व मुख्यमन्त्री स्व. देवराज अर्स के शब्दों में "आज की संघीय सरकार अपने कमजोर राजनीतिक चरित्र के कारण बड़े भागीदार की भूमिका निभाने में असमर्थ है।'' जिन परिस्थितियों के कारण संविधान–निर्माताओं ने एकात्मकता की ओर झुकाव रखा था, वे परिस्थितियां बदल चुकी हैं। अब संविधान में संशोधन करके केन्द्र और राज्यों को संघवादी ढांचे में 'समान और स्वायत्त बनाया जाना चाहिए।' इसी से भारतीय संघ व्यवस्था प्रभावशाली ढंग से काम करेगी।

4.4 भारत में राज्य स्वायत्तता की मांगः–विविध आयाम

भारत में मार्क्सवादी दल, अकाली दल, नेशनल कॉन्फ्रेंस, तेलुगुदेशम् तथा अखिल भारतीय द्रविड़ मुनेत्र कड़गम दलों द्वारा शासित राज्यों ने समय–समय पर केन्द्रीय सरकार के अधिकारों में कटौती करके राज्य सरकारों के अधिकारों में वृद्धि किए जानें की मांग प्रस्तुत की गई है। जनता पार्टी के शासन काल में गैर–जनता पार्टी के मुख्यमन्त्रियों, जैसे ज्योति बसु, प्रकाशसिंह बादल, शेख अब्दुल्ला, एम. जी. रामचन्द्रन, देवराज अर्स आदि ने मांग की कि केन्द्र व राज्यों के सम्बन्धों में सन्तुलन की नियति होनी चाहिए और केन्द्र के पास कुछ अधिकारों को छोड़कर शेष सभी अधिकार राज्यों के पास होने चाहिए अर्थात् राज्यों को स्वायत्तशासी बनाया जाए।

पश्चिम बंगाल की मार्क्सवादी सरकार स्वायत्तता की मांग का बिगुल बजाने में अगुआ बनी हुई है। इसी उद्देश्य से वहां क सरकार ने एक विस्तृत मसविदा (Memorandum) तैयार किया और इस मसविदे को पश्चिम बंगाल के मन्त्रिमण्डल में स्वीकार कर अन्य राज्य सरकारों तथा केन्द्र की तात्कालिक मोरारजी देसाई सरकार को भेजा। राज्यों की स्वायत्तता के सन्दर्भ में पश्चिम बंगाल के मुख्यमन्त्री ज्योति बसु ने तात्कालिक प्रधानमन्त्री मोरारजी देसाई से भी बातचीत की और सुझाव दिया कि सभी मुख्यमन्त्रियों का सम्मेलन बुलाया जाए तथा इस पर राष्ट्रीय बहस चलाने हेतु वातावरण बनाया जाए। इस संदर्भ में निम्नलिखित सुझाव महत्वपूर्ण हैंः–

- भारतीय संघ को 'राज्यों की स्वायत्तता के सन्दर्भ में प्रस्तुत मसविदे में परिसंघ' घोषित किया जाए।
- राज्य विधानसभाएं जो कानून पास करें उनमें किसी प्रकार की केन्द्रीय अनुमति की आवश्यात नहीं हो।
- राज्यों में कभी भी राष्ट्रपति शासन लागू न किया जाए। संविधान के अनुच्छेद 356 और 357 को जिसके

अंतर्गत भारतीय संघ के राष्ट्रपति को राज्यों की विधानसभाओं को भंग करने का अधिकार प्राप्त है समाप्त किया जाए।

- लोकसभा के समान राज्यसभा का प्रत्यक्ष निर्वाचन कराया जाए और तीस लाख से अधिक जनसंख्या वाले राज्यों को राज्यसभा में समान प्रतिनिधित्व देना होगा।
- कुल राष्ट्रीय राजस्व का 75 प्रतिशत भाग राज्य सरकारों को व्यय हेतु प्रदान किया जाए।
- भारत में राज्य स्वायत्तता की मांग संघवादी व्यवस्था का मूल्यांकन के सभी कर्मचारी राज्य सरकार के अधीन होंगे। राज्य में आई.ए.एस. (भारतीय प्रशासनिक सेवा) तथा आई.पी.एस. (भारतीय पुलिस सेवा) अधिकारी न हों और इन पदों को समाप्त किया जाए अथवा आई.ए.एस., आई.पी.एस. व सी.आर.पी. (केन्द्रीय आरक्षी दल) जैसी सेवाओं को राज्य के अधीन किया जाए।
- राज्यों में स्वशासन के अधिकार के संरक्षण के लिए संविधान के अनुच्छेद 248 में इस प्रकार संशोधन किया जाए जिससे किसी भी महत्वपूर्ण विषय पर कानूनन राज्य विधानसभाओं का पूर्ण अधिकार बना रहे।
- संविधान के अनुच्छेद 249 को रद्द किया जाना चाहिए।
- योजना आयोग की कार्यप्रणाली में भी फेर–बदल किया जाना चाहिए।
- राज्यों को कर लगाने और वसूल करने का अधिकार पूर्ण रूप से मिलना चाहिए।
- केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल के वाणिज्य सम्बन्धित संविधान के अनुच्छेद 302 में निहित अधिकारों को खत्म करना चाहिए।
- संविधान के अनुच्छेद 200 तथा 201 को भी खत्म किया जाए।
- राज्य की क्षमतानुसार राज्य विधानसभाओं को केन्द्र के समकक्ष सार्वभौम क्षमता मिलनी चाहिए।

पश्चिम बंगाल के मार्क्सवादी वित्तमन्त्री अशोक मित्रा ने आर्थिक स्वायत्तता के समर्थन में जोरदार तर्क दिए। उन्होंने कहा कि केन्द्र को सभी प्रत्यक्ष करों और अधिकांश अप्रत्यक्ष करों के नियन्त्रण का अधिकार है। केन्द्र के पास विदेशी मुद्रा का सुरक्षित कोष भी है जिससे वह अपने घाटे की वित्त व्यवस्था को कम कर सकता है जबकि वह विदेशी मुद्रा राज्यों द्वारा पैदा की जाती है। उन्होंने यह भी कहा कि जनता पार्टी के नए कार्यक्रम में ग्रामीण विकास पर जोर दिया गया है जो राज्यों द्वारा कार्यान्वित होगा। यदि राज्यों को अधिक वित्तीय शक्तियां नहीं दी गईं तो उन्हें उत्तरदायित्व देने का कोई लाभ नहीं होगा।

राज्य स्वायत्तता के दूसरे प्रमुख समर्थक थे जम्मू–कश्मीर राज्य के भूतपूर्व मुख्यमन्त्री स्व. शेख अब्दुल्ला जिन्होंने दिल्ली में आयोजित एक संवाददाता सम्मेलन में कहा कि 'भारतीय संविधान की धारा 370 को सभी राज्यों पर लागू किया जाए और राज्यों को अधिक–से–अधिक अधिकार दिए जाएं ताकि राज्य सरकारें समस्याओं के निपट सकने में सक्षम हों। पंजाब के पूर्व अकाली मुख्यमन्त्री प्रकाशसिंह बादल के अभिमत में केन्द्र की सुदृढ़ता राज्यों की सुदृढ़ता पर निर्भर करती है। अकाली दल ने अपने चुनावी घोषणा–पत्र में भी राज्यों की अधिक स्वायत्तता का समर्थन इस आधार पर किया था कि राज्य ही लोक–कल्याण एवं सामाजिक विकास की योजनओं को क्रियान्वित करने वाले निकाय है, अतः उन्हें स्वायत्त बनाना चाहिए।

तमिलनाडु की डी.एम.के. और अन्ना डी.एम.के. सरकारें भी राज्य स्वायत्तता की प्रबल समर्थक रही हैं। आन्ध्र की तेलुगुदेशम् और कर्नाटक की जनता पार्टी सरकार भी राज्य–स्वायत्तता की मांग कर रही थीं। पंजाब के अकाली दल द्वारा उग्र आन्दोलन प्रारम्भ किया गया और आन्दोलन में एक मांग यह थी कि उनके द्वारा 1973 में पारित 'आनन्दपुर साहिब प्रस्ताव' को स्वीकार किया जाए। इस प्रस्ताव में एक मांग यह की गई है कि केन्द्र सरकार का अधिकार देश की प्रतिरक्षा, वैदेशिक सम्बन्ध, संचार, रेलवे और मुद्रा तक ही सीमित रहना चाहिए। उपर्युक्त परिस्थितियों के सन्दर्भ में केन्द्र–राज्य सम्बन्धों पर पुनर्विचार के लिए विकास की योजनाओं को क्रियान्वित करने वाले निकाय हैं, अतः उन्हें स्वायत्त बनाना चाहिए। राज्य निर्धारित राज्यों की स्वायत्तता के

सिद्धान्त और व्यवहार को अपनाना चाहिए। संघात्मक संविधान में आदर्श केन्द्र द्वारा सिर्फ उतनी से शक्तियां व्यवहार में लानी चाहिए जितनी कि देश की सम्प्रभुता और एकता की रक्षा हो सके। राज्यों को संविधान की ओर से स्वायत्तता प्राप्त है और उसके साथ नगरपालिकाओं के समान व्यवहार नहीं किया जा सकता।" द्रविड़ मुनेत्र कड़गम प्रादेशिकता तथा क्षेत्रीयता का प्रबल समर्थक रहा है। इस मामले पर विचार करने के लिए केन्द्र सरकार द्वारा 24 मार्च, 1983 की 'सरकारिया आयोग' की नियुक्ति की गई। आयोग को संविधान के ढांचे के अन्तर्गत ही केन्द्र–राज्य सम्बन्धों की स्थिति की समीक्षा करने का कार्य सौंपा गया। तमिलनाडु राज्य में फरवरी 1967 से फरवरी 1976 तक डी.एम.के. दल की सरकार पदारूढ़ रही। इसके पहले मुख्यमन्त्री अन्नादुराई ने कहा था कि "हमें संविधान–निर्माताओं द्वारा निर्धारित राज्यों की स्वायत्तता के सिद्धांत एवं व्यवहार को अपनाना चाहिए संघात्मक संविधान में उतनी शक्तियों को व्यवहार में लाना चाहिए जितने से देश की संप्रभुता एवं एकता की रक्षा हो सके। अप्रैल 1971 में मुख्यमन्त्री करुणानिधि ने यहां तक कहा कि यदि उनकी राज्य स्वायत्तता की मांग स्वीकार नहीं की गई तो वे तमिलनाडु को भारतीय संघ से विलग करने हेतु आन्दोलन करेंगे। सन् 1970 में तमिलनाडु सरकार ने केन्द्र और राज्यों के अधिकांश क्षेत्रों के निर्धारण हेतु मद्रास उच्च न्यायालय के भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश राजमन्नार की अध्यक्षता में एक समिति का गठन किया। डॉ. राजमन्नार के अतिरिक्त लक्ष्मण स्वामी मुदालियर तथा डॉ. पी. चन्द्र रेड्डी इस समिति के सदस्य थे। राज्य स्वायत्तता के परिप्रेक्ष्य में राजमनार समिति ने निम्नलिखित सुझाव दिए–

- प्रथम, एक अन्तर्राज्यीय परिषद की स्थापना की जाए जिसका अध्यक्ष प्रधानमन्त्री हो तथा राज्यों के मुख्यमन्त्री या उनके नामित व्यक्ति उसके सदस्य हो। इस परिषद से परामर्श किए बिना संसद में ऐसा कोई विधेयक प्रस्तुत न किया जाए जिससे एक या अधिक राज्य प्रभावित होते हों। प्रतिरक्षा और विदेशी सम्वन्धों के अतिरिक्त इस परिषद से परामर्श किए बिना ऐसा कोई निर्णय न किया जाए जिससे एक या अधिक राज्यों के हित प्रभावित होते हो।
- द्वितीय, योजना आयोग को समाप्त कर दिया जाए तथा उसके स्थान पर एक संवैधानिक निकाय स्थापित किया जाय जिसमें राज्यों को सलाह देने के लिए विज्ञान, तकनीक, कृषि और अर्थ विशेषज्ञ हों। राज्यों के अपने योजना मण्डल हों जो उन्हें परामर्श देने का कार्य करें।
- तृतीय, वित्त आयोग स्थायी आधार पर स्थापित किया जाए तथा राज्यों के पक्ष में करों का पहले से अधिक वितरण हो ताकि उन्हें केन्द्र पर कम से कम निर्भर रहना पड़े।
- चतुर्थ, राजमन्नार समिति ने केन्द्रीय एवं समवर्ती सूची के अनेक विषयों को राज्य सूची में स्थानान्तरित करने की सिफारिश की।
- पंचम, समिति का सुझाव था कि केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल में राज्यों का पर्याप्त प्रतिनिधित्व होना चाहिए।
- षष्ठम, राज्यों के उच्च न्यायालय राज्यों के क्षेत्राधिकार के सभी मामलों के लिए उच्चतम् न्यायालय राज्यों का है।
- सप्तम्, राष्ट्रपति द्वारा राज्यपाल की नियुक्ति राज्य के मन्त्रिमण्डल अथवा उसी उद्देश्य से बनाई गई किसी उच्चाधिकार निकाय के परामर्श से किया जाए।
- अष्टम, राज्यों को उनके औद्योगिक विकास के लिए विदेशी मुद्रा प्रदान की जाए।
- नवम्, समित का यह भी सुझाव था कि राज्य में किसी निजी या सरकारी क्षेत्र में औद्योगिक लाइसेंस देने का अधिकार राज्यों को होना चाहिए।

4.5 राज्य स्वायत्तता के समर्थन में तर्क

राज्यों की स्वायत्तता के समर्थन में निम्नलिखित तर्क दिए जाते हैं :–

- स्वायत्तता स्वतन्त्रता नहीं है और स्वायत्तता की मांग संघीय ढांचे के अन्तर्गत ही की जा रही है, अतः इससे विघटन का खतरा नहीं है।

- राज्यों के कार्य दिन–प्रतिदिन बढ़ते जा रहे हैं। आर्थिक नियोजन और ग्रामीण विकास सम्बन्धी बढ़ते हुए कार्यों को देखते हुए उन्हें वित्तीय साधनों की दृष्टि से केन्द्र का मोहताज बनाए रखना ठीक नहीं। आय के पृथक वित्तीय साधन होने से विकास सम्बन्धी कार्यों एवं दायित्वों के निर्वाह में अधिक सुविधा होगी।

- केन्द्र और राज्यों में पृथक पृथक राजनीतिक दलों की सरकारें होना स्वाभाविक है, किन्तु यह देखा गया है कि राज्यों को अनुदान देते समय केन्द्रीय सरकार सौतेला व्यवहार करती है। वह उन राज्यों के साथ सौम्य व्यवहार करती है जहां उससे मेलजोल रखने वाली राज्य सरकार है और उन राज्यों के साथ कठोर रुख अपनाती है जहां उसकी विचारधारा से भिन्नता रखने वाली राज्य सरकार है। राज्य स्वायत्तता से यह दोहरा मापदण्ड समाप्त होगा।

- राज्य स्वायत्तता से भारत में सच्ची संघात्मक व्यवस्था की स्थापना हो सकेगी। फिलहाल तो राज्यों की स्थिति नगरपालिकाओं जैसी है। राज्य सूची के विषयों में भी केन्द्रीय सरकार जब चाहे हस्तक्षेप कर सकती है और राष्ट्रपति शासन के शस्त्र द्वारा राज्यों की बहुमत वाली निर्वाचित सरकार को अपदस्थ कर सकती है। राज्य स्वायत्तता की अवधारणा के क्रियान्वयन से ही 'समान और स्वायत्त भागीदारी' वाली संघ व्यवस्था अस्तित्व में आएगी।

- राज्य स्वायत्तता से राज्यों में उत्तरदायित्व की भावना विकसित होगी। वे अपनी आय के अधिकतम स्रोत ढूंढ़ेंगे और केंद्र पर निर्भर रहना छोड़ देंगे। आज कई राज्य अनावश्यक खर्च बढ़ाते जा रहे हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि अन्त में केन्द्रीय सरकार ओवरड्राफ्ट' अनुदान आदि द्वारा उनकी मदद करेगी। भूतपूर्व राष्ट्रपति नीलम संजीव रेड्डी के अनुसार, "शक्तिशाली केन्द्र का अर्थ दिल्ली में शक्ति का केन्द्रीकरण करने से नहीं है और राज्यों को अधिक स्वायत्तता देना केन्द्र को कमजोर करना नहीं है। मेरा विश्वास है कि केन्द्र राज्यों से उनकी पहल करने और निर्णय करने की शक्ति लेकर शक्तिशाली नहीं बनता, वह केवल तभी शक्तिशाली होता है जब राज्यों को अपनी प्रशासनिक और विकास की समस्याओं को स्वयं हल करने की क्षमता और स्वतन्त्रता प्राप्त होती है।"

4.6 राज्य स्वायत्तता के विपक्ष में तर्क

भारत में राज्य स्वायत्तता की मांग के विपक्ष में कई तर्क दिए जा सकते हैं, जो मुख्य रूप से राष्ट्रीय एकता, सुरक्षा और विकास के समन्वित प्रयासों पर केंद्रित हैं। राज्य स्वायत्तता की अत्यधिक मांग संघीय ढांचे को कमजोर कर सकती है और राष्ट्रीय हितों को खतरे में डाल सकती है। कुछ प्रमुख तर्क दिए जा रहे है जिसका विवरण निम्नवत हैः–

- अत्यधिक राज्य स्वायत्तता की मांग से देश की एकता और अखंडता को नुकसान पहुँच सकता है। भारत जैसे विविधता वाले देश में, कई राज्यों में सांस्कृतिक, भाषाई और धार्मिक विविधताएँ हैं और अगर प्रत्येक राज्य अधिक स्वायत्तता की मांग करता है, तो यह विभाजनकारी प्रवृत्तियों को जन्म दे सकता है।

- अधिक स्वायत्तता से क्षेत्रीय अस्मिता और अलगाववादी आंदोलन मजबूत हो सकते हैं, जैसे कि पंजाब, कश्मीर और पूर्वोत्तर भारत के कुछ हिस्सों में पहले देखा जा चुका है।

- राष्ट्रीय सुरक्षा एक अत्यंत महत्वपूर्ण मुद्दा है और अगर राज्यों को अधिक स्वायत्तता प्रदान की जाती है, तो यह देश की सुरक्षा व्यवस्था को कमजोर कर सकता है। रक्षा, सीमा सुरक्षा और विदेशी नीति जैसे विषय केंद्र सरकार के अधीन होने चाहिए ताकि राष्ट्र की सुरक्षा और अखंडता बनी रहे।

- विभिन्न राज्यों द्वारा सुरक्षा नीतियों में अंतर से देश की सामरिक सुरक्षा कमजोर हो सकती है और बाहरी शक्तियाँ इसका फायदा उठा सकती हैं।

- अत्यधिक स्वायत्तता से राज्यों के बीच विकास और आर्थिक असमानता बढ़ सकती है। आर्थिक संसाधनों का वितरण और राष्ट्रीय योजनाओं का समन्वय केंद्र द्वारा बेहतर तरीके से किया जा सकता है, जिससे देश के सभी हिस्सों में समरूप विकास सुनिश्चित हो सके।

- कुछ राज्य, जो आर्थिक रूप से पिछड़े हैं, स्वायत्तता की स्थिति में अन्य राज्यों के साथ प्रतिस्पर्धा करने में असमर्थ हो सकते हैं, जिससे उनका विकास और भी बाधित हो सकता है।

- भारत का संविधान एक समन्वित संघीय ढांचे को परिभाषित करता है, जिसमें केंद्र और राज्य के बीच शक्तियों का विभाजन है। राज्य स्वायत्तता की अत्यधिक मांग से संविधान के इस ढांचे को नुकसान पहुँच सकता है और शक्तियों का असंतुलन पैदा हो सकता है।

- अगर हर राज्य अपनी स्वायत्तता का अतिक्रमण करता है, तो संघीय ढांचा टूट सकता है और देश की समग्र प्रशासनिक संरचना कमजोर हो सकती है।

- सहकारी संघवाद का सिद्धांत केंद्र और राज्यों के बीच सहयोग और समन्वय पर आधारित है। अगर राज्य अपनी स्वायत्तता की मांग में आगे बढ़ते हैं, तो यह सहकारी संघवाद को कमजोर कर सकता है और केंद्र–राज्य संबंधों में तनाव पैदा कर सकता है।

- अधिक स्वायत्तता की स्थिति में राष्ट्रीय योजनाओं और नीतियों का कार्यान्वयन बाधित हो सकता है, जिससे समग्र विकास की गति धीमी हो सकती है।

- अगर राज्यों को अधिक स्वायत्तता दी जाती है, तो राष्ट्रव्यापी कानूनों और नीतियों का कार्यान्वयन असंगत हो सकता है। विभिन्न राज्यों में अलग–अलग कानूनों का होना एक एकीकृत न्यायिक और विधायी व्यवस्था के लिए चुनौती बन सकता है।

- जैसे शिक्षा, स्वास्थ्य और सामाजिक न्याय के मुद्दों पर एकीकृत नीतियों की आवश्यकता होती है, अधिक स्वायत्तता से ये नीतियाँ भिन्न हो सकती हैं, जिससे देश के नागरिकों के बीच असमानता उत्पन्न हो सकती है।

- राज्य स्वायत्तता से राज्यों में क्षेत्रीय राजनीति को बढ़ावा मिलेगा, जिससे राष्ट्रीय राजनीति कमजोर हो सकती है। राज्यों की सत्ता में बैठे राजनीतिक दल राष्ट्रीय एकता और नीतियों की बजाय क्षेत्रीय मुद्दों पर ध्यान केंद्रित कर सकते हैं, जिससे केंद्र और राज्यों के बीच असहमति बढ़ सकती है। इससे केंद्र सरकार के निर्णयों और नीतियों के कार्यान्वयन में बाधाएँ आ सकती हैं, जिससे देश में राजनीतिक अस्थिरता पैदा हो सकती है।

भारत में राज्य स्वायत्तता की अत्यधिक मांग के विपक्ष में यह तर्क दिए जाते हैं कि इससे राष्ट्रीय एकता, सुरक्षा, और विकास को खतरा हो सकता है। सहकारी संघवाद, जिसमें केंद्र और राज्य के बीच संतुलित संबंध बनाए जाते हैं, राष्ट्रीय हित के लिए अधिक उपयुक्त है। राज्य स्वायत्तता की मांग पर ध्यान देते हुए भी, इसे राष्ट्रीय सुरक्षा और विकास के व्यापक दृष्टिकोण में संतुलित करना आवश्यक है।

4.7 राज्यों पर केन्द्रीय नियन्त्रण के उपकरण

भारतीय संघ में राज्यों पर केन्द्रीय नियन्त्रण के प्रमुख उपकरण इस प्रकार हैंः

4.7.1 अनुच्छेद 356ः

राष्ट्रपति शासनः अनुच्छेद 356 केंद्र सरकार को राज्यों में राष्ट्रपति शासन लागू करने की अनुमति देता है, जब यह पाया जाता है कि राज्य सरकार संवैधानिक प्रावधानों का पालन नहीं कर रही है, या राज्य में संवैधानिक तंत्र विफल हो गया है। यह प्रावधान केंद्र को असाधारण परिस्थितियों में राज्यों पर नियंत्रण रखने का अधिकार देता है। राष्ट्रपति शासन की घोषणा के बाद राज्य की विधान सभा को भंग या निलंबित किया जा सकता है और राज्य प्रशासन की बागडोर सीधे केंद्र के हाथ में आ जाती है। हालांकि, इस अनुच्छेद का प्रयोग कई बार विवादास्पद रहा है क्योंकि इसे कुछ मामलों में राजनीतिक उद्देश्यों के लिए भी इस्तेमाल किया गया है।

4.7.2 संसद द्वारा राज्य सूची के विषयों पर कानून बनाने का अधिकारः (अनुच्छेद 249)ः

सामान्य रूप से राज्य सूची के विषयों पर कानून बनाने का अधिकार राज्य विधानसभाओं का होता है। लेकिन

अनुच्छेद 249 के तहत, राज्यसभा के दो–तिहाई बहुमत से यह घोषित किया जा सकता है कि किसी विशेष राज्य सूची के विषय पर संसद कानून बनाए, यदि यह राष्ट्रीय हित में हो। यह प्रावधान केंद्र को राष्ट्रीय सुरक्षा या विकास के मुद्दों पर नियंत्रण प्रदान करता है, जिससे राज्यों के क्षेत्राधिकार में प्रवेश करते हुए भी एक राष्ट्रीय दृष्टिकोण से समस्याओं का समाधान किया जा सके।

4.7.3 राज्य सूची के विषयों पर राज्यों की सहमति से कानून बनाना (अनुच्छेद 252):

अनुच्छेद 252 के तहत, जब दो या अधिक राज्य इस बात पर सहमति जताते हैं कि किसी राज्य सूची के विषय पर संसद कानून बनाए, तो संसद को उस विशेष विषय पर कानून बनाने का अधिकार प्राप्त हो जाता है। यह प्रावधान संघीय व्यवस्था में लचीलेपन की अनुमति देता है और राज्यों के बीच समन्वय स्थापित करने के लिए केंद्र को हस्तक्षेप करने का अधिकार प्रदान करता है।

4.7.4 अनुच्छेद 356: आपातकालीन प्रावधान (राष्ट्रीय आपातकाल):

आपातकालीन प्रावधान केंद्र को राज्यों पर व्यापक नियंत्रण देता है। जब राष्ट्रीय सुरक्षा, आंतरिक संकट, या वित्तीय अस्थिरता की स्थिति उत्पन्न होती है, तो अनुच्छेद 356 के तहत राष्ट्रीय आपातकाल घोषित किया जा सकता है। इस स्थिति में, राज्य सरकार के सभी अधिकार केंद्र सरकार के अधीन आ जाते हैं, और केंद्र सरकार राज्य प्रशासन पर प्रत्यक्ष नियंत्रण प्राप्त कर लेती है।

4.7.5 अनुच्छेद 360: वित्तीय आपातकाल:

अनुच्छेद 360 के तहत, यदि राष्ट्रपति को यह लगता है कि देश या किसी राज्य में वित्तीय स्थिरता को खतरा है, तो वित्तीय आपातकाल घोषित किया जा सकता है। इस स्थिति में केंद्र सरकार राज्यों के वित्तीय मामलों पर नियंत्रण स्थापित कर सकती है और उनके वित्तीय निर्णयों को अपने अधीन ले सकती है।

इस आपातकालीन स्थिति के दौरान राज्य सरकार के वेतन और व्यय संबंधी अधिकार भी केंद्र के अधीन हो जाते हैं।

4.7.6 राज्यपाल की भूमिका:

भारतीय संविधान के तहत राज्यपाल राज्य का संवैधानिक प्रमुख होता है, लेकिन राज्यपाल को केंद्र सरकार द्वारा नियुक्त किया जाता है, और वह केंद्र के प्रति उत्तरदायी होता है। इस प्रकार, राज्यपाल केंद्र सरकार का एक नियंत्रण उपकरण बन सकता है। राज्यपाल को विशेष अधिकार दिए गए हैं, जैसे कि राज्य विधान सभा को भंग करने की सिफारिश करना, राष्ट्रपति शासन की सिफारिश करना, और विधेयकों को राष्ट्रपति के पास भेजना। कई बार राज्यपाल की भूमिका केंद्र द्वारा राज्य सरकार पर अप्रत्यक्ष रूप से नियंत्रण रखने के रूप में देखी जाती है।

4.7.7 संविधान के समवर्ती सूची में केंद्र की प्राथमिकता:

संविधान में समवर्ती सूची का प्रावधान है, जिसमें राज्य और केंद्र दोनों को कानून बनाने का अधिकार है। यदि किसी विषय पर राज्य और केंद्र द्वारा बनाए गए कानूनों में विरोधाभास होता है, तो केंद्र का कानून प्रबल माना जाएगा। यह प्रावधान केंद्र को राज्य पर नियंत्रण का एक उपकरण प्रदान करता है, जिससे वह राज्यों के मामलों में हस्तक्षेप कर सकता है।

4.7.8 वित्तीय नियंत्रण (वित्त आयोग और अनुदान):

केंद्र सरकार राज्यों को वित्तीय सहायता और अनुदान प्रदान करती है, और इसके लिए केंद्र का वित्तीय नियंत्रण भी एक महत्वपूर्ण उपकरण बन जाता है। वित्तीय संसाधनों का बड़ा हिस्सा केंद्र के पास होता है, और राज्यों को अपने वित्तीय मामलों के लिए केंद्र पर निर्भर रहना पड़ता है। केंद्रीय करों के विभाजन, अनुदानों और वित्तीय सहायता के मामले में केंद्र सरकार की प्राथमिकता राज्यों की स्वायत्तता को प्रभावित कर सकती है।

4.7.9 आंतरिक सुरक्षा कानून (एनआईए और अन्य कानून):

राष्ट्रीय जांच एजेंसी (NIA) जैसे केंद्रीय कानूनों के तहत केंद्र सरकार को राज्यों में आतंकवाद, संगठित अपराध, और आंतरिक सुरक्षा से संबंधित मामलों की जांच और कार्रवाई करने का अधिकार प्राप्त है। यह कानून

राज्यों में कानून और व्यवस्था के मामलों पर केंद्र की प्राथमिकता को दर्शाता है, और राज्य पुलिस बल के अधिकारों पर केंद्र का नियंत्रण स्थापित करता है।

भारतीय संघीय व्यवस्था में केंद्र को राज्यों पर कुछ नियंत्रण प्रदान करने के लिए विभिन्न संवैधानिक और विधायी उपकरण दिए गए हैं। ये उपकरण राज्य और केंद्र के बीच संतुलन बनाए रखने के लिए आवश्यक हैं, लेकिन इनका अत्यधिक या गलत उपयोग संघीय ढांचे में असंतुलन पैदा कर सकता है। राज्य स्वायत्तता की मांग का एक पहलू यह भी है कि इन नियंत्रण उपकरणों का सीमित और सटीक उपयोग हो, ताकि संघीय ढांचे की संवेदनशीलता और लचीलापन बना रहे।

4.8 निष्कर्ष

भारत का संघीय ढांचा संविधान के अनुसार केंद्र और राज्यों के बीच शक्तियों का संतुलन बनाए रखने के उद्देश्य से बनाया गया है। यह व्यवस्था क्षेत्रीय विविधता और राष्ट्रीय एकता को संतुलित करने का प्रयास करती है। भारतीय संविधान के तहत संघवाद की अवधारणा सहकारी संघवाद पर आधारित है, जहां केंद्र और राज्य दोनों ही स्वतंत्र रूप से अपने–अपने अधिकार क्षेत्रों में कार्य करते हैं, लेकिन आवश्यकतानुसार एक–दूसरे के साथ समन्वय बनाए रखते हैं। हालाँकि, समय–समय पर विभिन्न राज्यों द्वारा राज्य स्वायत्तता की मांग उठाई जाती रही है, जो कि भारतीय संघवाद की जटिलताओं को सामने लाती है।

भारतीय संघीय व्यवस्था का मूल उद्देश्य राज्यों को क्षेत्रीय स्वायत्तता प्रदान करना है, ताकि वे अपने क्षेत्रीय और सांस्कृतिक विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए विकास कर सकें। संविधान की सातवीं अनुसूची में दिए गए संघ सूची, राज्य सूची, और समवर्ती सूची के माध्यम से यह सुनिश्चित किया गया है कि केंद्र और राज्यों के बीच अधिकारों का विभाजन हो। परंतु, केंद्र सरकार के पास कुछ अधिकार ऐसे हैं जो राज्यों की स्वायत्तता को सीमित कर सकते हैं, जैसे कि आपातकालीन प्रावधान, राष्ट्रपति शासन, और समवर्ती सूची पर केंद्र की प्राथमिकता।

आलोचकों का मानना है कि भारतीय संघीय व्यवस्था में केंद्र की भूमिका अपेक्षाकृत अधिक शक्तिशाली है, जिसके चलते राज्यों की स्वायत्तता सीमित होती है। अनुच्छेद 356 और अनुच्छेद 249 जैसे प्रावधानों का दुरुपयोग केंद्र–राज्य संबंधों में तनाव पैदा कर सकता है। राज्यों का यह तर्क है कि केंद्र द्वारा अत्यधिक हस्तक्षेप से उनकी स्वतंत्रता और विकासात्मक योजनाओं पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

राज्य स्वायत्तता की मांग के बावजूद, भारतीय संघवाद सहकारी संघवाद की अवधारणा पर आधारित है। इसका मतलब है कि केंद्र और राज्य दोनों को मिलकर राष्ट्रीय विकास और सुरक्षा के लिए कार्य करना होगा। यह दृष्टिकोण यह मानता है कि केंद्र और राज्यों के बीच अधिक से अधिक संवाद और सहयोग होना चाहिए, ताकि संघीय ढांचा मजबूत हो सके। विभिन्न आयोगों जैसे सरकारिया आयोग और पुंछी आयोग ने भी सहकारी संघवाद को सुदृढ़ करने के लिए केंद्र–राज्य संबंधों में सुधार के सुझाव दिए हैं।

राज्य स्वायत्तता की अत्यधिक मांग के विपक्ष में यह तर्क दिया जाता है कि इससे राष्ट्रीय एकता और अखंडता को खतरा हो सकता है। यदि प्रत्येक राज्य अधिक स्वायत्तता की मांग करता है, तो इससे संघीय ढांचा कमजोर हो सकता है और अलगाववादी प्रवृत्तियाँ बढ़ सकती हैं। इसके अलावा, विकासशील राज्यों के लिए केंद्र की आर्थिक सहायता आवश्यक होती है और वित्तीय मामलों में अधिक स्वायत्तता से आर्थिक असमानता बढ़ सकती है।

भारतीय संघीय व्यवस्था में राज्य स्वायत्तता की मांग एक जटिल मुद्दा है, जो क्षेत्रीय विकास, राष्ट्रीय एकता, और केंद्र–राज्य संबंधों के संतुलन से जुड़ा हुआ है। संघवाद के ढांचे को बनाए रखते हुए राज्य स्वायत्तता की मांग को स्वीकार करना आवश्यक है, लेकिन साथ ही यह सुनिश्चित करना भी महत्वपूर्ण है कि इससे देश की अखंडता और सुरक्षा प्रभावित न हो। सहकारी संघवाद के माध्यम से संवाद और समन्वय को बढ़ावा देना ही इस मुद्दे का स्थायी समाधान हो सकता है।

4.9 महत्वपूर्ण शब्दावलीः

संघीय व्यवस्था : केंद्र और राज्य सरकारों के बीच शक्तियों के विभाजन की एक

राजनीतिक व्यवस्था, जहां दोनों स्तरों की सरकारें स्वतंत्र रूप से अपने अधिकारों का उपयोग कर सकती हैं।

राज्य स्वायत्तता : राज्यों द्वारा अपने क्षेत्रीय, आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक मुद्दों पर निर्णय लेने की स्वतंत्रता की मांग, जिसमें केंद्र का हस्तक्षेप न्यूनतम हो।

अनुच्छेद 356 : संविधान का वह प्रावधान जो केंद्र सरकार को राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू करने की अनुमति देता है यदि राज्य सरकार संविधान के अनुरूप कार्य करने में विफल रहती है।

अनुच्छेद 249 : यह अनुच्छेद केंद्र सरकार को राज्य सूची के विषयों पर कानून बनाने का अधिकार देता है, यदि यह राष्ट्रीय हित में आवश्यक माना जाता है।

सहकारी संघवाद : केंद्र और राज्य सरकारों के बीच आपसी सहयोग और समन्वय की एक प्रणाली, जहां दोनों स्तर की सरकारें एक साथ मिलकर काम करती हैं।

संविधान की सातवीं अनुसूची : यह अनुसूची संघ सूची, राज्य सूची, और समवर्ती सूची के माध्यम से केंद्र और राज्यों के बीच अधिकारों का विभाजन करती है।

वित्तीय असमानता : केंद्र और राज्यों के बीच वित्तीय संसाधनों के असमान वितरण से उत्पन्न होने वाली स्थिति, जिसके कारण राज्य अपने विकास के लिए केंद्र पर निर्भर होते हैं।

क्षेत्रीय अस्मिता : किसी राज्य या क्षेत्र की विशिष्ट सांस्कृतिक, भाषाई, और सामाजिक पहचान, जिसे बनाए रखने के लिए स्वायत्तता की मांग की जाती है।

संवैधानिक तंत्र की विफलता : जब राज्य की सरकार संविधान के अनुरूप कार्य करने में विफल हो जाती है, तब केंद्र सरकार अनुच्छेद 356 के तहत हस्तक्षेप कर सकती है।

4.10 महत्वपूर्ण बोध प्रश्न :

1. राज्य स्वायत्तता से क्या तात्पर्य है?

....

....

....

2. भारत में राज्य स्वायत्तता की मांग क्यों उठाई जाती है?

....

....

....

3. सहकारी संघवाद का राज्य स्वायत्तता की मांग से क्या संबंध है?

....

....

....

4. संविधान की सातवीं अनुसूची का राज्य स्वायत्तता के संदर्भ में क्या महत्व है?

....
....
....

5. राज्य स्वायत्तता की मांग के विरोध में क्या तर्क दिए जाते हैं?

....
....
....

6. राज्यपाल की भूमिका राज्य स्वायत्तता की मांग के संदर्भ में किस प्रकार महत्वपूर्ण है?

....
....
....

4.11 संदर्भ सूची

- भारतीय संविधानः विकास और संघीय व्यवस्था – Mh- डी. बसु
- भारत में संघवादः सिद्धांत और व्यवहार – ग्रानविल ऑस्टिन
- सरकारिया आयोग की रिपोर्ट – सरकारिया आयोग
- संविधान और संघवाद – एन. ए. पलकिवाला
- Indian Federalism:An Introduction – एन. रामस्वामी
- FederalismAnd Ethnic Conflict in India – ए. टी. हांसराज
- Dynamics of Indian Federalism – बी. डी. शर्मा
- The Challenges of Federalism in India – एम. पी. सिंह
- StateAutonomyAnd Federal Structure in India – टी. के. ओमेन
- The Politics of Federalism in India – रजनी कोठारी
- FederalismAnd Regionalism in India– रमेश ठाकुर
- Federalism in India% The Role of StateAutonomy – आर. के. बर्मन

Suggested Readings:

Adeney, Katharine (2007). FederalismAnd Ethnic Conflict Regulation in IndiaAnd Pakistan. New York: Palgrave Macmillan Publication.

Assadi, Muzaffar (1997). Separatist Movement in Coorg. EconomicAnd Political Weekly, 32 (49): 3114- 16.

Bagchi,Amaresh (2008). GlobalizationAnd Federalism: Uneasy Partners? EconomicAnd Political

Weekly, 43 (38): 41-48.

Brass, Paul (1974). Language, ReligionAnd Politics in North India. Berkeley: University of California Press.

Burgess, Michael (1993). FederalismAnd Federation:A Reappraisal. In BurgessAnd GSgnon (eds), Comparative FederalismAnd Federation: Competing traditionsAnd Future Directions. University of Toronto Press.

Forsyth, Murray (1981). Unions of States: The TheoryAnd Practice of Confederation. New York: Leicester University Press.

Gibbons, Roger (2001). Local GovernanceAnd Federal Political Systems. International Social Science Journal, 53 (167-170): 163-70.

Hueglin, Thomas O (2011). Federalism:AnAlternative Category in Political Thought? by Rekha Saxena (edited). India: Cambridge University Press.

Gilles, Lalande (1978). In Defence of Federalism:A View from Quebec. Toronto: McClellandAnd Stewart Limited.

La Forest, GuyAnd Roger Gibbins (1998). Beyond the Impasse: Toward Reconciliation. Montreal: Institute for Research on Public Policy (IRPP).

Lobo, Lancy, Mrutuyanjaya SahuAnd Jayesh Shah (2014). Federalism in India: TowardsA Fresh Balance of Power. New Delhi: Rawat Publications.

Menon, V P (2014). Integration of Indian State. New Delhi: Orient BlackSawn Publicati

Pradhan,Alina (2012). Politics of Separation: The Case of the Gorkhaland Movement. The Indian Journal of Political Science, LXXIII (4): 683-90.

Rasure, KA (2003). Regional Rural Banks in Development of Hyderabad-Karnataka Region:A ComparativeAnalysis (Edited by Dr U B Raju & S Jaya Srinivasa Rao). SEDME, 30 (1): 87-92.

Rath, Sharada (1984). Federalism Today:Approaches, IssuesAnd Trends. New Delhi: Sterling Publications.

Saez, Lawrence (2002). Federalism withoutA Centre: The Impact of PoliticalAnd Economic Reform on India’s Federal System. New Delhi: Sage Publication.

Sarangi,Asha (2009). Language Politics in India. New Delhi: Oxford University Press.

इकाई–5 भारत में दलीय व्यवस्था का स्वरूप

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य

5.1 प्रस्तावनाः

5.2 राजनीतिक दलों का अर्थ एवं परिभाषाएंः

5.3 राजनीतिक दलों की विशेषता एवं तत्वः

5.4 राजनीतिक दलों के निर्माण के प्रमुख आधारः

5.5 राजनीतिक दलों के कार्यः

5.5.1 सार्वजनिक नीतियों का निर्धारण

5.5.2 शासन का संचालन

5.5.3 शासन की आलोचना

5.5.4 लोकमत का निर्माण

5.5.5 शासन तथा जनता के बीच मध्यस्थ का कार्य

5.5.6 राजनीतिक प्रशिक्षण

5.5.7 सामाजिक और सांस्कृतिक कार्य

5.6 भारत में दल व्यवस्था

5.7 भारत में दलीय व्यवस्था की विशेषताएं

5.7.1 राजनीतिक दलों में विभाजन, विघटन और अस्थायित्व की प्रवृत्तिः

5.7.2 शक्तिशाली विपक्ष

5.7.3 अवसरवादिता की उभरती प्रवृत्ति

5.7.4 राजनीतिक दलों की नीतियों और कार्यक्रमों में स्पष्ट भेद का अभाव–

5.7.5 राजनीतिक दलों की आन्तरिक गुटबन्दीः

5.7.6 राजनीतिक दल–बदलः

5.8 भारत में राजनीतिक दलों की प्रमुख समस्याएंः

5.9 सारांशः

5.10 महत्वपूर्ण शब्दावलीः

5.11 महत्वपूर्ण बोध प्रश्न

5.12 उपयोगी पुस्तकें

5.0 उद्देश्य

भारत में दलीय व्यवस्था एक प्रमुख राजनीतिक तंत्र है जो लोकतांत्रिक प्रक्रिया में अहम भूमिका निभाती है। इसका मुख्य उद्देश्य राजनीतिक विचारधाराओं और नीतियों के माध्यम से जनता के प्रतिनिधियों को चुनने और सरकार गठन में योगदान देना है। भारत एक विशाल लोकतंत्र होने के नाते, विविधता से भरा हुआ है और विभिन्न राजनीतिक दल इस विविधता का प्रतिनिधित्व करते हैं। भारत की दलीय व्यवस्था बहुदलीय प्रणाली पर

आधारित है, जो इसे अद्वितीय बनाती है।

भारत में दलीय व्यवस्था लोकतांत्रिक प्रक्रिया का अहम हिस्सा है, जो देश की विविधता और बहुसांस्कृतिक ताने–बाने को दर्शाती है। यह प्रणाली बहुदलीय व्यवस्था पर आधारित है, जिसमें राष्ट्रीय और क्षेत्रीय दोनों प्रकार के दल सम्मिलित होते हैं। यह नागरिकों को विभिन्न राजनीतिक विचारधाराओं और नीतियों के आधार पर अपने प्रतिनिधियों को चुनने और सरकार बनाने का अवसर प्रदान करती है। दलीय व्यवस्था का मुख्य उद्देश्य लोकतांत्रिक प्रणाली को सशक्त करना, विविध विचारधाराओं का प्रतिनिधित्व सुनिश्चित करना, राष्ट्रीय एकता को बनाए रखना, सरकार की जवाबदेही सुनिश्चित करना और सामाजिक–आर्थिक सुधारों को बढ़ावा देना है।

लोकतंत्र को सुदृढ़ बनाने के उद्देश्य से दलीय व्यवस्था नागरिकों को अपने मताधिकार का प्रयोग करने और अपनी इच्छाओं और अपेक्षाओं के अनुरूप प्रतिनिधि चुनने का अधिकार देती है। विभिन्न राजनीतिक दल अपनी नीतियों और विचारधाराओं के माध्यम से जनता के सामने आते हैं, जिससे जनता को अपने विचारों के अनुरूप दल चुनने का अवसर मिलता है। इस प्रक्रिया से जनप्रतिनिधियों की जवाबदेही भी सुनिश्चित होती है, क्योंकि उन्हें अपने कार्यों का हिसाब जनता के समक्ष प्रस्तुत करना होता है।

भारत की दलीय व्यवस्था विविध विचारधाराओं का प्रतिनिधित्व करती है, जो देश की सांस्कृतिक, भाषाई, धार्मिक और सामाजिक विविधताओं को प्रतिबिंबित करती है। हर राजनीतिक दल किसी न किसी वर्ग, क्षेत्र या विचारधारा का प्रतिनिधित्व करता है, जिससे समाज के विभिन्न वर्गों की आवाज़ राजनीतिक प्रक्रिया में सुनी जाती है। इस प्रकार यह व्यवस्था विभिन्न समूहों की आकांक्षाओं को लोकतांत्रिक ढांचे में स्थान देती है और उन्हें राष्ट्र की मुख्यधारा में सम्मिलित करती है।

राजनीतिक दल राष्ट्रीय एकता और अखंडता को बनाए रखने में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। भले ही दल विभिन्न विचारधाराओं का प्रतिनिधित्व करते हैं, लेकिन उनका मुख्य उद्देश्य राष्ट्रीय हितों की रक्षा करना और देश की अखंडता को बनाए रखना होता है। इस प्रकार राजनीतिक प्रतिस्पर्धा के बावजूद दल राष्ट्र की प्रगति और विकास में मिलकर योगदान करते हैं। दलीय व्यवस्था सरकार की नीतियों और कार्यों की सकारात्मक आलोचना के माध्यम से पारदर्शिता और जवाबदेही को भी सुनिश्चित करती है। विपक्षी दल सरकार की नीतियों का मूल्यांकन करते हैं, जिससे सरकार की गतिविधियों पर नियंत्रण रहता है और लोकतांत्रिक प्रक्रिया को संतुलित किया जाता है। दलीय व्यवस्था सामाजिक और आर्थिक सुधारों के लिए एक सशक्त मंच प्रदान करती है। विभिन्न राजनीतिक दल समाज और देश के विकास के लिए अपने दृष्टिकोण और नीतियों को प्रस्तुत करते हैं, जिससे समाज में सकारात्मक बदलाव की दिशा में कदम उठाए जाते हैं।

5.1 प्रस्तावना:

भारत में दलीय व्यवस्था लोकतंत्र की रीढ़ मानी जाती है, जो देश की विविधता, सामाजिक संरचना और राजनीतिक ताने–बाने को दर्शाती है। भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में बहुदलीय प्रणाली का विकास स्वतंत्रता के बाद हुआ, जिसने जनता को विभिन्न विचारधाराओं और नीतियों के आधार पर अपने प्रतिनिधि चुनने का अधिकार प्रदान किया। यह व्यवस्था देश की बहु–सांस्कृतिक, बहु–धार्मिक और भाषाई विविधता का प्रतिनिधित्व करती है, जो भारत जैसे विशाल लोकतांत्रिक देश के लिए आवश्यक है। भारत की दलीय व्यवस्था का मुख्य उद्देश्य यह सुनिश्चित करना है कि जनता की विभिन्न आकांक्षाओं और अपेक्षाओं को लोकतांत्रिक प्रक्रिया में समाहित किया जाए। विभिन्न राजनीतिक दल समाज के विभिन्न वर्गों और समूहों का प्रतिनिधित्व करते हैं, जो उनकी सामाजिक, आर्थिक, और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि से प्रभावित होते हैं। यह व्यवस्था जनता के विभिन्न वर्गों को अपनी आवाज़ उठाने का अवसर प्रदान करती है और उन्हें राजनीतिक रूप से सशक्त बनाती है।

भारतीय दलीय व्यवस्था का एक अन्य महत्वपूर्ण पहलू यह है कि यह स्वस्थ प्रतिस्पर्धा और सरकार की जवाबदेही को बढ़ावा देती है। विभिन्न राजनीतिक दल अपनी नीतियों और कार्यक्रमों के माध्यम से चुनावी प्रक्रिया में भाग लेते हैं और जनता के समक्ष अपने एजेंडे को प्रस्तुत करते हैं। इससे न केवल जनता को विकल्प मिलते हैं, बल्कि राजनीतिक दलों पर भी बेहतर कार्य करने का दबाव रहता है, ताकि वे सत्ता में बने रहें। भारत में दलीय व्यवस्था राष्ट्रीय एकता और अखंडता को बनाए रखने में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। यह विभिन्न दलों को एक मंच पर लाकर उन्हें राष्ट्र निर्माण में योगदान करने का अवसर देती है, चाहे उनकी

विचारधाराएं अलग–अलग हों। इसके माध्यम से विभिन्न राजनीतिक दल राष्ट्रीय हितों को सर्वोपरि मानते हुए कार्य करते हैं, जो देश के लोकतांत्रिक ढांचे को मजबूत बनाता है।

विपक्षी दल सरकार की नीतियों और फैसलों की जांच–पड़ताल करते हैं, जिससे शासन प्रणाली में पारदर्शिता और जवाबदेही बनी रहती है। यह व्यवस्था न केवल राजनीतिक स्थिरता बनाए रखने में सहायक होती है, बल्कि लोकतंत्र की जीवंतता और प्रासंगिकता को भी बरकरार रखती है। भारत में दलीय व्यवस्था का स्वरूप लोकतंत्र को सुदृढ़ बनाने, विविध विचारधाराओं का प्रतिनिधित्व करने और सामाजिक–आर्थिक सुधारों को बढ़ावा देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। यह भारतीय लोकतंत्र की विशिष्टता और उसकी निरंतरता का प्रतीक है।

भारतीय संविधान ने नागरिकों को यह अधिकार दिया है कि वे अपनी पसंद के अनुसार राजनीतिक दलों का समर्थन कर सकें, जिससे चुनावों के माध्यम से जनप्रतिनिधियों का चयन किया जाता है। दलीय व्यवस्था के माध्यम से विभिन्न राजनीतिक विचारधाराओं का प्रतिनिधित्व होता है, जो समाज के अलग–अलग वर्गों की आवश्यकताओं और आकांक्षाओं को दर्शाते हैं। यह व्यवस्था जनता को राजनीतिक प्रक्रिया में सक्रिय रूप से भाग लेने का अवसर देती है, जिससे वे अपनी समस्याओं और मुद्दों को राजनीतिक दलों के माध्यम से उठाकर उनका समाधान प्राप्त कर सकें।

भारतीय दलीय व्यवस्था की सबसे बड़ी विशेषता इसकी बहुलतावादी प्रकृति है, जिसमें राष्ट्रीय और क्षेत्रीय दल दोनों मिलकर लोकतांत्रिक प्रक्रिया में भाग लेते हैं। यह विभिन्न समुदायों, जातियों, भाषाई समूहों और धार्मिक समूहों का प्रतिनिधित्व करती है। राजनीतिक दल अपने–अपने क्षेत्र और समुदाय के मुद्दों को ध्यान में रखते हुए नीतियों का निर्माण करते हैं, जिससे हर वर्ग की आवाज़ को राजनीतिक मंच पर स्थान मिलता है।

दलीय व्यवस्था न केवल जनता को चुनावी प्रक्रिया में भाग लेने का अवसर प्रदान करती है, बल्कि यह राजनीतिक प्रतिस्पर्धा को भी प्रोत्साहित करती है। विभिन्न राजनीतिक दल अपने विचारों और कार्यक्रमों को जनता के समक्ष प्रस्तुत करते हैं, जिससे स्वस्थ प्रतिस्पर्धा का निर्माण होता है। इस प्रतिस्पर्धा के कारण राजनीतिक दल जनता के हितों के प्रति अधिक जिम्मेदार और जवाबदेह होते हैं। साथ ही, विपक्षी दल सरकार की नीतियों और कार्यों की समीक्षा कर उसे सही दिशा में काम करने के लिए प्रेरित करते हैं। भारत की दलीय व्यवस्था लोकतंत्र की मजबूती का प्रतीक है, जो देश की विविधता का सम्मान करती है और जनता को अपनी आवाज़ उठाने का एक सशक्त माध्यम प्रदान करती है। यह प्रणाली सरकार और जनता के बीच एक सेतु का काम करती है, जिससे राजनीतिक स्थिरता और विकास सुनिश्चित होता है।

5.2 राजनीतिक दलों का अर्थ एवं परिभाषाएंः

राजनीतिक दल से हमारा अभिप्राय ऐसे व्यक्तियों के समूह से है जो कुछ समस्याओं के रूप और उनके समाधान के सम्मान में एकमत है और जिन्होंने सामान्य उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए मिलकर वैध ढंग से काम करने का निश्चय कर लिया है। विभिन्न राजनीतिक सिद्धांतकारों एवं विद्वानों ने राजनीतिक दल की अलग–अलग परिभाषाएं दी हैं–

न्यूमैन के अनुसार "राजनीतिक दल एक स्वतन्त्र समाज में नागरिकों के उस व्यवस्थित समुदाय को कहते हैं जो शासनतन्त्र को नियंत्रित करना चाहता है और उनके लिए जनसहमति में भाग लेकर अपने कुछ सदस्यों को सरकारी पदों पर भेजने का प्रयास करता है।"

एडमण्ड बर्क के शब्दों में, "राजनीतिक दल कुछ लोगों का एक समूह है जो कुछ सिद्धान्तों पर सहमत होकर अपने संयुक्त प्रयासों द्वारा जनहित को आगे बढ़ाने के लिए संगठित रहता है।"

लीकॉक के मतानुसार, "राजनीतिक दल से हमारा अभिप्राय ऐसे नागरिकों के समुदाय से है जो एक राजनीतिक इकाई के रूप में कार्य करते हैं। सार्वजनिक प्रश्नों पर उनके विचार एक जैसे होते हैं और वे सामान्य उद्देश्य की पूर्ति के लिए मतदान की शक्ति का प्रयोग करके शासन की शक्ति हथियाना चाहते हैं।"

मैकाइवरके अनुसार, "राजनीतिक दल वह समुदाय है जो किसी विशेष सिद्धान्त या नीति के समर्थन के लिए संगठित किया गया हो और जो संवैधानिक उपायों से उस सिद्धान्त अथवा नीति को शासन का आधार बनाने का प्रयत्न करता हो।

गेटेल के शब्दों में, "राजनीतिक दल पूर्ण अथवा अपूर्ण रूप से संगठित उन नागरिकों का एक समूह होता है जो एक राजनीतिक संस्था की भांति कार्य करते हैं और जिनका ध्येय अपने मताधिकार के प्रयोग द्वारा सरकार पर नियन्त्रण रखना व अपनी सामान्य नीति का सम्पादन करना है।"

गिलक्राइस्ट के शब्दों में, "राजनीतिक दल नागरिकों के उस संगठित समुदाय को कहते हैं जिसके सदस्य समान राजनीतिक विचार रखते हैं, और जो एक राजनीतिक इकाई के रूप में कार्य करते हुए शासन को अपने हाथ में रखने की चेष्टा करते हैं। इस प्रकार राजनीतिक दल ऐसे व्यक्तियों का निकाय होता है जो सार्वजनिक प्रश्नों पर यदि पूर्णतः नहीं तो कम से कर सामान्य दृष्टिकोणों में समता रखते हों तथा सामूहिक प्रयासों द्वारा शासन को हस्तगत करके अपने उद्देश्यों के क्रियान्वयन परविश्वास करते हों। दूसरे शब्दों में, व्यक्तियों के किसी भी समूह को, जो एक समान उद्देश्य की प्राप्ति के लिए कार्य करता है, दल कहते हैं। यदि उस दल का उद्देश्य राजनीतिक हो तो उसे राजनीतिक दल कहा जाता है।

प्रो. लास्की के शब्दों में, "राजनीतिक दल देश में अधिनायकवाद से हमारीरक्षा करने के सर्वश्रेष्ठ कवच हैं। मेरियट ने तो दलों को सरकार की 'पूरक संस्था ' कहा है क्योंकि वे अधिकारियों का चुनाव, सार्वजनिक नीति का निर्धारण तथा सरकार का संचालन और उसकी आलोचना करने में सहायता प्रदान करते हैं। मैकाइवर के शब्दों मेंराजनीतिक दलों के अभाव में न तो सिद्धान्तों की संगठित अभिव्यक्ति हो सकती है, न नीतियों का उचित विकास और न नियंत्रित रूप से संसदीय चुनाव के वैधानिक उपायों अथवा मान्य संस्थाओं का सहारा लिया जा सकता हैद्य जिसके द्वारा राजनीतिज्ञराजनीतिज्ञ अपनी शक्ति बनाये रखने या उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं।"

5.3 राजनीतिक दलों की विशेषता एवं तत्वः

- राजनीतिक दल लोकतांत्रिक प्रक्रिया का एक महत्वपूर्ण अंग हैं, जो जनता और सरकार के बीच सेतु का कार्य करते हैं। किसी भी लोकतंत्र में राजनीतिक दलों की विशेषताएँ उनकी कार्यप्रणाली, सिद्धांत और उद्देश्य को परिभाषित करती हैं। भारत में, जहां बहुदलीय प्रणाली है, राजनीतिक दल विभिन्न सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक समूहों का प्रतिनिधित्व करते हैं और उनके बीच प्रतिस्पर्धा लोकतंत्र के जीवंत और प्रगतिशील स्वरूप को सुनिश्चित करती है। राजनीतिक दलों की प्रमुख विशेषताओं को निम्नलिखित बिन्दुओं के आधार पर समझा जा सकता है–

- राजनीतिक दल एक संगठित समूह होते हैं, जिनका मुख्य उद्देश्य राजनीतिक सत्ता प्राप्त करना और अपने सिद्धांतों के आधार पर शासन चलाना होता है। यह समूह एक विशिष्ट विचारधारा का पालन करता है, जो दल की नीतियों और कार्यक्रमों को निर्धारित करती है। राजनीतिक दल चुनावी प्रक्रिया के माध्यम से सत्ता में आने की कोशिश करते हैं, और जब वे सत्ता में होते हैं, तो अपनी नीतियों को लागू करने का प्रयास करते हैं।

- राजनीतिक दल लोकतंत्र में जनता की आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। वे समाज के विभिन्न वर्गों, समूहों और समुदायों के हितों और समस्याओं को उठाते हैं और उनके समाधान के लिए नीतियाँ बनाते हैं। राजनीतिक दलों के माध्यम से जनता की इच्छाएँ और अपेक्षाएँ सरकार तक पहुँचती हैं, जिससे उनकी समस्याओं का समाधान लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं के माध्यम से किया जा सकता है। यह प्रक्रिया जनता को राजनीतिक रूप से सशक्त बनाती है और उन्हें अपनी आवाज़ उठाने का अवसर प्रदान करती है।

- राजनीतिक दल चुनावों में प्रतिस्पर्धा करते हैं, जिससे स्वस्थ लोकतांत्रिक प्रक्रिया को बढ़ावा मिलता है। चुनावों में विभिन्न दल अपने–अपने कार्यक्रमों और नीतियों को प्रस्तुत करते हैं, और जनता उन पर विचार कर मतदान करती है। यह प्रतिस्पर्धा राजनीतिक दलों को अधिक जवाबदेह और जिम्मेदार बनाती है, क्योंकि उन्हें यह सुनिश्चित करना होता है कि वे जनता की उम्मीदों पर खरे उतरें। यदि वे ऐसा करने में असफल रहते हैं, तो अगले चुनाव में उनकी हार की संभावना बढ़ जाती है।

- राजनीतिक दल सत्ता और विपक्ष दोनों भूमिकाओं में महत्वपूर्ण कार्य करते हैं। सत्तारूढ़ दल नीति

निर्माण और शासन में सक्रिय भूमिका निभाते हैं, जबकि विपक्षी दल सरकार की नीतियों की समीक्षा और आलोचना करते हैं। यह विपक्षी दलों की जिम्मेदारी होती है कि वे सरकार की नीतियों और फैसलों की जांच करें और उन्हें चुनौती दें, ताकि लोकतंत्र में संतुलन बना रहे और सरकार जवाबदेह बनी रहे। विपक्षी दल जनहित में कार्य करते हैं और सरकार को उसकी गलतियों की ओर इशारा करते हैं।

- राजनीतिक दलों के माध्यम से राजनीतिक शिक्षा और जनजागरूकता को बढ़ावा मिलता है। विभिन्न दल जनता को राजनीतिक मुद्दों, नीतियों, और कार्यक्रमों के बारे में जागरूक करते हैं, जिससे लोग राजनीति और सरकार के कार्यों को समझ सकें। राजनीतिक दल विभिन्न मुद्दों पर जनता को संगठित करते हैं और उन्हें राजनीतिक प्रक्रिया में भाग लेने के लिए प्रेरित करते हैं, जिससे लोकतंत्र सशक्त होता है।

- राजनीतिक दलों की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि वे राष्ट्रीय एकता और अखंडता को बनाए रखने में सहायक होते हैं। भले ही विभिन्न दलों की विचारधाराएँ और नीतियाँ अलग–अलग हो सकती हैं, लेकिन उनका अंतिम उद्देश्य देश की समृद्धि और विकास सुनिश्चित करना होता है। दलों के बीच प्रतिस्पर्धा होने के बावजूद, राष्ट्रीय हितों की सुरक्षा और विकास की दिशा में उनकी सामूहिक भागीदारी देश को मजबूत बनाती है।

5.4 राजनीतिक दलों के निर्माण के प्रमुख आधारः

राजनीतिक दलों की उत्पत्ति के आधार को निम्नलिखित बिन्दुओं के माध्यम से समझा जा सकता हैं–

(1) मनोवैज्ञानिक– कई बार दलों के निर्माण का कारण मनोवैज्ञानिक भी हो सकता है। कुछ व्यक्ति प्राचीन से चिपके रहना वाहते हैं और किसी प्रकार के क्रान्तिकारी परिवर्तन को पसन्द नहीं करते, जबकि दूसरी ओर ऐसे व्यक्ति होते हैं जिन्हें अतीत से कोई लगाव नहीं होता है और वे नित नूतन परिवर्तन करके प्रगति को ही अपना लक्ष्य बनाते हैं। इस आधार पर समान विचारवाले व्यक्ति राजनीतिक कार्यक्रमों को क्रियान्वित करने के उद्देश्य से विभिन्न दलों में संगठित हो जाते हैं।

(2) वातावरण का प्रभाव दलों के निर्माण में वातावरण का योग भी कम महत्व का नहीं है। जिस वातावरण में बालकरहता है उसका प्रभाव व्यापक रूप से उसके मानस पर पड़ता है। साम्यवादी वातावरण में पलाबालक आगे चलकर उस दल का अनुयायी बन जाता है। इंग्लैण्ड में तो आज भी कुछ ऐसे परिवार हैं जिनके सदस्य अनुदारवादी दल के कार्यक्रमों में परम्परागत रूप से विश्वास करते हैं।

(3) धार्मिक आधार बहुत–से लोग धार्मिक आधार पर राजनीतिक दल बना लेते हैं। उनका लक्ष्य अपने धर्म के अनुयायियों की रक्षा करना होता है। यूरोपीय देशों में कैथोलिक दल इसी आधार पर बने। भारत में मुस्लिम लीग, अकाली दल, हिन्दू महासभा के निर्माण का भी वही आधार था।

(4) आर्थिक कारण– दलों के निर्माण का आर्थिक आधार सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। आर्थिक कार्यक्रम के अभाव में कोई भी दल अधिक दिनों तक टिक नहीं सकता। राजनीतिक दलों को राष्ट्रीय महत्व तभी प्राप्त हो सकता है जब उनके पास आर्थिक कार्यक्रम हो। शिक्षित जनता पर तो आर्थिक नीतियों का व्यापक प्रभाव पड़ता है। एक सामान्य आर्थिक कार्यक्रम द्वारा ही राजनीतिक दल समाज के विभिन्न वर्गों में सामंजस्य उत्पन्न करने की चेष्टा करता है। भारत जैसे विकासशील देश में आर्थिक मुद्दे, जैसे गरीबी, बेरोजगारी, कृषि संकट, और आर्थिक असमानता, राजनीतिक दलों के लिए महत्वपूर्ण विषय होते हैं। दल इन मुद्दों को अपने एजेंडे में शामिल करके विभिन्न वर्गों, विशेषकर गरीबों और श्रमिकों का समर्थन प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। राजनीतिक दल अपने चुनावी घोषणापत्र में आर्थिक सुधार, रोजगार सृजन, और सामाजिक कल्याण योजनाओं पर जोर देते हैं, ताकि जनता का समर्थन हासिल कर सकें।

(5) नेतृत्व– प्रायःराजनीतिक दल अपने उच्चतम नेता के व्यक्तित्व की प्रतिच्छाया होता है। वह जिन आदशों को आगे बढ़ाना चाहता है, उसके अनुयायीबिना सोचे–समझे उसी सांचे में बसते जाते हैं, क्योंकि इस में प्रत्येक व्यक्ति न तो विचारशील होता है और न उसमें तार्किक बुद्धि होती है। वह अपने नेता के चारों ओर घूमने वाला नक्षत्र मात्र होता है।

(6) विचारधारा–राजनीतिक दलों का प्रमुख आधार उनकी विचारधारा होती है। प्रत्येक दल एक विशेष राजनीतिक विचारधारा को अपनाता है, जो उनके लक्ष्यों और नीतियों को परिभाषित करती है। भारत में कुछ दल समाजवाद, धर्मनिरपेक्षता और समानता के पक्षधर होते हैं, जबकि कुछ दल राष्ट्रवाद, उदारवाद और बाजार अर्थव्यवस्था के समर्थक होते हैं। इस विचारधारा के आधार पर दल अपने राजनीतिक कार्यक्रम तैयार करते हैं और चुनावी प्रक्रिया में जनता से समर्थन मांगते हैं। दलों की विचारधारा न केवल उनकी नीतियों को प्रभावित करती है, बल्कि उनके सामाजिक और आर्थिक दृष्टिकोण को भी दर्शाती है। उदाहरणार्थ भारत में 1977 में गठित जनता पार्टी के सदस्यों को आपस में जोड़ने वाली कड़ी गांधीवादी विचारधारा ही थी। लॉर्ड ब्राइस का कथन है कि प्रत्येक जनसमुदाय में विभिन्न विचारों के लोग पाये जाते हैं। इनमें से कुछ विचार परस्पर विरोधी होते हैं। इन विचारों का प्रतिपादन करने वाले व्यक्तियों में से कुछ नेता बन जाते हैं और अन्य नागरिक उनका अनुमोदन और समर्थन करने लगते हैं।

(7) भारत में राजनीतिक दलों का आधार देश की सामाजिक, आर्थिक, और सांस्कृतिक विविधताओं से गहराई से जुड़ा हुआ है। भारतीय समाज की बहुलतावादी संरचना, जिसमें विभिन्न जातियाँ, धर्म, भाषाएँ, और सांस्कृतिक समूह सम्मिलित हैं, राजनीतिक दलों के गठन और उनकी गतिविधियों को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करती है। भारत की राजनीति में बहुदलीय व्यवस्था है, जहां राष्ट्रीय और क्षेत्रीय दल दोनों सक्रिय हैं, और ये दल अपने–अपने क्षेत्रों में विभिन्न समूहों और समुदायों के हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

(8) भारत की सामाजिक विविधता, विशेषकर जाति, धर्म, भाषा और क्षेत्रीयता, राजनीतिक दलों के गठन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। कुछ दल विशेष जाति या धर्म के लोगों के हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं, जबकि अन्य दल पूरे देश की जनता को ध्यान में रखकर अपनी नीतियाँ बनाते हैं। उदाहरण के लिए, कई क्षेत्रीय दल किसी विशेष भाषा या राज्य के लोगों के हितों की बात करते हैं, जबकि राष्ट्रीय दल पूरे देश के विकास और समृद्धि के लिए काम करते हैं। इस सामाजिक आधार से राजनीतिक दलों की नीतियों और एजेंडा पर गहरा प्रभाव पड़ता है।

(9) भारत के विभिन्न राज्यों की राजनीतिक संरचनाएँ भिन्न हैं, और यह क्षेत्रीयता राजनीतिक दलों के आधार को प्रभावित करती है। कई क्षेत्रीय दलों का गठन केवल किसी विशेष राज्य या क्षेत्र के विकास और स्वायत्तता की मांग को लेकर होता है। इन दलों का आधार उस क्षेत्र की स्थानीय समस्याओं, संस्कृति, और मुद्दों पर केंद्रित होता है। भारत में राजनीतिक दलों का आधार जाति, धर्म, विचारधारा, आर्थिक स्थिति और क्षेत्रीयता के विभिन्न पहलुओं से मिलकर बनता है। यह बहुलतावादी आधार भारतीय लोकतंत्र की विविधता को दर्शाता है, जो देश के राजनीतिक दलों को अपनी नीतियों और कार्यक्रमों के माध्यम से विभिन्न वर्गों और समुदायों का प्रतिनिधित्व करने की प्रेरणा देता है। इस प्रक्रिया से भारतीय लोकतंत्र की स्थिरता और मजबूती सुनिश्चित होती है, जहां हर वर्ग की आवाज़ को राजनीतिक प्रक्रिया में शामिल होने का अवसर मिलता है।

5.5 राजनीतिक दलों के कार्यः

लोकतन्त्रीय शासन के लिए राजनीतिक दल अपरिहार्य हैं। राजनीतिक दल जो कार्य करते हैं वे अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। मेरियम के अनुसार इनके पांच प्रमुख कार्य है–

1. पदाधिकारियों का चुनाव करना।
2. नीति–निर्धारण।
3. शासन का संचालन तथा उसकी रचनात्मक आलोचना।
4. राजनीतिक प्रचार और शिक्षण।
5. व्यक्ति और शासन के मध्य मधुरसंबंधों की स्थापना करना।

राजनीतिक दल मुख्य रूप से निम्नलिखित कार्य करते हैं–

5.5.1 सार्वजनिक नीतियों का निर्धारण–

राजनीतिक दल जनता का समर्थन प्राप्त करने के लिए अपनी नीतियों और योजनाओं का जोरदार प्रचार करते हैं। वे राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक समस्याओं के विभिन्न पहलुओं से जनता को परिचित कराते हैं। इसीलिए राजनीतिक दलों को 'विचारों का दलाल' कहा जाता है। प्रो. लास्की के शब्दों में, "आधुनिक राज्यों के भ्रान्तिपूर्ण वातावरण में समस्याओं का चयन करके यह आवश्यक है कि वरीयता के आधार पर कुछ को अत्यन्त शीघ्र निपटाने के लिए छांटना चाहिए और उनके निदान जनता की स्वीकृति के लिए प्रस्तुत करने चाहिए। चयन का यह कार्य दलों के द्वारा ही होता है।

5.5.2 शासन का संचालन–

राजनीतिक दल चुनावों में बहुमत प्राप्त करके सरकार का निर्माण करते हैं। अपने दल में से ही मन्त्री नियुक्त करते हैं तथा विभिन्न विधियों से अपने चुनाव घोषणा–पत्र के वायदों को पूरा करने का प्रयास करते हैं।

5.5.3 शासन की आलोचना–

यदि निर्वाचन में किसी दल को बहुमत प्राप्त न हो तो वह प्रतिपक्ष के रूप में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करता है। प्रतिपक्ष के रूप में उसका यह कर्तव्य हो जाता है कि वह शासन को सचेत रखे। वह सरकार की रचनात्मक आलोचना करके वैकल्पिक नीतियां प्रस्तुत करता है। विपक्षी दल शासन की कमजोरियों को जनता के सामने रखकर उसके विरुद्ध लोकमत तैयार करते हैं। (4) चुनावों का संचालन– राजनीतिक दलों से ही चुनावों की सार्थकता प्रकट होती है। वे चुनाव के समय अपने चुनावी घोषणा–पत्र तैयार करते हैं, उनका प्रचार करते हैं, प्रत्याशियों को खड़ा करके तथा हर तरीके से चुनाव जीतने का प्रयत्न करते हैं। हरमन फाइनर के शब्दों में, "राजनीतिक दलों के बिना निर्वाचक या तो नितान्त असहाय हो जायेंगे या उनके द्वारा असंभव नीतियों को ही अपनाकर राजनीतिक यन्त्र को ही नष्ट कर दिया जायेगा।"

5.5.4 लोकमत का निर्माण–

यदि शासित व्यक्तियों की सहमति से सत्ता को प्राधिकार अर्जित करना है और यदि शासन के नीतियों पर लोकमत प्राप्त करना है तो राजनीतिक दल अपरिहार्य है। इनकी अनुपस्थिति में जनसमुदाय एक दिशाहीन भीड़ के अतिरिक्त और कुछ न होगा। लॉई ब्राइस के शब्दों में, "लोकमत को प्रशिक्षित करके, उसके निर्माण और अभिव्यक्ति में राजनीतिक दलों के द्वारा अत्यधिक महत्वपूर्ण कार्य किया जाता है।"

5.5.5 शासन तथा जनता के बीच मध्यस्थ का कार्य–

राजनीतिक दल जनता और सरकार के बीच मध्यस्थता करते हैं। वे जनता की समस्याओं और आकांक्षाओं को सरकार के सामने रखते हैं और सरकार की स्थिति से जनता को अवगत कराते हैं। बार्कर के अनुसार "राजनीतिक दल एक ऐसे पुल का कार्य करते हैं जिसका एक छोर समाज को छूता है और दूसरा राज्य को। यह एक ऐसा पाइप है जिसमें सामाजिक विचारधारा बहती है जो राज्य के यन्त्र को तरल बनाकर उसके पहियों को घुमाती है।

5.5.6 राजनीतिक प्रशिक्षण–

राजनीतिक दलों के प्रचार से नागरिकों को राजनीतिक शिक्षा मिलती है। उन्हें विभिन्न पहलुओं का पता लगता है। इस प्रकार से नागरिकों में राजनीतिक चेतना जाग्रत होती है। उन्हें समस्याओं के विभिन्न पहलुओं का पता चलता है। इस प्रकार से नागरिकों मे राजनीतिक चेतन जागृत होती है।

5.5.7 सामाजिक और सांस्कृतिक कार्य–

अधिकांश राजनीतिक दल जनता के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन को उन्नत करने का भी कार्य करते हैं। स्वाधीनता आन्दोलन के युग में कांग्रेस ने हरिजन कल्याण तथा महिला जागृति सम्बन्धी बहुत–से कार्य किए थे।

दलीय कार्य–प्रत्येक राजनीतिक दल कतिपय दल सम्बन्धी कार्य भी करता है–

- मतदाताओं को दल का सदस्य बनाता है।
- सार्वजनिक सभाओं काआयोजन करता है।

- दल के लिए चन्दा इकट्ठा करता है इत्यादि।

5.6 भारत में दल व्यवस्थाः

भारत में दलीय व्यवस्था एक बहुदलीय प्रणाली पर आधारित है, जो देश की लोकतांत्रिक संरचना को प्रभावी ढंग से संचालित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। इस व्यवस्था के तहत विभिन्न राजनीतिक दल राष्ट्रीय और क्षेत्रीय स्तर पर सक्रिय होते हैं, जो जनता की इच्छाओं और आवश्यकताओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। भारत की विविधता और बहुलता को ध्यान में रखते हुए, यह प्रणाली विभिन्न सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक और क्षेत्रीय समूहों को राजनीतिक प्रक्रिया में शामिल होने का अवसर प्रदान करती है।

भारत में स्वतन्त्रता आन्दोलन के समय प्रभावकारी दलों के संगठन की आवश्यकता महसूस हुई। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस एक विशेष अस्तित्व वाले संगठन के रूप में पैदा हुई जिसने देश में अंग्रेज विरोधी तत्वों को एकत्रित किया। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद इस दल ने एक राजनीतिक दल के रूप मे कार्य करना प्रारम्भ कर दिया, यद्यपि महात्मा गांधी चाहते थे की यह केवल समाजसेवा संगठन के रूप में कार्य करे। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद देश की राजनीति में कांग्रेस दल की भूमिका इतनी महत्वपूर्ण थी की भारत का प्रायः एक प्रभुत्वशाली दलीय व्यवस्था के रूप में वर्णन किया गया।

कांग्रेस आम जनता का सर्वप्रिय दल था तथा इसके योजना कार्य में सब कुछ सम्मिलित था। प्रायः इसको भारतीय समाज का लघुरूप माना जाता था जिसमें राष्ट्र के समस्त तत्वों का प्रतिबिंब था। परन्तु इससे हमें गलत परिणामों पर नहीं पहुंचना चाहिए। कांग्रेस में ही विभिन्न तत्व विद्यमान थे जो महत्वपूर्ण प्रश्नों पर अलग–अलग विचार रखते थे। कांग्रेस दल जो आन्दोलन दल से एक राजनीतिक दल में बदल गया था, चाहता तो सब विभिन्न तत्वों को अपने विशालतम संगठन में समा सकता था। इसके बाद कांग्रेस दल एक केन्द्रीय दल बन गया जिसमें वामपन्थी और दक्षिणपंथी राजनीति साथ–साथ शामिल थी। इसने दल में एक आन्तरिक शोधक रचना का गठन किया जिसमें कांग्रेस की बाहरी परिस्थितियों के अनुसार इनके भिन्न–भिन्न तत्व एक–दूसरे में घुल–मिल सकते थे।

यह एक तथ्य है कि भारत में कांग्रेस का प्रभाव सम्पूर्ण नहीं था। यद्यपि लोकसभा में कांग्रेस को भारी बहुमत प्राप्त था फिर से कभी भी राष्ट्रीय चुनावों में इसे सार्वजनिक मतों का बहुमत नहीं मिला। दूसरी ओर विरोधी दलों को लोकसभा में यद्यपि कम स्थान प्राप्त थे, परन्तु उनके पीछे मतदाताओं की पर्याप्त शक्ति थी और राज्य स्तर पर कांग्रेस का प्रभाव और भी कम था। भारत में विरोध विशेषतः सरकार का विरोध था। कांग्रेस दल सत्तारूढ़ दल था अतः विरोध का अभिप्राय कांग्रेस के विरोध से था। विरोधी पक्ष का प्रयास मुख्यतः कांग्रेस की आलोचना करना तथा इसको सत्ता से हटाना था।

कांग्रेस दल का देशव्यापी शक्तिशाली संगठन सुदूरवर्ती गांवों तक फैला हुआ था। इसने स्वतन्त्रता आन्दोलन के नेतृत्व की विरासत को स्वीकार किया। इसने क्षेत्रीय एवं वर्गीय हितों को एक साथ लिया। इसका कार्यक्रम पर्याप्त उदारवादी एवं लचीला था जिसके परिणामस्वरूप यह विभिन्न वर्गों की बढ़ती हुई आकांक्षाओं से उत्पन्न विभिन्न मांगों को समायोजित कर सका। इसने कभी भी विचारधारा की दृष्टि से अतिवादी दृष्टिकोण नहीं अपनाया। सभी हितों को कांग्रेस दल में समायोजित कर लिया गया था इसलिए दूसरे दल उठ ही नहीं सके। कांग्रेस के कार्यक्रमों में देहाती एवं नगरीय हितों को शामिल किया गया, कुटीर उद्योगों तथा बड़े उद्योगों और इसमें कृषि एवं औद्योगिक हितों को मिलाया गया और इसमें परम्परावादी एवं आधुनिक दोनों ही दृष्टिकोण शामिल हैं।

5.7 भारत में दलीय व्यवस्था की विशेषताएंः

भारत में दल व्यवस्था की प्रमुख विशेषताएँ लोकतांत्रिक प्रक्रिया और शासन के मूलभूत तत्वों को परिभाषित करती हैं। ये विशेषताएँ भारत की बहुलतावादी और विविधतापूर्ण समाज को ध्यान में रखते हुए विकसित हुई हैं। 1947 से लेकर 1999 तक के काल में कम से कम तीन बार (1967, 1977 तथा 1990) ऐसा प्रतीत हुआ कि भारत की दलीय व्यवस्था नवीन दिशा ग्रहण करने जा रही है, लेकिन तीनों ही बार ऐसा नहीं हो पाया और स्थिति में थोड़े–बहुत परिवर्तन के बाद दलीय व्यवस्था अपने मूल स्वरूप पर आकर टिक गयी। 1967 के चतुर्थ आम चुनाव में भारतीय संघ के लगभग आधे राज्यों की विधान सभाओं में भारतीय राष्ट्रीय

कांग्रेस स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं कर सकी और इन राज्यों में विरोधी दलों की मिली–जुली सरकारों 'संविद सरकारों' (Coalition Governments) की स्थापना हुई। इस स्थिति के सन्दर्भ में भारतीय राजनीति के अनेक समीक्षकों द्वारा यह विचार व्यक्त किया गया कि अब भारतीय राजनीति में एक दल की प्रधानता का युग समाप्त हो चुका है और भारत में केन्द्र तथा राज्यों के स्तर पर एकदलीय सरकारों के स्थान पर मिली–जुली सरकारों की स्थापना होगी। रजनी कोठारी के शब्दों में, "भारतीय राजनीति ने एक दल की प्रधानता वाली स्थिति से निकलकर उस स्थिति में प्रवेश किया, जिसमें विभिन्न दलों में प्रधानता प्राप्त करने के लिए प्रतियोगिता आरंभ हो गई।''

1977 ई. के लोकसभा चुनावों के परिणामस्वरूप भारत में पहली बार केन्द्र में सत्ता परिवर्तन हुआ और कांग्रेस के सीान पर जनता पार्टी की सरकार स्थापित हुई। लेकिन 1977 के अंतिम दिनों मे ही इस बात के संकेत मिलने लगे और 1978 के प्रारंभ से यह नितांत स्पष्ट हो गया कि हम राजनीतिक ध्रुवीकरण की दिशा मे आगे बढ़ने की बजाय राजनीतिक दलों के विघटन और बिखराव की दिशा मे आगे बढ़ रहे हैं। 1979 मे स्थिति पूर्णतया इसी रूप मे सामने या गई कि और यह शंका व्यक्त की जाने लगी कि जनवरी 1980 के लोक सभाचुनाव– केंद्र मे मिली जुली सरकार को जन्म देंगे लेकिन, 1967–70 के काल में राज्य स्तर पर और पुनः 1977–79 के काल मे राज्य स्तर पर तथा बहुत कुछ सीमा तक केन्द्रीय स्तर पर मिली–जुली सरकारों का आशय राजनीतिक अस्थायित्व और दिशाहीन शासन के रूप में सामने आया। अतः भारतीय जनता एक ही राजनीतिक दल को शासन सत्ता सौंपने के पक्ष में थी। इस स्थिति के परिणामस्वरूप 1980 में लोकसभा के लगभग दो–तिहाई स्थान 'इन्दिरा कांग्रेस' के द्वारा प्राप्त किये गये और शेष स्थान विभिन्न विपक्षी दलों में बंट गये। इस प्रकार भारतीय दलीय व्यवस्था की मूल प्रवृत्ति 'एक दल की प्रधानता वाली बहुदलीय पद्धति' या 'बहुदलीय पद्धति में एक दल की प्रधानता पुनः स्थापित हो गयी। नवम्बर 1989 के लोकसभा चुनावों के बाद हम पुनः अल्पमत (मिली–जुली सरकार) सरकार की तरफ बढ़ने लगे। 1991 के चुनावों के बाद राजनीतिक शक्तियों का ध्रुवीकरण होने लगा। 1996 के चुनावों के बाद केन्द्र और राज्यों में एकदलीय प्रभुत्व का अन्त हुआ। 1998 में सम्पन्न 12वीं लोकसभा के चुनावों की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि देश की राजनीतिक शक्तियों का तीन गठबंधनों में ध्रुवीकरण हो गया–भाजपा और सहयोगी दल, कांग्रेस और सहयोगी दल तथा यूनाइटेड फ्रन्ट। अप्रैल–मई 2004 में सम्पन्न 14वीं लोकसभा के चुनाव मोटे रूप से दो नेता, दो दलों एवं दो गठबन्धनों के बीच आमने–सामने की टक्कर के रूप में सम्पन्न हुए। वो नेता थे अटल बिहारी वाजपेयी और सोनिया गांधी, दो दल थे– भाजपा और कांग्रेस और दो गठबंधन थे– राष्ट्रीय जनतान्त्रिक गठवन्धन एवं कांग्रेस व सहयोगी दल। अप्रैल–मई 2009 में सम्पन्न 15वीं लोकसभा चुनावों में यूपीए और एनडीए के साथ–साथ तीसरा और चौथा मोर्चा चुनावी मैदान में था। तीसरे मोर्चे में वामपंथी दल, बसपा, अन्नाद्रमुक तथा तेलुगुदेशम जैसे दल थे तो चौथे मोर्चे में समाजवादी पार्टी, राष्ट्रीय जनता दल एवं पासवान की लोकजनशक्ति पार्टी। चुनाव आयोग के अनुसार अप्रैल–मई 2004 में देश में 6 राष्ट्रीय दलों समेत 655 राजनीतिक पार्टियां थी। इनमें से में 46 पार्टियां राज्य स्तर की और शेष पंजीकृत गैर मान्यता प्राप्त दल थे। अप्रैल–मई में सम्पन्न 15वी लोकसभा चुनावों के समय देश में कुल मिलाकर 1,055 राजनीतिक दल थे जिनमें से 7 राष्ट्रीय दल एवं 48राज्य स्तरीय मान्यता प्राप्त दल थे। लगभग 1,000 पंजीकृत गैर मान्यता प्राप्त दल भी थे। 7 राष्ट्रीय दलों सहित 369 दलों ने चुनावों में अपने उम्मीदवार मैदान में उतारे। अप्रैल–मई 2014 में सम्पन्न 16वीं लोकसभा चुनावों के समय देश में कुल मिलाकर राजनीतिक दल थे जिनमें से 6 राष्ट्रीय दल 54 राज्य स्तरीय दल एवं 1,627 गैर मान्यता प्राप्त दल थे। इस प्रकार के के अस्तित्व ने प्रशासनिक अस्थायित्व को ही जन्म दिया और इस बहुदलीय पद्धति को भारतीय लोकतन्त्र के हित में नहीं कहा जा सकता है।

5.7.1 राजनीतिक दलों में विभाजन, विघटन और अस्थायित्व की प्रवृत्तिः

राजनीतिक दल निरन्तर विभाजन, विघटन, बिखराव और अस्थायित्व की प्रवृत्ति के शिकार रहे हैं। सर्वप्रमुख दल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस अब तीन बार विभाजित में चुका है। 1969 ई. में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का विभाजन हुआ 1978 में सत्ता कांग्रेस का और 1995 में कांग्रेस (ई) का विभाजन होकर कांग्रेस (तिवारी) का गठन किया गया। 1977 में गठित जनता पार्टी 1980 के मध्य तक चार जनता पार्टियों में बंट गई जनता पार्टी (जे. पी.), भारतीय जनता पार्टी, जनता 'एस' (चरणसिंह) और जनता 'एस' (राजनारायण)। इसी प्रकार चार साम्यवादी दल हैं, जिनमें दो भली प्रकार संगठित हैं। जनता दल के विभाजन से 1990 में जनता (एस) बना और अजीत सिंह गुट के अलग हो जाने से उसका और अधिक विभाजन हो गया। लालूप्रसाद यादव ने जनता दल को विभाजित

कर राष्ट्रीय जनता दल का गठन कर लिया। अकाली दल, अन्नाद्रमुक जैसे क्षेत्रीय दल भी समय–समय पर विभाजित होते रहे हैं। सितम्बर, 2003 में बहुजन समाजपार्टी भी विभाजित हो गई। उत्तर प्रदेश में पार्टी से अलग हुए गुट को विधान सभाध्यक्ष ने 'लोकतान्त्रिक बहुजन दल' के रूप में मान्यता दे दी। भाजपा से निकाले जाने के बाद उत्तर प्रदेश के पूर्व मुख्यमन्त्री कल्याण सिंह ने राष्ट्रीय क्रान्ति दल (1999) बना लिया। इससे पूर्व कांग्रेस से निकाले जाने पर शरद पवार एवं पी. ए. संगमा जैसे नेताओं ने 'नेशनलिस्ट कांग्रेस पार्टी' नाम से नई पार्टी बना ली। विशेष बात यह है कि आज एक राजनीतिक दल का गठन होता है और कल उसमें विभाजन या विघटन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार दलीय व्यवस्था में अनिश्चय और अस्थायित्व की स्थिति बनी हुई है और यह निश्चित रूप से एक विकृति है।

5.7.2 शक्तिशाली विपक्षः

विपक्ष–1967–70, 1977–79 और 1989–2009 के काल को छोड़कर भारतीय राजनीति में सामान्यतया कमजोर और विभाजित विपक्ष की स्थिति ही रही। मोरिस जोन्स ने इस स्थिति की विवेचना करते हुए लिखा था कि विरोधी दलों में टूट–फूट का कारण यह है कि उनमें आपस में सामाजिक सहयोग कम है और दलों के अग्रगामी नेता बिना शक्ति के भी अपनी छोटी–मोटी टुकड़ियों के नेता बने रहना चाहते हैं और एक बड़े समूह में नहीं मिलना चाहते हैं।' लेकिन नवीं लोकसभा के चुनाव ने संसद और देश की राजनीति में शक्तिशाली विपक्ष को जन्म दिया। संसद में कांग्रेस (इ) शक्तिशाली विपक्ष की स्थिति में था जिसे लोकसभा में 193 स्थान और राज्यसभा में बहुमत प्राप्त था। 1991 तथा 1996 के लोकसभा चुनावों के बाद भाजपा शक्तिशाली विपक्ष के रूप में उभरी और लोकसभा में उसके क्रमशः 119 और 161 सदस्य थे। 1998 एवं 1999 लोकसभा चुनावों के बाद कांग्रेस शक्तिशाली विपक्ष की भूमिका के निर्वाह की स्थिति में आयी जिसके लोकसभा में क्रमशः 141 एवं 113 सदस्य निर्वाचित होकर आए। मई 2004 तथा मई 2009 के चुनावों के बाद लोकसभा में क्रमशः 138 एवं 116 सदस्यों वाली भाजपा शक्तिशाली एवं प्रभावी मान्यता प्राप्त विरोधी दल रही थी जिसके नेता लालकृष्ण आडवाणी थे। 2014 और 2019 के आम चुनाव में पूर्ण बहुमत के भारतीय जनता पार्टी की केन्द्र में सरकार बनी, एक बार फिर विपक्ष कमजोर दिखा। किन्तु 2024 के आम चुनाव में पुनः भारतीय जनता ने एक सशक्त विपक्ष वाले जनादेश की ओर संकेत किया। राज्य स्तर पर भी अधिकांश राज्यों में विपक्ष पर्याप्त शक्तिशाली है या कम–से–कम उसे मान्यता प्राप्त विपक्षी दल की स्थिति प्राप्त है।

5.7.3 अवसरवादिता की उभरती प्रवृत्ति–

भारतीय राजनीति में अवसरवादिता सदैव से विद्यमान रही है और अभी हाल ही के वर्षों में यह निरन्तर उग्र रूप ग्रहण कर रही है। रजनी कोठारी के अनुसार, "व्यक्ति का महत्व अभी भी राजनीति में बहुत है। भारत में एक ही संगठन के अभिन्न अंग अलग–अलग काम करते हैं। एक ही दल के राष्ट्रीय और राज्य शाखाएं प्रतिकूल दिशाओं में चलती हैं और ऐसे गुटों व तत्वों से हाथ मिलाती हैं जो विचारधारा और नीति में उनसे भिन्न हैं।" जनवरी 1980 के केरल विधानसभा चुनावों में इन्दिरा कांग्रेस और जनता पार्टी ने परस्पर सहयोग करते हुए एक ही फ्रण्ट के अन्तर्गत चुनाव लड़ा, जबकि राष्ट्रीय स्तर पर ये दल एक–दूसरे के कट्टर विरोधी थे और हैं। इस प्रकार की अवसरवादिता के अन्य अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं।

5.7.4 राजनीतिक दलों की नीतियों और कार्यक्रमों में स्पष्ट भेद का अभाव–

भारत के राजनीतिक दलों की नीतियों और कार्यक्रमों में स्पष्ट भेद का अभाव है और इसी कारण वे जनता के सम्मुख स्पष्ट विकल्प प्रस्तुत करने में असमर्थ रहे हैं। इस प्रकार के विचार भेद के अभाव का एक कारण यह है कि आज भारत के राजनीतिक रंगमंच पर जितने भी पात्र दृष्टिगोचर होते हैं, उन सबको राजनीतिक प्रशिक्षण राष्ट्रीय आन्दोलन में ही प्राप्त हुआ है, लेकिन इसका द्वितीय और अधिक प्रमुख कारण यह है कि स्वयं राजनीतिक दलों की नीतियां और कार्यक्रम अत्यधिक अस्पष्ट और अनिश्चित हैं। कांग्रेस के अतिरिक्त अन्य लगभग एक दर्जन छोटे–बड़े राजनीतिक दल भी समाजवाद को ही अपना लक्ष्य घोषित किये हुए हैं। अनेक राजनीतिक दलों के पास अपना कोई निश्चित कार्यक्रम न होने के कारण उनके द्वारा विध्वंसकारी कार्यों का आश्रय लिया जाता है और विघटनकारी तत्वों को प्रोत्साहित किया जाता है।

5.7.5 राजनीतिक दलों की आन्तरिक गुटबन्दीः

भारत की दल प्रणाली की एक प्रमुख विशेषता विभिन्न दलों की आन्तरिक गुटबन्दी है। लगभग सभी राजनीतिक

दलों में छोटे–छोटे गुट पाये जाते हैं, एक वह गुट जो सत्ता में है और दूसरा असन्तुष्ट गुट। इन गुटों में पारस्परिक मतभेद इस सीमा तक पाया जाता है कि कभी–कभी निर्वाचन में एक गुट के समर्थन प्राप्त उम्मीदवार को दूसरे गुट के सदस्य पराजित करने का भरसक प्रयत्न करते हैं। दल में आन्तरिक गुटबन्दी लगभग सभी दलों में पायी जाती है क्योंकि इसमें सत्ता के लिए निरन्तर संघर्ष चलता रहा है जिसका प्रभाव सम्पूर्ण दल की प्रगति पर पड़ता। शासक दल और अन्य दलों में गुटबन्दी की यह स्थिति भारतीय राजनीति का अभिशाप बनी हुई है।

5.7.6 राजनीतिक दल–बदलः

भारत में दल–बदल की स्थिति सदैव से विद्यमान रही है, लेकिन 1967 से 1970 के वर्षों में यह प्रवृत्ति बहुत अधिक भीषण रूप में देखी गयी। पंजाब, हरियाणा, उत्तर प्रदेश, बिहार, राजस्थान और मध्य प्रदेश, आदि राज्यों में विशेष रूप से यह प्रवृत्ति देखी गयी कि एक राजनीतिक दल के सदस्य के रूप में निर्वाचित विधानसभा के सदस्यों द्वारा अपने निर्वाचकों की अनुमति प्राप्त किये बिना ही विधानसभा में अपने राजनीतिक दलों की सदस्यता में परिवर्तन कर लिया गया। इस प्रकार के दल परिवर्तन के परिणामस्वरूप इन राज्यों में बहुत जल्दी–जल्दी सरकारों का पतन हुआ और राजनीतिक अस्थिरता की स्थिति उत्पन्न हो गयी। 1971 और 1972 के लोकसभा तथा विधानसभा चुनावों के बाद दल–बदल की लगभग समाप्ति की आशा की गयी थी और जनता में यही उम्मीद मार्च 1977 तथा जनवरी 1980 के लोकसभा चुनावों के वाद जगी थी, लेकिन ऐसा नहीं हो पाया। मणिपुर, मेघालय और नगालैण्ड तो पिछले दो–तीन वर्षों में (1990–92) दल–बदल की घटनाओं के कारण वड़े चर्चित रहे हैं। फरवरी 1998 में उत्तर प्रदेश में कल्याण सिंह और जगदम्बिका पाल की रस्साकस्सी ने दल–बदल के इतिहास में एक नया ही कीर्तिमान कायम किया। गोवा में दल–बदल के परिणामस्वरूप 1998–99 में चार मुख्यमन्त्री बने–बदले और एक बार राष्ट्रपति शासन आरोपित करना पड़ा। दल–बदल राजनीतिक अस्थिरता का कारण और परिणाम दोनों ही रहा है और इसने राजनीतिक वातावरण को दूषित करने का ही कार्य किया है। भारत में राजनीतिक दलों की सामान्य विशेषताओं के अतिरिक्त निम्नलिखित बिन्दुओं के माध्यम इस संदर्भ में समझ को विकसित किया जा सकता है–

- **बहुदलीय प्रकृति**– भारत में अनेक राजनीतिक दल हैं, जो विभिन्न सामाजिक, आर्थिक, और सांस्कृतिक समूहों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इस बहुलता के कारण, विभिन्न विचारधाराएँ और नीतियाँ राजनीतिक मंच पर उपस्थित होती हैं। इसमें मुख्यतः दो राष्ट्रीय दल, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस और भारतीय जनता पार्टी शामिल हैं, लेकिन इसके अलावा क्षेत्रीय दलों की भी महत्वपूर्ण भूमिका है। जैसे तृणमूल कांग्रेस, द्रविड़ मुनेत्र कड़गम, समाजवादी पार्टी, और आम आदमी पार्टी। ये दल विभिन्न राज्यों में स्थानीय मुद्दों को उठाते हैं और जनता के बीच लोकप्रियता हासिल करते हैं। बहुदलीय प्रणाली ने यह सुनिश्चित किया है कि विभिन्न जातियों, समुदायों और समूहों की आवाज़ को राजनीतिक प्रक्रिया में स्थान मिले।

- **दलों के बीच प्रतिस्पर्धा**– चुनावी प्रक्रिया में राजनीतिक दलों के बीच स्वस्थ प्रतिस्पर्धा होती है, जो लोकतांत्रिक प्रक्रिया को सशक्त बनाती है। चुनावों के दौरान, दल अपने–अपने कार्यक्रमों और नीतियों को जनता के समक्ष प्रस्तुत करते हैं, जिससे मतदाता को चुनावी निर्णय लेने का अवसर मिलता है। यह प्रतिस्पर्धा न केवल राजनीतिक दलों को अधिक उत्तरदायी बनाती है, बल्कि यह सरकार को भी अपनी नीतियों में सुधार करने के लिए प्रेरित करती है। चुनावों में हार–जीत का निर्णय जनता के हाथ में होता है, जिससे दलों को अपनी कार्यप्रणाली और नीतियों को जनता की अपेक्षाओं के अनुसार ढालने की आवश्यकता होती है।

- **दलों की विचारधारा**– प्रत्येक राजनीतिक दल एक विशिष्ट विचारधारा का पालन करता है, जो उसके कार्यक्रमों और नीतियों का आधार होती है। कुछ दल समाजवाद, धर्मनिरपेक्षता, और समानता के पक्षधर होते हैं, जबकि अन्य दल राष्ट्रवाद, पूंजीवाद, और बाजार अर्थव्यवस्था का समर्थन करते हैं। यह विचारधारा दलों के संगठन और उनके कार्यों को निर्धारित करती है। उदाहरण के लिए, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने अपनी राजनीति में समाजवादी दृष्टिकोण को अपनाया है, जबकि भारतीय जनता पार्टी ने हिन्दुत्व और राष्ट्रवाद को अपने मुख्य सिद्धांतों के रूप में स्वीकार किया है।

- **क्षेत्रीयता का प्रतिनिधित्व**– भारत में विभिन्न राज्यों की भौगोलिक, सांस्कृतिक, और भाषाई विविधताओं

के कारण, कई राजनीतिक दल क्षेत्रीय मुद्दों पर केंद्रित होते हैं। ये दल अपने–अपने राज्यों में स्थानीय समस्याओं, विकास के मुद्दों, और सामाजिक न्याय की बात करते हैं। उदाहरण के लिए, तृणमूल कांग्रेस पश्चिम बंगाल में स्थानीय मुद्दों को उठाती है, जबकि द्रविड़ मुनेत्र कड़गम तमिलनाडु में क्षेत्रीय पहचान और संस्कृति की रक्षा के लिए काम करती है। यह क्षेत्रीय दल भारतीय राजनीति में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं और राष्ट्रीय राजनीति में भी अपनी उपस्थिति दर्ज कराते हैं।

- **सामाजिक समावेशिता**– भारतीय दलीय व्यवस्था में विभिन्न जातियों, समुदायों, और समूहों का प्रतिनिधित्व सुनिश्चित करने के लिए दल काम करते हैं। दल जाति, धर्म, और क्षेत्र के आधार पर विभिन्न समूहों की समस्याओं को उठाते हैं और उनके हितों की रक्षा करने का प्रयास करते हैं। इसके लिए दल चुनावी घोषणापत्रों में विशेष नीतियों और कार्यक्रमों का समावेश करते हैं, जो समाज के कमजोर वर्गों के विकास और सशक्तिकरण को ध्यान में रखते हैं। यह विशेषता समाज के वंचित वर्गों को राजनीतिक प्रक्रिया में भाग लेने और अपनी आवाज़ उठाने का अवसर प्रदान करती है।

- **राजनीतिक शिक्षा और जागरूकता को बढ़ावा**– राजनीतिक दलों की एक महत्वपूर्ण जिम्मेदारी होती है कि वे जनता को राजनीतिक मुद्दों, नीतियों, और प्रक्रियाओं के बारे में जागरूक करें। इसके लिए दल विभिन्न कार्यक्रमों का आयोजन करते हैं, जिसमें रैलियाँ, जनसभाएँ, और मीडिया का उपयोग शामिल होता है। ये कार्यक्रम जनता को राजनीतिक गतिविधियों में भाग लेने के लिए प्रेरित करते हैं, जिससे लोकतंत्र की मजबूती सुनिश्चित होती है।

- **सत्ता और विपक्ष की भूमिका**– भारतीय राजनीति में सत्तारूढ़ दल और विपक्ष दोनों का महत्वपूर्ण स्थान होता है। सत्तारूढ़ दल नीतियों और कार्यक्रमों को लागू करने का कार्य करते हैं, जबकि विपक्षी दल उन नीतियों की समीक्षा और आलोचना करते हैं। यह प्रक्रिया लोकतंत्र में संतुलन और पारदर्शिता को बनाए रखने में सहायक होती है। विपक्षी दल सरकार की नीतियों को चुनौती देकर उन्हें अधिक जिम्मेदार और जवाबदेह बनाते हैं।

- **चुनावी प्रक्रिया की स्वतंत्रता और निष्पक्षता**– भारत में चुनावों का आयोजन स्वतंत्र और निष्पक्ष तरीके से किया जाता है। चुनाव आयोग स्वतंत्र संस्था है, जो चुनावों की प्रक्रिया का संचालन करती है। चुनाव आयोग सुनिश्चित करता है कि सभी राजनीतिक दलों को समान अवसर मिले और चुनावी प्रक्रिया में पारदर्शिता हो। यह व्यवस्था चुनावी प्रतिस्पर्धा को प्रोत्साहित करती है और मतदाता को सही और स्वतंत्र चुनाव में भाग लेने का अधिकार देती है।

- **दलों के बीच गठबंधन की प्रक्रिया**– भारत में कई बार चुनावी परिणामों के बाद कोई एक दल स्पष्ट बहुमत नहीं हासिल कर पाता, जिसके परिणामस्वरूप गठबंधन सरकारों का गठन होता है। विभिन्न दलों के बीच गठबंधन से एकजुटता और सहयोग का माहौल बनता है, जो राजनीतिक स्थिरता को सुनिश्चित करता है। यह गठबंधन विभिन्न विचारधाराओं और दृष्टिकोणों को समाहित करके एक व्यापक सरकार का निर्माण करता है, जो विभिन्न सामाजिक समूहों का प्रतिनिधित्व करती है।

भारतीय दल व्यवस्था की प्रमुख विशेषताएँ उसके बहुदलीय, प्रतिस्पर्धात्मक, और समावेशी स्वभाव को दर्शाती हैं। यह प्रणाली लोकतंत्र को सशक्त बनाती है, जनता की आवाज़ को प्रमुखता देती है, और राजनीतिक प्रक्रिया में विविधता और समावेशिता को सुनिश्चित करती है। हालांकि, इस व्यवस्था में चुनौतियाँ भी हैं, जैसे कि भ्रष्टाचार, राजनीतिक अस्थिरता, और दल–बदल, लेकिन इसके बावजूद यह भारतीय लोकतंत्र की मजबूती और स्थिरता को बनाए रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। दलों की विविधता और उनकी कार्यप्रणाली भारतीय राजनीति को एक जीवंत और गतिशील स्वरूप देती है, जो देश के विकास और सामाजिक न्याय के लिए आवश्यक है।

5.8 भारत में राजनीतिक दलों की प्रमुख समस्याएं:

भारत में राजनीतिक दलों की प्रमुख समस्याएँ विभिन्न कारकों से प्रभावित होती हैं, जो न केवल उनके कार्यकलापों को चुनौती देती हैं, बल्कि लोकतांत्रिक प्रक्रिया को भी प्रभावित करती भारत में राजनीतिक दलों की

समस्याओं का विस्तृत वर्णन निम्नवत है–

- भारत में भ्रष्टाचार राजनीतिक दलों की सबसे बड़ी समस्याओं में से एक है। कई राजनीतिक दल चुनावी धन और संसाधनों के लिए अवैध तरीकों का सहारा लेते हैं। यह न केवल दलों की छवि को धूमिल करता है, बल्कि जनता का विश्वास भी कम करता है। भ्रष्टाचार के कारण सरकार की नीतियों का प्रभावी कार्यान्वयन भी प्रभावित होता है। जब दलों के नेता भ्रष्टाचार में लिप्त होते हैं, तो इससे शासन की पारदर्शिता और जवाबदेही में कमी आती है। इसके परिणामस्वरूप, विकास के कार्यक्रमों और योजनाओं का लाभ वंचित वर्गों तक नहीं पहुंच पाता है, जो कि लोकतंत्र के मूलभूत सिद्धांतों के खिलाफ है।

- आंतरिक लोकतंत्र की कमी भी एक महत्वपूर्ण समस्या है। कई राजनीतिक दलों में निर्णय लेने की प्रक्रिया अक्सर कुछ नेताओं या परिवारों द्वारा नियंत्रित होती है। इससे दल के भीतर प्रतिस्पर्धा और विचारों का आदान–प्रदान प्रभावित होता है। आंतरिक लोकतंत्र की कमी के कारण सदस्य अपनी आवाज़ नहीं उठा पाते हैं, जो कि लोकतांत्रिक प्रणाली के लिए हानिकारक है। इससे दल के नेता अपने व्यक्तिगत हितों को प्राथमिकता देने लगते हैं, जिसके परिणामस्वरूप दल के सदस्य और समर्थक निराश होते हैं।

- भारत में जातिगत और सामाजिक भेदभाव भी राजनीतिक दलों की समस्याओं में शामिल हैं। देश की विविधता के कारण, कई राजनीतिक दल जाति, धर्म, और समुदाय के आधार पर चुनावी रणनीतियाँ बनाते हैं। इससे सामाजिक विभाजन बढ़ता है और यह राजनीतिक स्थिरता के लिए खतरा बनता है। जातिगत राजनीति के चलते, कुछ वर्गों को केवल इसलिए नजरअंदाज किया जाता है क्योंकि वे किसी विशेष जाति या धर्म से नहीं आते हैं। यह असमानता न केवल समाज में तनाव पैदा करती है, बल्कि लोकतंत्र की नींव को भी कमजोर करती है।

- चुनावों में धन का बढ़ता प्रयोग भी एक गंभीर समस्या है। राजनीतिक दलों के चुनावी अभियानों में बड़ी मात्रा में धन खर्च होता है, जो अक्सर अवैध या अनैतिक तरीकों से प्राप्त होता है। यह स्थिति उन उम्मीदवारों और दलों को लाभ पहुंचाती है जिनके पास अधिक धन है, जबकि साधारण और ईमानदार उम्मीदवारों को चुनाव में भाग लेने से हतोत्साहित किया जाता है। इससे लोकतांत्रिक प्रक्रिया का विकृत होना और असमानता का बढ़ना सुनिश्चित होता है। चुनावी धन की पारदर्शिता की कमी के कारण मतदाता यह नहीं जान पाते कि कौन से दल या उम्मीदवार किस प्रकार का धन खर्च कर रहे हैं।

- राजनीतिक दलों में कार्यकर्ताओं की कमी भी एक महत्वपूर्ण मुद्दा है। कई दलों में कार्यकर्ताओं का एक समर्पित समूह नहीं होता, जो चुनावी अभियानों और अन्य गतिविधियों में सक्रिय भागीदारी कर सके। इसके परिणामस्वरूप, दलों को अपने कार्यों को प्रभावी ढंग से लागू करने में कठिनाई होती है। कार्यकर्ताओं की कमी के कारण, दल अपनी नीतियों को जनता तक सही तरीके से नहीं पहुँचा पाते। इसके अलावा, नए नेताओं और कार्यकर्ताओं के लिए अवसरों की कमी के कारण युवा पीढ़ी का राजनीतिक सक्रियता में योगदान सीमित होता है।

- राजनीतिक दलों के लिए क्षेत्रीयता भी एक महत्वपूर्ण समस्या है। भारतीय राजनीति में क्षेत्रीय दलों की वृद्धि हुई है, जो स्थानीय मुद्दों और समस्याओं पर केंद्रित होते हैं। यह स्थिति राष्ट्रीय दलों के लिए चुनौती बन सकती है, क्योंकि वे क्षेत्रीय दलों की लोकप्रियता के सामने कमजोर हो सकते हैं। इससे राष्ट्रीय स्तर पर राजनीतिक संतुलन में कमी आ सकती है, क्योंकि क्षेत्रीय दल अपनी विशेषताओं और मुद्दों पर ध्यान केंद्रित करते हैं, जो कि व्यापक राष्ट्रीय हितों को नजरअंदाज कर सकता है।

- राजनीतिक दलों के लिए गठबंधन सरकारों का निर्माण भी एक बड़ी चुनौती है। जब कोई दल स्पष्ट बहुमत नहीं प्राप्त करता है, तो उसे अन्य दलों के साथ गठबंधन बनाना पड़ता है। इससे सरकार की स्थिरता पर सवाल उठते हैं। गठबंधन में विभिन्न दलों की विचारधाराएँ और नीतियाँ भिन्न होती हैं, जो एकजुटता को चुनौती देती हैं। गठबंधन सरकारों में अक्सर असहमति और संघर्ष होते हैं, जो शासन के कार्यान्वयन को प्रभावित कर सकते हैं। इससे राजनीतिक अस्थिरता और निरंतरता की कमी हो सकती है, जो जनता के लिए समस्या बनती है।

- राजनीतिक दलों में चुनावी वादों का पालन न करना। चुनावों के दौरान, दल जनहित में कई वादे करते हैं, लेकिन सरकार में आने के बाद उन्हें पूरा करने में असफल रहते हैं। इससे जनता में असंतोष बढ़ता है और लोकतंत्र में विश्वास की कमी होती है। लोग महसूस करते हैं कि उनके मत डालने का कोई मूल्य नहीं है, क्योंकि राजनीतिक दल चुनावी वादों को निभाने में असफल रहते हैं। यह स्थिति न केवल दलों की छवि को धूमिल करती है, बल्कि लोकतंत्र के प्रति नागरिकों के विश्वास को भी कमजोर करती है।

- राजनीतिक दलों के लिए मीडिया का प्रभाव भी एक चुनौती है। मीडिया का दुरुपयोग अक्सर राजनीतिक दलों द्वारा किया जाता है, जिससे गलत सूचनाएँ फैल सकती हैं। कभी–कभी, मीडिया किसी विशेष दल या विचारधारा के पक्ष में पक्षपाती हो सकता है, जो लोकतांत्रिक प्रक्रिया को प्रभावित करता है। इससे मतदाता की सोच और निर्णय प्रभावित होते हैं, जो कि एक स्वस्थ लोकतंत्र के लिए हानिकारक है।

- राजनीतिक दलों के लिए रणनीतिक और संगठनात्मक मुद्दे भी महत्वपूर्ण हैं। कई दलों में नीति निर्माण की प्रक्रिया में स्थिरता की कमी होती है। जब दल की नीतियाँ स्पष्ट नहीं होतीं या वे बार–बार बदलती हैं, तो इससे कार्यकर्ताओं और समर्थकों में निराशा फैलती है। इसके अलावा, दलों की संगठनात्मक संरचना भी कई बार कमजोर होती है, जिससे कार्यों का सुचारू रूप से कार्यान्वयन नहीं हो पाता।

इन सभी समस्याओं का समाधान करने के लिए, भारतीय राजनीतिक दलों को न केवल अपने आंतरिक ढांचे को सुधारना होगा, बल्कि लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं को अधिक पारदर्शी और जवाबदेह बनाना होगा। केवल तभी वे जनता का विश्वास पुनः प्राप्त कर सकेंगे और लोकतंत्र को सशक्त बना सकेंगे। राजनीतिक दलों का सही ढंग से कार्य करना भारतीय लोकतंत्र की मजबूती के लिए अत्यंत आवश्यक है, जिससे कि वे समाज के सभी वर्गों के लिए लाभकारी नीतियाँ और कार्यक्रम बना सकें। इससे अंततः भारत की लोकतांत्रिक प्रक्रिया में स्थिरता और विकास को बढ़ावा मिलेगा।

5.9 सारांशः

भारत में दलीय व्यवस्था का स्वरूप एक विविधता से भरा हुआ है, जो देश की लोकतांत्रिक प्रक्रिया की पहचान है। यह व्यवस्था न केवल विभिन्न विचारधाराओं और सामाजिक समूहों का प्रतिनिधित्व करती है, बल्कि विभिन्न क्षेत्रों और समुदायों की आवाज़ को भी सशक्त बनाती है। भारतीय दलीय प्रणाली में मुख्य रूप से राष्ट्रीय और क्षेत्रीय दल शामिल हैं, जो चुनावी राजनीति में सक्रिय भागीदारी करते हैं।

हालांकि, भारत की दलीय व्यवस्था के कई सकारात्मक पहलू हैं, लेकिन साथ ही यह विभिन्न चुनौतियों का सामना भी करती है। राजनीतिक दलों के बीच अस्थिर गठबंधन, चुनावी भ्रष्टाचार, धन का प्रभाव और जातिगत राजनीति जैसी समस्याएँ इस व्यवस्था की गुणवत्ता को प्रभावित करती हैं। इससे न केवल लोकतंत्र की प्रामाणिकता पर प्रश्न उठता है, बल्कि मतदाताओं का विश्वास भी कमजोर होता है। आंतरिक लोकतंत्र की कमी और दलों के भीतर नेताओं की शक्ति का केंद्रीकरण भी एक महत्वपूर्ण चिंता का विषय है। जातिगत और सांप्रदायिक राजनीति भारतीय दलीय व्यवस्था में विभाजन का कारण बनती है। कई राजनीतिक दल अपने स्वार्थ के लिए जाति और धर्म के आधार पर मतों का ध्रुवीकरण करते हैं, जिससे सामाजिक एकता में कमी आती है। यह न केवल राजनीतिक स्थिरता को प्रभावित करता है, बल्कि लोकतंत्र की नींव को भी कमजोर करता है।

भारत में दलीय व्यवस्था का सफलतापूर्वक कार्यान्वयन और स्थिरता के लिए आवश्यक है कि राजनीतिक दल अपने आंतरिक ढांचे को सुधारें और चुनावी प्रक्रिया में पारदर्शिता सुनिश्चित करें। इसके साथ ही, दलों को अपनी नीतियों को व्यापक और समावेशी बनाना होगा, जिससे सभी वर्गों और समुदायों के हितों का संरक्षण हो सके। भारत में दलीय व्यवस्था का स्वरूप एक चुनौतीपूर्ण लेकिन महत्वपूर्ण प्रणाली है, जो देश के लोकतांत्रिक जीवन को आकार देती है। इसके स्थायित्व और प्रभावशीलता के लिए सुधारों की आवश्यकता है, ताकि यह एक सशक्त और समावेशी लोकतंत्र की दिशा में आगे बढ़ सके। केवल तभी भारत की दलीय व्यवस्था अपनी पूरी क्षमता को पहचान पाएगी और लोकतंत्र को मजबूत करने में सक्षम होगी।

5.10 महत्वपूर्ण शब्दावली :

राजनीतिक दल	एक संगठन जो चुनावों में भाग लेकर राजनीतिक सत्ता हासिल करने का प्रयास करता है और नीतियों को लागू करता है।
राष्ट्रीय दल	ऐसे राजनीतिक दल जो पूरे देश में अपने प्रभाव का विस्तार करते हैं और राष्ट्रीय मुद्दों पर ध्यान केंद्रित करते हैं।
बहुपद प्रणाली	एक राजनीतिक प्रणाली जिसमें एक से अधिक राजनीतिक दल चुनावी प्रतिस्पर्धा में भाग लेते हैं।
गठबंधन विभिन्न	राजनीतिक दलों का एकत्रित होना, ताकि वे एक साथ मिलकर सरकार बना सकें या किसी विशेष मुद्दे पर एकमत हो सकें।
चुनावी प्रक्रिया	चुनावों के आयोजन से संबंधित सभी गतिविधियाँ, जिसमें नामांकन, प्रचार, मतदान और परिणाम की घोषणा शामिल है।
मतदाता	वह व्यक्ति जो चुनावों में मतदान करने का अधिकार रखता है और किसी विशेष दल या उम्मीदवार का चयन करता है।
प्रतिनिधित्व	राजनीतिक दलों द्वारा विभिन्न सामाजिक समूहों, जातियों, और वर्गों की आवाज़ को चुनावी प्रक्रिया में शामिल करना।
मतदाता पहचान पत्र	एक आधिकारिक दस्तावेज़ जो मतदाता की पहचान को प्रमाणित करता है और चुनाव में मतदान के लिए आवश्यक होता है।
सामाजिक आंदोलन	नागरिकों द्वारा संचालित एक संगठित प्रयास जो सामाजिक बदलाव के लिए राजनीतिक दलों पर दबाव डालता ळें

5.11 महत्वपूर्ण बोध पशनः

1. भारत में दलीय व्यवस्था की परिभाषा क्या है?

   ....
   ....
   ....

2. राष्ट्रीय दल और क्षेत्रीय दल के बीच क्या अंतर है?

   ....
   ....
   ....

3. भारत में राजनीतिक दलों की प्रमुख विशेषताएँ क्या हैं?

   ....
   ....
   ....

4. भारत में दलीय व्यवस्था में बहुपद प्रणाली का क्या महत्व है?

   ....
   ....
   ....

5. गठबंधन सरकारों की लाभ और हानियाँ क्या हैं?

....

....

6. चुनावों में राजनीतिक दलों के प्रचार–प्रसार के विभिन्न तरीकों की चर्चा करें।

....

....

7. भारत में दलीय व्यवस्था के भविष्य के लिए प्रमुख चुनौतियाँ क्या हैं?

....

....

5.12 उपयोगी पुस्तकें

पुस्तकें–

- Sapru, R. K., *Political Parties in India:A Comparative Perspective*. New Delhi: Sterling Publishers, 2009.
- Bhatia, K. S. *Indian Politics:A Comparative Perspective*. New Delhi: CengSge Learning, 2013.
- Desai,A. R. *The Indian Party System:A CriticalAssessment*. New Delhi: Popular Prakashan, 2003.
- Ghosh,Ashok. *Political PartiesAnd Electoral Politics in India*. New Delhi: Gyan Publishing House, 2011.
- GSngrade, K. D. *Indian Political System*. New Delhi: Vikas Publishing House, 2010.
- Kohli,Atul. *India:A Global Studies* Handbook. Santa Barbara:ABC-CLIO, 2006.
- Chhibber, Pradeep,And Kollery, Irfan. *The Politics of India's Regional Parties*. New Delhi: Oxford University Press, 2004.
- Jaffrelot, Christophe. *India's Political Parties.* New Delhi: Oxford University Press, 2009.
- Rao, R. K. S. *Indian Political System:A CriticalAnalysis*. New Delhi: New Century Publications, 2012.
- Chatterjee, Partha. *The Politics of the Governed: Reflections on Popular Politics in Most of the World*. New York: Columbia University Press, 2004.
- Kumar, Rajesh. *Political PartiesAnd the Electoral System in India*. New Delhi:Anmol Publications, 2007.
- Indian Politics:A Comparative Perspective - R. K. Sapru
- Political Parties in India:A ComparativeAnalysis - K. S. Bhatia
- The Indian Party System:A CriticalAssessment -A. R. Desai
- Political PartiesAnd Electoral Politics in India -Ashok Ghosh
- Indian Political System - K. D. GSngrade

लेख–

- The Role of Political Parties in Indian Democracy - Journal of Political Studies
- Party System in India: TrendsAnd Challenges- EconomicAnd Political Weekly
- The Impact of Regional Parties on Indian Politics- Indian Journal of Political Science
- Electoral ReformsAnd the Party System in India - Indian Political ScienceAssociation
- Political PartiesAnd Governance in India: ChallengesAnd Opportunities- Journal of Governance Studies

इकाई–6 भारत में क्षेत्रीय एवं राज्य स्तरीय दल

इकाई की रूपरेखा

6.0 उद्देश्य

6.1 प्रस्तावना

6.2 क्षेत्रीय और राज्य स्तरीय दलों की विशेषताएं

6.3 राज्य स्तरीय दलों की सफलता का मूल आधार

6.4 केंद्र राज्य विवाद और राज्य दलों का उदय

6.5 राज्य स्तरीय दलों का औचित्य

6.6 भारत में प्रमुख राज्य स्तरीय दल

6.6.1 अकाली दल (Akali Dal)

6.6.2 द्रविड़ मुनेत्र कड़गम तथा अन्ना द्रविड़ मुनेत्र कड़गम (DMKAndADMK):

6.6.3 नेशनल कांफ्रेंस

6.6.4 तेलुगु देशम

6.6.5 असम गण परिषद

6.6.6 अन्य राज्यों में क्षेत्रीय या राज्य दलों के परिदृश्य

6.7 सारांश

6.8 शब्दावली

6.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

6.0 उद्देश्य

भारत में क्षेत्रीय और राज्य स्तरीय दलों का महत्व भारतीय राजनीति में अत्यधिक बढ़ गया है। ये दल राजनीतिक परिदृश्य में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं, खासकर विभिन्न सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक मुद्दों के संदर्भ में। इन दलों का उद्देश्य स्थानीय मुद्दों का समाधान करना, विभिन्न जातियों और समुदायों की आवाज़ को राजनीतिक मंच पर लाना और विकास के लिए योजनाओं को लागू करना है। क्षेत्रीय दल आमतौर पर एक विशेष राज्य या क्षेत्र के भीतर सक्रिय होते हैं और वे वहां के स्थानीय मुद्दों पर ध्यान केंद्रित करते हैं। इन दलों की स्थापना का प्रमुख उद्देश्य स्थानीय जनसंख्या की राजनीतिक भागीदारी को बढ़ावा देना और राज्य की सरकार में अपनी पहचान बनाना है। वे अपने क्षेत्र के विकास के लिए विशेष योजनाएँ बनाने की कोशिश करते हैं और इस तरह स्थानीय लोगों की समस्याओं को हल करने के लिए प्रयासरत रहते हैं।

भारत की विविधता को देखते हुए, कई जातियाँ, समुदाय और भाषाएँ हैं, जो अक्सर केंद्रीय राजनीतिक दलों द्वारा अनदेखी की जाती हैं। क्षेत्रीय दल इन समुदायों की चिंताओं को उठाते हैं और उनके अधिकारों के लिए लड़ाई करते हैं। उदाहरण के लिए, द्रविड़ मुनेत्र कड़गम (DMK) और अन्ना द्रविड़ मुनेत्र कड़गम (AIADMK) जैसे दलों ने तमिलनाडु में तमिल भाषी लोगों और संस्कृति के अधिकारों की रक्षा के लिए कई अभियान चलाए हैं। राज्य स्तरीय दल भी राजनीतिक प्रक्रिया में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। ये दल अक्सर अपने राज्यों में चुनावी प्रदर्शन को बेहतर बनाने के लिए स्थानीय मुद्दों पर जोर देते हैं। इस प्रकार, वे राष्ट्रीय मुद्दों की तुलना में स्थानीय मुद्दों को प्राथमिकता देते हैं। इसका एक उदाहरण "बीजू जनता दल" (BJD) है, जो ओडिशा में अपनी पहचान बनाए रखने और स्थानीय विकास के लिए संघर्ष करता है।

क्षेत्रीय दलों का एक अन्य उद्देश्य संसदीय और विधानसभा चुनावों में अपने राज्य की उपस्थिति को मजबूत करना है। ये दल केंद्रीय राजनीति में अपनी जगह बनाने के लिए विभिन्न रणनीतियों का उपयोग करते

हैं, जैसे कि चुनावी गठबंधन, प्रचार अभियान, और विभिन्न मुद्दों पर राजनीतिक संवेदनशीलता। इन दलों का एक महत्वपूर्ण कार्य यह सुनिश्चित करना है कि उनकी आवाज़ संसद और विधानसभाओं में सुनी जाए, ताकि वे अपने राज्य के विकास के लिए प्रभावी नीतियाँ बना सकें। इसके अलावा, क्षेत्रीय और राज्य स्तरीय दलों का उद्देश्य युवाओं और महिलाओं को राजनीतिक प्रक्रिया में शामिल करना है। ये दल युवा वोटरों को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए विभिन्न योजनाएँ और कार्यक्रम चलाते हैं। साथ ही, ये महिलाओं को राजनीतिक भागीदारी के लिए प्रेरित करते हैं, जिससे कि समाज में समानता और विकास का माहौल बने।

राजनीतिक दलों की आंतरिक संरचना भी महत्वपूर्ण है। क्षेत्रीय और राज्य स्तरीय दल अक्सर अपने सदस्यता आधार को मजबूत करने के लिए स्थानीय समुदायों के साथ सीधा संपर्क साधते हैं। वे अपने कार्यकर्ताओं को प्रशिक्षित करते हैं और स्थानीय स्तर पर संगठनात्मक ढाँचा स्थापित करते हैं। इससे यह सुनिश्चित होता है कि दल की नीतियाँ और कार्यक्रम स्थानीय जरूरतों के अनुरूप हों। क्षेत्रीय दलों की चुनौतियाँ भी हैं, जैसे कि सीमित संसाधनों, केंद्रीय दलों से प्रतिस्पर्धा और राजनीतिक अस्थिरता। इसके बावजूद, ये दल भारतीय राजनीति में अपनी विशिष्ट पहचान बनाए हुए हैं। क्षेत्रीय और राज्य स्तरीय दल भारत की राजनीतिक संरचना का महत्वपूर्ण हिस्सा हैं। उनका उद्देश्य न केवल स्थानीय मुद्दों का समाधान करना है, बल्कि सामाजिक न्याय, विकास और राजनीतिक भागीदारी को बढ़ावा देना भी है। ये दल भारतीय लोकतंत्र की विविधता और समृद्धि को बनाए रखने में सहायक होते हैं।

6.1 प्रस्तावना

भारत की राजनीतिक व्यवस्था एक विविधतापूर्ण और जटिल संरचना है, जिसमें विभिन्न स्तरों पर विभिन्न राजनीतिक दलों की भूमिका महत्वपूर्ण है। क्षेत्रीय और राज्य स्तरीय दल इस प्रणाली के अभिन्न अंग हैं, जो भारतीय राजनीति को जीवंत और गतिशील बनाते हैं। ये दल स्थानीय मुद्दों और आवश्यकताओं पर ध्यान केंद्रित करते हैं और अपने–अपने क्षेत्रों में सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक अधिकारों की रक्षा के लिए संघर्ष करते हैं। भारत में विभिन्न जातियों, धर्मों और भाषाओं के लोग निवास करते हैं, जिससे राजनीतिक दलों को विभिन्न समुदायों की विशेष आवश्यकताओं को समझने और उनके अनुसार नीतियाँ बनाने की आवश्यकता होती है। क्षेत्रीय दल इस विविधता का प्रतिनिधित्व करते हैं और उन मुद्दों पर जोर देते हैं जो केवल एक राज्य या क्षेत्र से संबंधित होते हैं। इसके साथ ही, वे स्थानीय संस्कृति, भाषा और पहचान को संरक्षित करने का प्रयास करते हैं। यह ध्यान रखना महत्वपूर्ण है कि क्षेत्रीय दलों की स्थापना का उद्देश्य न केवल राजनीतिक शक्ति हासिल करना है, बल्कि स्थानीय समुदायों की आवाज़ को संसद और विधानसभा में पहुँचाना भी है। इन दलों की भूमिका चुनावी राजनीति में भी महत्वपूर्ण है। वे अक्सर स्थानीय मुद्दों को चुनावी प्रचार का हिस्सा बनाते हैं, जिससे मतदाता उनके प्रति आकर्षित होते हैं। राज्य स्तरीय दलों का निर्माण भी इस तथ्य को दर्शाता है कि देश की राजनीतिक संरचना में विविधता आवश्यक है। ये दल केंद्रीय दलों के मुकाबले अपने क्षेत्र में अधिक संवेदनशील और प्रभावी नीतियाँ बनाने का प्रयास करते हैं। राज्य स्तरीय दलों की सफलता का एक प्रमुख कारण यह है कि वे अपने–अपने राज्यों की जनसंख्या की वास्तविक आवश्यकताओं को समझते हैं और उन्हें प्राथमिकता देते हैं।

क्षेत्रीय दलों का एक अन्य महत्वपूर्ण उद्देश्य सामाजिक न्याय को सुनिश्चित करना है। ये दल अक्सर ऐसे समुदायों की आवाज़ बनते हैं जिन्हें केंद्रीय राजनीतिक दलों द्वारा अनदेखा किया गया है। इस प्रकार, क्षेत्रीय दल न केवल राजनीतिक शक्ति प्राप्त करने के लिए काम करते हैं, बल्कि वे सामाजिक और आर्थिक रूप से वंचित समुदायों के अधिकारों के लिए भी लड़ाई लड़ते हैं। भारत में क्षेत्रीय और राज्य स्तरीय दलों की भूमिका लोकतंत्र को मजबूत करने में भी सहायक है। ये दल चुनावों में भाग लेकर और मतदाता जागरूकता फैलाकर राजनीतिक प्रक्रिया में भागीदारी को बढ़ावा देते हैं। इसके साथ ही, ये दल युवा पीढ़ी को राजनीति में शामिल करने के लिए कई कार्यक्रम चलाते हैं, जो भविष्य में समाज में बदलाव लाने में सहायक होते हैं।

क्षेत्रीय और राज्य स्तरीय दल भारतीय राजनीति के एक महत्वपूर्ण हिस्से हैं। उनका उद्देश्य न केवल राजनीतिक अधिकारों की रक्षा करना है, बल्कि स्थानीय स्तर पर विकास और सामाजिक न्याय को सुनिश्चित करना भी है। ये दल विभिन्न समुदायों की आवाज़ बनकर, भारतीय लोकतंत्र की विविधता को समृद्ध बनाते हैं। इस व्यवस्था के माध्यम से, वे न केवल राजनीतिक संरचना को जीवंत बनाते हैं, बल्कि समाज में संतुलन और समरसता को भी बढ़ावा देते हैं। भारत में क्षेत्रीय और राज्य स्तरीय दलों की भूमिका एक ऐसे तंत्र के रूप में

सामने आती है, जो न केवल स्थानीय मुद्दों का समाधान करते हैं, बल्कि भारतीय लोकतंत्र को अधिक समृद्ध और प्रभावी बनाते हैं। उनकी उपस्थिति से यह स्पष्ट होता है कि राजनीतिक प्रक्रिया में विविधता और बहुलता को बनाए रखना कितना महत्वपूर्ण है।

क्षेत्रीय दलों का उद्‌भव जन आन्दोलन से हुआ। द्रमुक अगर द्रविड़ कड़गम की ब्राह्मण विरोधी राजनीति की उपज है, तो तेलुगूदेशम् का जन्म कांग्रेसी सरकारों द्वारा तेलुगु 'स्वाभिमान' को ठेस पहुंचाने के कारण हुआ और 'विदेशियों' के खिलाफ अन्ध जातीयतावादी छात्रआंदोलन के कारण असम गण परिषद् अस्तित्त्व में आई। 'राज्य स्तरीय' दलों को 'क्षेत्रीय दल' सम्बोधित करने की हमारी आदत रही है। असल में असम गण परिषद् (असम), नेशनल कांफ्रेन्स (जम्मू –कश्मीर), डी. एम. के. (तमिलनाडु) अकाली दल (पंजाब), शिवसेना (महाराष्ट्र), सिक्किम संग्राम परिषद् (सिक्किम), आदि सभी राज्य स्तरीय दल हैं। ये अलग–अलग राज्यों में प्रभावशाली हैं न कि किसी क्षेत्र विशेष में।

6.2 क्षेत्रीय और राज्य स्तरीय दलों की विशेषताएं

भारतीय राजनीति में क्षेत्रीय और राज्यस्तरीय दलों की संख्या निरन्तर बढ़ती जा रही है। इन दलों की निम्नलिखित विशेषताएं हैं–

1. भारतीय राजनीति में राज्य दलों का वर्चस्व सन् 1967 के चतुर्थ आम चुनाबों के बाद बढ़ने लगा।
2. भारत के क्षेत्रीय दल आमतौर से राज्य स्तरीय दल ही है।
3. इन राज्य स्तरीय दलों की प्रमुख मांग राज्य स्वायत्तता है।
4. इन राज्य स्तरीय दलों की प्रमुख प्रतिस्पर्धा कॉंग्रेस एवं भाजपा से है।
5. राज्य स्तरीय दलों की संकुचित अपील और आधार होते हैं, जैसे उपसंस्कृति, जातीयता और धर्म के तत्व आदि।
6. क्षेत्रवाद का उदय केन्द्र के खिलाफ विद्रोह से होता है।
7. क्षेत्रवाद भी वस्तुतः सत्ता हासिल करने का वैसा ही शॉर्टकट है जैसे शॉर्टकट राष्ट्रीय राजनीति करने दल वाले अपनाते हैं।

6.3 राज्य स्तरीय दलों की सफलता का मूल आधारः शक्तिशाली नेतृत्व

राज्य स्तरीय दलों की सफलता का मूल आधार उनके शक्तिशाली नेतृत्व में निहित होता है। भारत जैसे विविध और जटिल लोकतांत्रिक देश में, जहां हर राज्य की अपनी सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक पहचान होती है, राजनीतिक दलों की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि वे किस तरह से स्थानीय मुद्दों और जनभावनाओं को समझकर उन्हें अपने नेतृत्व में समाहित करते हैं। शक्तिशाली और प्रभावी नेतृत्व इन दलों को न केवल राजनीतिक शक्ति दिलाता है, बल्कि स्थानीय समुदायों में विश्वास और समर्थन भी अर्जित करता है।

शक्तिशाली नेतृत्व का सबसे प्रमुख उदाहरण क्षेत्रीय नेताओं की अपनी जनता से निकटता और उनकी जरूरतों को समझने की क्षमता है। इन नेताओं का स्थानीय जमीनी स्तर पर गहरा जुड़ाव होता है, जिससे वे जनता के मुद्दों को गहराई से समझते हैं और उनके लिए प्रभावी समाधान पेश करते हैं। एक मजबूत नेतृत्व न केवल अपने दल को संगठित रखता है, बल्कि कठिन परिस्थितियों में दल को मजबूती से खड़ा रखता है। उदाहरण के लिए, पश्चिम बंगाल में तृणमूल कांग्रेस (TMC) की नेता ममता बनर्जी ने अपने नेतृत्व के दम पर राज्य में एक मजबूत राजनीतिक पहचान बनाई। उन्होंने राज्य की जनता के साथ अपनी गहरी पहचान बनाई और केंद्र सरकार से टकराव की स्थिति में भी अपने राज्य के हितों की सुरक्षा की। यह उनके शक्तिशाली नेतृत्व का परिणाम था कि तृणमूल कांग्रेस ने लगातार कई चुनावों में जीत हासिल की।

शक्तिशाली नेतृत्व का दूसरा पहलू यह है कि वह दल के भीतर एकता और संगठनात्मक मजबूती बनाए रखता है। एक सफल नेता अपने दल के भीतर अनुशासन और संगठन को बनाए रखता है, जिससे दल के कार्यकर्ता और नेता एक साझा लक्ष्य की ओर बढ़ते हैं। शक्तिशाली नेतृत्व वाले दल में आंतरिक कलह और विभाजन की संभावनाएं कम होती हैं, जिससे दल अधिक स्थिर और विश्वसनीय बनता है। उदाहरणस्वरूप,

तमिलनाडु में द्रविड़ मुनेत्र कड़गम (क्डझ) के नेता करुणानिधि ने अपने दल को न केवल राज्य में एक प्रमुख राजनीतिक ताकत बनाया, बल्कि अपनी नेतृत्व क्षमता से दल के भीतर भी एकजुटता बनाए रखी।

शक्तिशाली नेतृत्व का एक और महत्वपूर्ण पहलू है जनता के साथ संवाद स्थापित करना और उनकी उम्मीदों को राजनीतिक एजेंडा में स्थान देना। क्षेत्रीय नेता अक्सर स्थानीय मुद्दों, जैसे कि विकास, सामाजिक न्याय, भाषा और संस्कृति की रक्षा जैसे विषयों पर ध्यान केंद्रित करते हैं, जो राष्ट्रीय दलों की प्राथमिकता में नहीं होते। ऐसे मुद्दों को अपने राजनीतिक एजेंडे में शामिल कर, शक्तिशाली नेता राज्य के नागरिकों का समर्थन हासिल करते हैं। उदाहरण के लिए, बिहार में राष्ट्रीय जनता दल (त्श्रक) के नेता लालू प्रसाद यादव ने सामाजिक न्याय और पिछड़ी जातियों के उत्थान के मुद्दों को प्रमुखता से उठाया, जिससे उन्हें राज्य की जनता का व्यापक समर्थन प्राप्त हुआ।

शक्तिशाली नेतृत्व वाले क्षेत्रीय दल अपने राज्य के बाहर भी प्रभावी हो सकते हैं। कई बार, ये नेता अपने राज्य की सीमाओं से बाहर निकलकर राष्ट्रीय राजनीति में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। ऐसा तब होता है जब एक नेता अपने राज्य के हितों को केंद्रीय राजनीति में प्रभावी ढंग से प्रस्तुत करता है। उदाहरणस्वरूप, उत्तर प्रदेश में बहुजन समाज पार्टी (BSP) की नेता मायावती ने न केवल राज्य में बल्कि राष्ट्रीय स्तर पर भी दलित समुदाय की आवाज को प्रमुखता दी, जिससे उनकी राजनीतिक शक्ति और प्रभाव बढ़ा।

शक्तिशाली नेतृत्व का एक और प्रमुख गुण है चुनौतीपूर्ण परिस्थितियों में दल को मार्गदर्शन देना और कठिन समय में उसे सफलतापूर्वक आगे बढ़ाना। यह गुण तब प्रकट होता है जब दल को राजनीतिक, सामाजिक या आर्थिक संकटों का सामना करना पड़ता है। एक मजबूत नेता न केवल समस्याओं का समाधान ढूंढता है, बल्कि दल की प्रतिष्ठा और विश्वसनीयता को भी बनाए रखता है। राज्य स्तरीय दलों की सफलता का प्रमुख कारण उनके शक्तिशाली नेतृत्व में छिपा है। ऐसे नेता अपनी जनता के साथ गहरा संबंध रखते हैं, उनकी समस्याओं को समझते हैं, और दल के संगठन को मजबूत रखते हुए राज्य के हितों की रक्षा करते हैं। उनकी यह क्षमता न केवल उन्हें राजनीतिक रूप से सफल बनाती है, बल्कि उनके दल को भी मजबूत और प्रभावी राजनीतिक शक्ति के रूप में स्थापित करती है।

6.4 केंद्र राज्य विवाद और राज्य दलों का उदय

भारत जैसे विशाल देश में केन्द्रीकरण की सफलता की सम्भावनाएं कम हैं। विभिन्न क्षेत्रों की समस्याएं, रहन–सहन के ढंग सामाजिक मान्यताएं और भौगोलिक यथार्थ इस बात को अनिवार्य बना देते हैं कि उनके साथ अलग–अलग ढंग से विचार किए जाये। यद्यपि भारतीय संविधान में संघ शासन के रूप को स्वीकारा गया, फिर भी मजबूत केन्द्र की कल्पना की गयी थी। यह बात मान ली गयी कि केन्द्र व राज्यों में अलग–अलग दलों की सरकारें बन सकती हैं और रह सकती हैं। उनमें सवैधानिक प्रश्नों पर यदि विवाद हो तो उसके लिए सर्वोच्च न्यायालय को अधिकार दिया गया। फिर भी केन्द्र तथा राज्यों मे विवादों के ऐसे मुद्दे जिससे राज्यस्तरीय दलों की स्थापना हुई। उदाहरण के तौर पर देखा जाय तो द्रविड मुझेत्र कड़गम के शक्ति संचय का कारण केन्द्र और राज्य में हिन्दी भाषा को लेकर विवाद रहे। अकाली दल की शक्ति का आधार 'राज्यों को अधिक स्वायत्तता' दी जाने की मांग थी, नैशनल कॉन्फ्रेंस का आधार कश्मीर का पृथक स्वायत्त दर्जा बनाये रखने की मांग रही, तेलुगूदेशम के अभ्युदय का कारण आंध्र प्रदेश में केंद्र द्वारा हर तीसरे महीने मुख्यमंत्री बदलने की प्रवृत्ति का होना माना जा सकता है। एक बार सत्ता में आने के बाद सभी प्रादेशिक दलों के केंद्र विरोधी रुख अपनाया और केंद्र राज्य विवादों को जन्म दिया।

6.5 राज्य स्तरीय दलों का औचित्य

भारत की राजनीतिक व्यवस्था में राज्य स्तरीय दलों का औचित्य महत्वपूर्ण है, क्योंकि यह देश की विविधता और जटिलता को ध्यान में रखकर स्थानीय और क्षेत्रीय मुद्दों का प्रतिनिधित्व करता है। भारत एक संघीय ढांचे वाला देश है, जहां विभिन्न राज्यों में भिन्न–भिन्न सांस्कृतिक, भाषाई, सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियां हैं। इस विविधता के कारण राष्ट्रीय दलों द्वारा सभी राज्यों के मुद्दों को समान रूप से संबोधित करना कठिन होता है। ऐसे में राज्य स्तरीय दलों की आवश्यकता और औचित्य उभरकर सामने आता है, जो स्थानीय स्तर पर नागरिकों की समस्याओं और आकांक्षाओं को प्रभावी ढंग से प्रतिनिधित्व करते हैं। इस संदर्भ में निम्न बातों पर ध्यान दिया जा सकता है–

- राज्य स्तरीय दलों का औचित्य यह है कि वे राज्य की विशिष्ट आवश्यकताओं और समस्याओं को समझते हैं और उन पर ध्यान केंद्रित करते हैं। प्रत्येक राज्य की भौगोलिक, सांस्कृतिक और सामाजिक स्थिति अलग होती है, जिससे वहाँ की समस्याएँ भी भिन्न होती हैं। उदाहरणस्वरूप, उत्तर पूर्वी राज्यों में विकास से जुड़े मुद्दे, जैसे बुनियादी ढांचे की कमी, उग्रवाद, और सामाजिक असमानताएँ राष्ट्रीय राजनीति के प्रमुख एजेंडे का हिस्सा नहीं बन पातीं। ऐसे में राज्य स्तरीय दल इन मुद्दों को सामने लाकर स्थानीय जनता का प्रतिनिधित्व करते हैं और राज्य के विकास के लिए प्रभावी नीतियाँ बनाने में मदद करते हैं।

- राज्य स्तरीय दल समाज के वंचित और अल्पसंख्यक वर्गों को राजनीतिक मंच प्रदान करते हैं। राष्ट्रीय दल अक्सर बड़े सामाजिक समूहों और राष्ट्रीय मुद्दों पर केंद्रित रहते हैं, जिससे कई बार स्थानीय और सामाजिक रूप से वंचित वर्गों की समस्याएं उपेक्षित रह जाती हैं। राज्य स्तरीय दल इन वर्गों को राजनीति में भागीदारी का अवसर देते हैं और उनके अधिकारों की सुरक्षा के लिए संघर्ष करते हैं। उदाहरण के रूप में, तमिलनाडु में द्रविड़ दलों ने पिछड़े वर्गों और दलितों के अधिकारों के लिए आंदोलन किया, जिससे उनकी राजनीतिक और सामाजिक स्थिति में सुधार हुआ।

- राज्य स्तरीय दल संघीय ढांचे को मजबूत करने में सहायक होते हैं। भारतीय संविधान में संघीयता के सिद्धांत को अपनाया गया है, जिसका उद्देश्य केंद्र और राज्यों के बीच शक्ति के बंटवारे को सुनिश्चित करना है। राज्य स्तरीय दल इस संघीयता को मजबूती प्रदान करते हैं, क्योंकि वे राज्य के हितों और अधिकारों की रक्षा के लिए केंद्र सरकार के समक्ष आवाज़ उठाते हैं। उदाहरण के लिए, जब केंद्र सरकार कोई नीति लागू करती है, जो राज्य के हितों के खिलाफ होती है, तो राज्य स्तरीय दल इसका विरोध करते हैं और राज्य की स्वायत्तता की रक्षा के लिए संघर्ष करते हैं।

- राज्य स्तरीय दलों का एक और औचित्य यह है कि वे राज्य के विकास के लिए विशिष्ट योजनाओं और नीतियों को लागू करने में सक्षम होते हैं। राष्ट्रीय दलों की नीतियाँ अक्सर व्यापक होती हैं और सभी राज्यों के लिए एक जैसी होती हैं, जिससे स्थानीय समस्याओं का समाधान प्रभावी ढंग से नहीं हो पाता। इसके विपरीत, राज्य स्तरीय दल राज्य के स्थानीय संदर्भ को ध्यान में रखकर नीतियाँ बनाते हैं और उन्हें प्रभावी ढंग से लागू करते हैं। उदाहरणस्वरूप, पश्चिम बंगाल में तृणमूल कांग्रेस (ज्डब्) ने राज्य के विकास और सामाजिक कल्याण के लिए कई योजनाएँ शुरू कीं, जो राज्य की विशिष्ट आवश्यकताओं को पूरा करती हैं।

- राज्य स्तरीय दलों का औचित्य लोकतंत्र को और मजबूत करने में भी निहित है। भारत जैसे विशाल लोकतंत्र में, जहां लाखों लोग विभिन्न मुद्दों से जूझ रहे हैं, राज्य स्तरीय दल एक प्रभावी माध्यम बनते हैं, जिससे जनता की आवाज़ सुनी जा सके। ये दल चुनावों के दौरान मतदाताओं को विभिन्न विकल्प प्रदान करते हैं और लोकतंत्र की विविधता को बनाए रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इससे यह सुनिश्चित होता है कि जनता के पास विभिन्न विचारधाराओं और नीतियों में से चयन करने का अवसर हो।

- राज्य स्तरीय दलों का औचित्य इस बात में है कि वे भारतीय लोकतंत्र को संतुलित और समृद्ध बनाने में सहायक होते हैं। उनकी उपस्थिति न केवल केंद्र–राज्य संबंधों को मजबूत करती है, बल्कि वे राज्य की विशिष्ट आवश्यकताओं को भी प्रमुखता से उठाते हैं। राज्य स्तरीय दलों का औचित्य भारत की राजनीतिक प्रणाली में उनके योगदान और उनकी भूमिका से स्पष्ट होता है, जिससे वे एक समृद्ध और स्थायी लोकतांत्रिक प्रणाली के निर्माण में सहायक होते हैं।

6.6 भारत में प्रमुख राज्य स्तरीय दल

भारत में प्रमुख रूप से तीन प्रकार के राज्य स्तरीय दल है। पहले प्रकार के राज्य स्तरीय दल वे हैं जो वास्तव में जाति, वर्ग, क्षेत्र अथवा सामुदायिक हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं और उन पर आधारित हैं। इसके प्रमुख उदाहरण द्रविड़ मुनेत्र कड़गम अन्नाद्रमुक (तमिलनाडु), अकाली दल (पंजाब), नेशनल कांफ्रेन्स (जम्मू–कश्मीर) शिवसेना (महाराष्ट्र), उत्तर–पूर्व में कुछ आदिवासी संगठन जैसे नगालैण्ड नेशनल डेमोक्रेटिक

पार्टी, मिजो नेशनल फ्रण्ट आदि हैं। कुछ क्षेत्रीय दल वे हैं जो विचारधारा तथा उक्ष्यों के आधार पर तो राष्ट्रीय दल हैं, परन्तु उनका समर्थन केवल कुछ लक्ष्यों तथा कुछ मामलों में केवल कुछ ही क्षेत्रों तक सीमित है। इस प्रकार के दल फारवर्ड ब्लॉक, सोशलिस्ट यूनिटी सेण्टर और सोशलिस्ट पार्टी इत्यादि हैं। कुल मिलाकर राज्य–स्तरीय दलों का अस्तित्व केवल नाममात्र का नहीं है। न ही ये दल केवल स्थानीय स्तर पर केवल कांग्रेस या अन्य राष्ट्रीय दलों का दूसरा रूप हैं अपितु ये अपने आप में स्वायत्त तथा महत्वपूर्ण हैं और राज्यस्तर की राजनीति में इनकी विशेष भूमिका है। भारतीय राजनीति में कुछ महत्वपूर्ण क्षेत्रीय एवं राज्य स्तरीय दलों का निम्नलिखित विवरण दिया जा सकता है–

6.6.1 अकाली दल (Akali Dal)

अकाली दल सिक्खों की मुख्य राजनीतिक व सामाजिक संस्था है। अकाली दल राज्य स्तरीय दल है क्योंकि यह पंजाब तक ही सीमित है। गुरुद्वारों (सिक्ख मन्दिरों) को परम्परानिष्ठ सिक्ख समुदाय के अधिकार क्षेत्र में लाने के लिए एक सुधार समूह के रूप में अकाली दल का गठन किया गया। अकाली दल का गठन 1920 में हुआ, जो मुख्य रूप से सिख समुदाय के धार्मिक और राजनीतिक अधिकारों की रक्षा के लिए एक आंदोलन के रूप में शुरू हुआ था। इसका मुख्य उद्देश्य गुरुद्वारों की स्वतंत्रता और सिख पंथ के अनुयायियों के धार्मिक अधिकारों की रक्षा करना था। 19वीं सदी के अंत और 20वीं सदी की शुरुआत में, ब्रिटिश सरकार द्वारा गुरुद्वारों पर नियंत्रण ने सिख समुदाय में असंतोष पैदा किया और इसे पुनः सिखों के नियंत्रण में लेने के लिए अकाली आंदोलन शुरू हुआ।

1920 के दशक में गुरुद्वारा सुधार आंदोलन ने अकाली दल के गठन की पृष्ठभूमि तैयार की। यह आंदोलन सिख धार्मिक स्थलों, विशेष रूप से गुरुद्वारों, को महैतों और अन्य गैर–सिख अधिकारियों के नियंत्रण से मुक्त करने के लिए चलाया गया था। ब्रिटिश शासन के दौरान महैतों ने गुरुद्वारों का राजनीतिक लाभ उठाया और गुरुद्वारों की संपत्तियों का दुरुपयोग किया, जिसके चलते सिख समुदाय में भारी रोष उत्पन्न हुआ। 1920 में अमृतसर में सिखों के प्रतिनिधि सभा द्वारा शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी (SGPC) का गठन किया गया, जो गुरुद्वारों के प्रबंधन का जिम्मा संभाले। इस समय अकाली दल का मुख्य लक्ष्य सिख धर्म और उसकी धार्मिक संस्थाओं की स्वायत्तता को पुनः स्थापित करना था। अकाली नेताओं ने सिख पंथ के अनुयायियों को संगठित किया और ब्रिटिश शासन के खिलाफ सिख धर्मस्थलों को नियंत्रण में लेने के लिए आंदोलन किया।

अकाली दल का स्वतंत्रता संग्राम में भी महत्वपूर्ण योगदान रहा है। हालांकि इसकी स्थापना मुख्य रूप से धार्मिक उद्देश्यों के लिए की गई थी, लेकिन समय के साथ अकाली दल ने भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन में भी हिस्सा लिया। खासतौर से जब महात्मा गांधी के नेतृत्व में असहयोग आंदोलन (1920–22) और बाद में सविनय अवज्ञा आंदोलन (1930–32) शुरू हुआ, तो अकाली नेताओं ने इसमें भी सक्रिय रूप से भाग लिया। इसके अलावा, अकाली दल ने किसान और मजदूरों के अधिकारों के लिए भी आवाज उठाई। पंजाब, जो मुख्य रूप से कृषि प्रधान राज्य है, में किसानों के अधिकारों और उनकी समस्याओं पर अकाली दल ने ध्यान केंद्रित किया। 1947 में भारत के विभाजन ने पंजाब और अकाली दल की राजनीति पर गहरा प्रभाव डाला। विभाजन के समय पंजाब का विभाजन हुआ और इसका एक बड़ा हिस्सा पाकिस्तान में चला गया। सिख समुदाय, जो विभाजन के बाद भारी संख्या में विस्थापित हुआ था, को नई चुनौतियों का सामना करना पड़ा। अकाली दल ने इस समय सिखों की सुरक्षा और उनके पुनर्वास के लिए सक्रिय भूमिका निभाई।

विभाजन के बाद, अकाली दल ने पंजाब राज्य के पुनर्गठन की मांग उठाई, जिसमें उन्होंने पंजाबी भाषा और सिख बहुल पंजाब के निर्माण की बात कही। इस आंदोलन को "पंजाबी सूबा आंदोलन" के नाम से जाना जाता है। अकाली दल ने मांग की कि पंजाब का विभाजन भाषा के आधार पर हो, जिसमें पंजाबी भाषी क्षेत्रों को एक अलग राज्य में शामिल किया जाए। यह आंदोलन 1966 में सफल हुआ, जब पंजाब का पुनर्गठन हुआ और हरियाणा तथा हिमाचल प्रदेश अलग राज्य बने। इस पुनर्गठन के बाद अकाली दल पंजाब की राजनीति में और अधिक प्रभावशाली हो गया।

1960 और 70 के दशक में अकाली दल की राजनीति मुख्य रूप से सिख पहचान और अधिकारों के इर्द–गिर्द घूमती रही। इस दौरान अकाली दल ने सिख धर्म, संस्कृति और भाषा को संरक्षित करने के लिए कई राजनीतिक मांगें उठाईं। 1973 में, अकाली दल ने "आनंदपुर साहिब प्रस्ताव" पेश किया, जिसमें केंद्र सरकार से

सिखों के धार्मिक और राजनीतिक अधिकारों की मांग की गई थी। इस प्रस्ताव में पंजाब की स्वायत्तता, सिख धर्म के सिद्धांतों की रक्षा, और केंद्र द्वारा राज्यों पर नियंत्रण को सीमित करने की बात कही गई थी। हालांकि, केंद्र सरकार ने इसे अलगाववादी आंदोलन के रूप में देखा और इसे अस्वीकार कर दिया। 1980 और 1990 के दशक में पंजाब की राजनीति में उग्रवाद का दौर आया, जिसने अकाली दल की राजनीति पर गहरा प्रभाव डाला। खालिस्तान आंदोलन, जो सिखों के लिए एक स्वतंत्र राष्ट्र की मांग कर रहा था, इस समय उभर कर सामने आया। इस आंदोलन ने पंजाब में हिंसा और राजनीतिक अस्थिरता को जन्म दिया। अकाली दल के कई गुटों ने इस दौरान अलग–अलग रुख अपनाया। कुछ गुट खालिस्तान के समर्थन में थे, जबकि अन्य ने भारतीय संघ के भीतर रहते हुए सिखों के अधिकारों की बात की। इस समय अकाली दल कई गुटों में विभाजित हो गया।

1984 में ऑपरेशन ब्लू स्टार, जिसमें भारतीय सेना ने अमृतसर के स्वर्ण मंदिर में घुसकर उग्रवादियों को मार गिराया, ने अकाली दल और सिख समुदाय के साथ केंद्र सरकार के संबंधों में और खटास डाल दी। इस घटना के बाद सिखों में आक्रोश फैल गया और अकाली दल ने इस घटना की कड़ी निंदा की। ऑपरेशन ब्लू स्टार के बाद प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी की हत्या और उसके बाद सिख विरोधी दंगों ने पंजाब की राजनीति में और अधिक तनाव पैदा किया। 1990 के दशक के बाद, पंजाब में उग्रवाद का अंत हुआ और राज्य में सामान्य राजनीतिक प्रक्रिया शुरू हुई। इस दौरान अकाली दल ने खुद को पुनर्गठित किया और राज्य में सत्ता हासिल की। अकाली दल ने भाजपा के साथ गठबंधन किया और 1997 में पंजाब में सरकार बनाई। इसके बाद, अकाली दल और भाजपा का गठबंधन कई वर्षों तक बना रहा और उन्होंने कई बार मिलकर पंजाब में सरकार बनाई।

पार्टी के वर्तमान नेतृत्व में, विशेष रूप से प्रकाश सिंह बादल और बाद में उनके बेटे सुखबीर सिंह बादल के नेतृत्व में, अकाली दल ने राज्य की राजनीति में एक प्रमुख भूमिका निभाई है। अकाली दल ने कृषि सुधार, शिक्षा, और बुनियादी ढांचे के विकास पर ध्यान केंद्रित किया है। हालांकि, पार्टी को 2020 के किसान आंदोलन के दौरान केंद्र सरकार द्वारा लाए गए कृषि कानूनों पर अपने रुख के कारण आलोचना का सामना करना पड़ा। अकाली दल ने पहले इन कानूनों का समर्थन किया, लेकिन बाद में किसान आंदोलन के दबाव में भाजपा से गठबंधन तोड़ दिया और कृषि कानूनों का विरोध किया।

वर्तमान समय में अकाली दल को कई चुनौतियों का सामना करना पड़ रहा है। एक तरफ पार्टी को अपने पारंपरिक सिख वोट बैंक को बनाए रखने की चुनौती है, वहीं दूसरी ओर राज्य में उभरते हुए नए राजनीतिक दल, जैसे आम आदमी पार्टी (AAP), ने अकाली दल की राजनीतिक पकड़ को कमजोर किया है। इसके अलावा, पार्टी के अंदर भी गुटबाजी और नेतृत्व को लेकर असंतोष उभर रहा है, जो पार्टी की स्थिति को और कमजोर कर रहा है।

आने वाले समय में अकाली दल के सामने अपनी खोई हुई राजनीतिक स्थिति को पुनः हासिल करने की चुनौती होगी। पार्टी को न केवल सिख समुदाय में अपनी स्थिति मजबूत करनी होगी, बल्कि राज्य की सभी जातियों और समुदायों को साथ लेकर एक व्यापक राजनीतिक आधार तैयार करना होगा। इसके लिए पार्टी को अपने नेतृत्व में बदलाव, युवा नेताओं को मौका देने और नई राजनीतिक रणनीतियों पर काम करने की आवश्यकता होगी। अकाली दल के इतिहास और वर्तमान स्थिति का विश्लेषण यह बताता है कि पार्टी ने सिख समुदाय और पंजाब की राजनीति में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। हालांकि वर्तमान समय में पार्टी चुनौतियों का सामना कर रही है, लेकिन इसका भविष्य इस बात पर निर्भर करेगा कि यह किस तरह से इन चुनौतियों का सामना करती है और राज्य की राजनीति में अपनी प्रासंगिकता को बनाए रखती है।

6.6.2 द्रविड़ मुनेत्र कड़गम तथा अन्ना द्रविड़ मुनेत्र कड़गम (DMK And ADMK)

द्रविड़ मुनेत्र कड़गम (DMK) और अन्ना द्रविड़ मुनेत्र कड़गम (AIADMK) का इतिहास और वर्तमान राजनीति तमिलनाडु की राजनीति में गहराई से जुड़े हुए हैं, जो न केवल राज्य की सांस्कृतिक पहचान और समाज सुधार आंदोलनों से प्रभावित हैं, बल्कि भारतीय राजनीति पर भी गहरा प्रभाव डालते हैं। ये दोनों पार्टियाँ तमिलनाडु के राजनीतिक परिदृश्य में प्रमुख भूमिका निभाती हैं और क्षेत्रीय दलों की राजनीति में एक अद्वितीय स्थान रखती हैं। उनके इतिहास और विकास को समझने के लिए हमें 20वीं शताब्दी के शुरुआत से लेकर तमिलनाडु में सामाजिक और सांस्कृतिक सुधार आंदोलनों के विकास की पृष्ठभूमि को देखना होगा।

द्रविड़ मुनेत्र कड़गम (DMK) का जन्म 1949 में पेरियार ई.वी. रामासामी के सामाजिक न्याय आंदोलन और उनके "द्रविड़ कड़गम" (DK) से हुआ था, जो जाति आधारित भेदभाव, सामाजिक असमानता और ब्राह्मणवादी प्रभुत्व के खिलाफ संघर्ष कर रहा था। पेरियार के विचारों और आंदोलनों का मुख्य उद्देश्य जाति–विहीन समाज की स्थापना करना था, और इसने तमिलनाडु में सामाजिक–राजनीतिक सुधारों के लिए नींव रखी। पेरियार के शिष्य और साथी सी.एन. अन्नादुरै ने द्रविड़ कड़गम से अलग होकर 1949 में DMK की स्थापना की। DMK का मुख्य उद्देश्य तमिल संस्कृति और पहचान की रक्षा करना और समाज में गैर–ब्राह्मण जातियों के लिए सामाजिक और राजनीतिक अधिकारों की वकालत करना था।

DMK ने तमिलनाडु में क्षेत्रीयता और द्रविड़ पहचान को उभारने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। पार्टी ने हिंदी विरोधी आंदोलनों में भी सक्रिय भाग लिया, जब 1960 के दशक में केंद्र सरकार द्वारा हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाने की कोशिश की गई थी। DMK का यह मानना था कि हिंदी को थोपने से तमिल भाषा और संस्कृति को खतरा होगा। 1965 में हिंदी–विरोधी आंदोलन के परिणामस्वरूप तमिलनाडु में बड़े पैमाने पर विरोध प्रदर्शन हुए, जिससे क्डइ को राज्य में व्यापक जनसमर्थन मिला। यह आंदोलन DMK के लिए एक महत्वपूर्ण मोड़ साबित हुआ, और 1967 में पार्टी ने कांग्रेस को हराकर तमिलनाडु में सत्ता हासिल की। यह पहली बार था जब एक क्षेत्रीय दल ने राज्य में सरकार बनाई और कांग्रेस को सत्ता से बेदखल किया।

सी.एन. अन्नादुरै के नेतृत्व में DMK ने तमिलनाडु में समाज सुधारों, विशेष रूप से शिक्षा और भूमि सुधारों पर ध्यान केंद्रित किया। अन्नादुरै ने राज्य के गरीब और हाशिए पर खड़े वर्गों को सशक्त बनाने के लिए विभिन्न योजनाएँ शुरू कीं। उनके कार्यकाल में तमिलनाडु में राजनीतिक और सामाजिक जागरूकता का प्रसार हुआ, जिससे समाज में समानता और न्याय की भावना को बल मिला।

1969 में अन्नादुरै की मृत्यु के बाद, पार्टी के भीतर नेतृत्व को लेकर संघर्ष शुरू हो गया। एम. करुणानिधि, जो DMK के प्रमुख नेताओं में से एक थे, पार्टी के नए नेता बने। हालाँकि, पार्टी के भीतर मतभेद बढ़ते गए, और 1972 में एम.जी. रामचंद्रन (MGR), जो तमिल सिनेमा के लोकप्रिय अभिनेता और DMK के वरिष्ठ नेता थे, ने करुणानिधि से मतभेदों के कारण पार्टी छोड़ दी और अपनी अलग पार्टी, अन्ना द्रविड़ मुनेत्र कड़गम (AIADMK) की स्थापना की। MGR की व्यक्तिगत लोकप्रियता और उनके सामाजिक–लोकप्रिय एजेंडे के कारण ।IADMK ने तमिलनाडु की राजनीति में जल्दी ही एक मजबूत स्थान बना लिया।

MGR का करिश्माई व्यक्तित्व और उनकी फिल्मों में नायकत्व की छवि ने ।IADMK को तमिलनाडु के गरीब और हाशिए पर खड़े वर्गों के बीच गहरी पैठ दिलाई। उनके नेतृत्व में ।IADMK ने एक लोकप्रिय और कल्याणकारी सरकार चलाई, जिसने जनता के हित में कई योजनाओं की शुरुआत की। खासतौर से उनके द्वारा शुरू की गई मध्याह्न भोजन योजना (Midday Meal Scheme) ने राज्य में शिक्षा और स्वास्थ्य को बेहतर बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। MGR ने खुद को जनता का नेता साबित किया और 1977 से लेकर अपनी मृत्यु तक तमिलनाडु के मुख्यमंत्री के रूप में कार्य किया। उनके शासन के दौरान राज्य में राजनीतिक स्थिरता बनी रही, और ।IADMK us yगातार तीन बार सत्ता हासिल की।

MGR की मृत्यु के बाद, ।IADMK में भी नेतृत्व को लेकर संघर्ष शुरू हो गया। पार्टी के भीतर मतभेदों के कारण जयललिता और जानकी रामचंद्रन के नेतृत्व में पार्टी दो गुटों में बँट गई। हालाँकि, 1989 में जयललिता के नेतृत्व में पार्टी का पुनर्गठन हुआ, और जयललिता ने ।IADMK की बागडोर संभाली। जयललिता के करिश्माई नेतृत्व ने ।IADMK को एक बार फिर से तमिलनाडु की राजनीति में महत्वपूर्ण स्थान दिलाया। उन्होंने MGR की कल्याणकारी नीतियों को जारी रखा और राज्य में महिला सशक्तिकरण, शिक्षा, और स्वास्थ्य के क्षेत्र में कई महत्वपूर्ण योजनाएँ शुरू कीं। जयललिता की लोकप्रियता और उनके प्रशासनिक निर्णयों ने उन्हें तमिलनाडु की सबसे प्रभावशाली नेताओं में से एक बना दिया।

दूसरी ओर, करुणानिधि के नेतृत्व में क्डइ भी तमिलनाडु की राजनीति में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता रहा। करुणानिधि एक कुशल राजनीतिज्ञ और लेखक थे, और उन्होंने तमिल भाषा, संस्कृति और सामाजिक न्याय के मुद्दों पर अपनी पार्टी का ध्यान केंद्रित रखा। DMK और ।IADMK के बीच सत्ता संघर्ष ने तमिलनाडु की राजनीति को दशकों तक प्रभावित किया। दोनों पार्टियों के बीच वैचारिक मतभेद कम और व्यक्तिगत प्रतिद्वंद्विता अधिक रही, लेकिन दोनों ने अपने–अपने दौर में राज्य की राजनीति में मजबूत पकड़ बनाई रखी।

2000 के दशक में क्डझ और ।IADMK दोनों पार्टियों ने तमिलनाडु की राजनीति में बारी–बारी से सत्ता संभाली। जयललिता और करुणानिधि के बीच कड़ा मुकाबला देखा गया, और राज्य की राजनीति में दोनों दलों के बीच तीव्र प्रतिस्पर्धा रही। जयललिता के नेतृत्व में ।IADMK ने 2011 और 2016 में लगातार चुनावों में जीत हासिल की, जबकि DMK को विपक्ष में रहकर संघर्ष करना पड़ा। जयललिता की मृत्यु के बाद ।IADMK में फिर से आंतरिक संघर्ष शुरू हुआ, जिसमें ओ. पनीरसेल्वम और ई. पलानीस्वामी के नेतृत्व में गुटों का उभार हुआ। हालाँकि, पार्टी ने अपने आंतरिक विवादों के बावजूद सत्ता में बने रहने की कोशिश की और 2019 तक राज्य की राजनीति में एक प्रमुख खिलाड़ी रही।

DMK में करुणानिधि की मृत्यु के बाद, उनके बेटे एम.के. स्टालिन ने पार्टी का नेतृत्व संभाला। स्टालिन के नेतृत्व में DMK ने 2021 के विधानसभा चुनावों में जीत हासिल की और तमिलनाडु में सरकार बनाई। स्टालिन ने अपने पिता की नीतियों को आगे बढ़ाते हुए तमिल भाषा, संस्कृति और सामाजिक न्याय के मुद्दों पर ध्यान केंद्रित किया। उनकी सरकार ने राज्य में विकास, स्वास्थ्य, शिक्षा और महिलाओं के कल्याण के क्षेत्र में कई सुधार कार्यक्रम शुरू किए।

वर्तमान में, तमिलनाडु की राजनीति में DMK और ।IADMK दोनों ही महत्वपूर्ण दल हैं, लेकिन DMK का प्रभाव अधिक है, खासतौर से स्टालिन के नेतृत्व में। ।IADMK जयललिता की मृत्यु के बाद से आंतरिक संघर्ष और नेतृत्व की चुनौतियों का सामना कर रही है। हालाँकि, राज्य की राजनीति में इसका जनाधार अभी भी मजबूत है, और पार्टी के नेताओं ने जयललिता की विरासत को आगे बढ़ाने का प्रयास किया है। दोनों पार्टियों के बीच सत्ता संघर्ष जारी है, और तमिलनाडु की राजनीति का भविष्य भी इन्हीं दलों के नेतृत्व और उनके जनाधार पर निर्भर करेगा।

DMK और ।IADMK दोनों दलों ने तमिलनाडु में सामाजिक न्याय, शिक्षा, और कल्याणकारी योजनाओं के माध्यम से राज्य की राजनीति को आकार दिया है। DMK का ध्यान तमिल पहचान, भाषा, और सामाजिक सुधारों पर रहा है, जबकि ।IADMK ने कल्याणकारी नीतियों और गरीबों के उत्थान पर ध्यान केंद्रित किया है। इन दोनों दलों की राजनीति तमिलनाडु की जातिगत संरचना, सामाजिक परिवेश, और सांस्कृतिक पहचान से गहराई से जुड़ी हुई है, और इसने राज्य की राजनीति को राष्ट्रीय राजनीति से अलग एक विशिष्ट दिशा में मोड़ा है।

इन दोनों दलों की वर्तमान स्थिति और भविष्य के परिदृश्य को देखते हुए, यह कहा जा सकता है कि तमिलनाडु की राजनीति में DMK और ।IADMK का प्रभुत्व आने वाले वर्षों में भी बना रहेगा। हालाँकि, राज्य में उभरते हुए नए राजनीतिक दल, जैसे कि कमल हासन की "मक्कल निधि मय्यम" (MNM), और राष्ट्रीय दलों की बढ़ती सक्रियता, इन दोनों क्षेत्रीय दलों के सामने नई चुनौतियाँ प्रस्तुत कर सकती हैं। लेकिन तमिलनाडु की राजनीति की जड़ें गहराई से क्षेत्रीय मुद्दों, सांस्कृतिक पहचान और सामाजिक न्याय के सवालों में निहित हैं, जो DMK और ।IADMK के भविष्य को निर्धारित करते रहेंगे।

6.6.3 नेशनल कांफ्रेंस

नेशनल कांफ्रेन्स की मूल जड़ 1930 के दशक में वाचनालय दल के रूप में थी। शेख मोहम्मद अब्दुल्ला इस छोटे से दल के राजनीतिक वाद–विवादों का नेतृत्व करते रहे। 'वाचनालय दल' शीघ्र ही अखिल जम्मू व कश्मीर मुस्लिम कांग्रेस में बदल गया। नेशनल कांफ्रेंस (National Conference) जम्मू और कश्मीर का एक प्रमुख राजनीतिक दल है, जिसका इतिहास भारत के स्वतंत्रता संग्राम और जम्मू–कश्मीर के राजनीतिक घटनाक्रमों से गहराई से जुड़ा हुआ है। इस पार्टी का गठन 1932 में शेख मोहम्मद अब्दुल्ला ने किया था, जो कश्मीर की राजनीति के एक प्रमुख नेता बने। उस समय जम्मू और कश्मीर राज्य महाराजा हरि सिंह के शासन के अधीन था, और वहाँ की जनता महाराजा के निरंकुश शासन और उनके प्रति असंतोष से ग्रस्त थी। शेख अब्दुल्ला ने उस असंतोष का नेतृत्व करते हुए एक संगठन का गठन किया, जिसका उद्देश्य राज्य में लोकतांत्रिक अधिकारों और समानता के लिए संघर्ष करना था।

1930 के दशक में कश्मीर में सामाजिक और राजनीतिक सुधार की मांगें उठने लगीं। शेख अब्दुल्ला के नेतृत्व में मुस्लिम कांफ्रेंस का गठन हुआ, जिसका उद्देश्य कश्मीर के मुस्लिम बहुल समाज के हितों की रक्षा करना और राज्य में धार्मिक भेदभाव के खिलाफ लड़ाई लड़ना था। मुस्लिम कांफ्रेंस ने शेख अब्दुल्ला के नेतृत्व

में कश्मीर में महाराजा हरि सिंह के शासन के खिलाफ आंदोलनों का नेतृत्व किया। हालांकि, 1939 में शेख अब्दुल्ला ने महसूस किया कि राज्य में सांप्रदायिक विभाजन से ऊपर उठकर एक व्यापक राष्ट्रीय राजनीतिक आंदोलन की जरूरत है, और इसलिए मुस्लिम कांफ्रेंस का नाम बदलकर नेशनल कांफ्रेंस रखा गया। इस कदम से शेख अब्दुल्ला ने स्पष्ट किया कि उनका उद्देश्य केवल मुस्लिम हितों की रक्षा करना नहीं है, बल्कि जम्मू–कश्मीर के सभी लोगों के हितों के लिए लड़ाई लड़ना है।

नेशनल कांफ्रेंस ने कश्मीर में धार्मिक एकता, भूमि सुधार, और शिक्षा सुधार की वकालत की। पार्टी का ध्यान उन किसानों और मजदूरों की समस्याओं पर था, जो राज्य के जमींदारों और शासकों द्वारा शोषण का शिकार हो रहे थे। शेख अब्दुल्ला की लोकप्रियता धीरे–धीरे बढ़ती गई, और नेशनल कांफ्रेंस एक मजबूत राजनीतिक शक्ति के रूप में उभर कर सामने आई। शेख अब्दुल्ला ने कश्मीर की "किसान–मजदूर" नीति को अपनी पार्टी की आधारशिला बनाया और राज्य में सामाजिक–आर्थिक सुधारों की मांग की।

भारत के स्वतंत्रता संग्राम के दौरान, नेशनल कांफ्रेंस ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के साथ निकट संबंध बनाए रखा। शेख अब्दुल्ला और जवाहरलाल नेहरू के बीच व्यक्तिगत मित्रता और विचारधारा की समानता के कारण दोनों पार्टियाँ एक–दूसरे के करीब आईं। जब भारत 1947 में स्वतंत्र हुआ और जम्मू और कश्मीर के महाराजा हरि सिंह ने राज्य का भारत या पाकिस्तान में विलय करने का निर्णय नहीं लिया, तो नेशनल कांफ्रेंस और शेख अब्दुल्ला ने भारत के साथ विलय का समर्थन किया। महाराजा हरि सिंह ने अंततः भारत के साथ विलय का फैसला किया, और नेशनल कांफ्रेंस ने भारतीय संघ का समर्थन करते हुए कश्मीर में शांति और स्थिरता के लिए प्रयास किया।

1947 के बाद, जम्मू और कश्मीर में राजनीतिक उथल–पुथल का दौर शुरू हो गया। पाकिस्तान समर्थित कबायलियों ने कश्मीर पर हमला कर दिया, और कश्मीर के एक बड़े हिस्से पर पाकिस्तान का नियंत्रण हो गया। भारत ने संयुक्त राष्ट्र में मामला उठाया, और कश्मीर का मुद्दा अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर चर्चित हो गया। इसी बीच, नेशनल कांफ्रेंस ने राज्य के भीतर लोकतांत्रिक सुधारों की मांग तेज कर दी। 1948 में शेख अब्दुल्ला को जम्मू–कश्मीर का प्रधानमंत्री नियुक्त किया गया, और उन्होंने राज्य में भूमि सुधार और अन्य सामाजिक सुधारों के माध्यम से व्यापक बदलाव लाने की कोशिश की।

1953 में शेख अब्दुल्ला को राज्य के प्रधानमंत्री पद से बर्खास्त कर दिया गया और गिरफ्तार कर लिया गया। उन्हें भारत सरकार द्वारा कश्मीर को स्वतंत्र राष्ट्र बनाने की कथित योजना के आरोप में हिरासत में लिया गया। शेख अब्दुल्ला की गिरफ्तारी ने कश्मीर में राजनीतिक तनाव बढ़ा दिया, और नेशनल कांफ्रेंस दो गुटों में बंट गई। एक गुट शेख अब्दुल्ला के नेतृत्व में बना रहा, जबकि दूसरा गुट बख्शी गुलाम मोहम्मद के नेतृत्व में चला गया, जिन्होंने भारतीय सरकार के समर्थन से राज्य का नेतृत्व किया। बख्शी गुलाम मोहम्मद ने शेख अब्दुल्ला के कई सुधारों को लागू किया, लेकिन शेख अब्दुल्ला की अनुपस्थिति में नेशनल कांफ्रेंस कमजोर होती गई।

1964 में शेख अब्दुल्ला को रिहा कर दिया गया और उन्होंने राजनीतिक जीवन में फिर से सक्रिय भूमिका निभाई। 1975 में शेख अब्दुल्ला और इंदिरा गांधी के बीच एक समझौता हुआ, जिसे "कश्मीर समझौता" कहा जाता है। इस समझौते के तहत, शेख अब्दुल्ला ने भारतीय संविधान के तहत जम्मू और कश्मीर की स्वायत्तता को स्वीकार किया, और इसके बदले में उन्हें फिर से जम्मू–कश्मीर का मुख्यमंत्री बनाया गया। इस अवधि के दौरान, शेख अब्दुल्ला ने कश्मीर की स्वायत्तता और विकास पर ध्यान केंद्रित किया, और नेशनल कांफ्रेंस एक बार फिर से राज्य की प्रमुख राजनीतिक पार्टी बन गई।

शेख अब्दुल्ला की मृत्यु के बाद, उनके बेटे फारूक अब्दुल्ला ने नेशनल कांफ्रेंस की बागडोर संभाली। फारूक अब्दुल्ला के नेतृत्व में पार्टी ने कश्मीर की स्वायत्तता की रक्षा के लिए संघर्ष जारी रखा। हालाँकि, 1980 के दशक में राज्य में उग्रवाद और आतंकवाद का दौर शुरू हो गया, जिससे नेशनल कांफ्रेंस की स्थिति कमजोर हो गई। फारूक अब्दुल्ला ने केंद्र सरकार के साथ गठबंधन किया, लेकिन राज्य में बढ़ते आतंकवाद और अलगाववाद के कारण नेशनल कांफ्रेंस की राजनीतिक पकड़ कमजोर होती गई।

1990 के दशक में जम्मू–कश्मीर में उग्रवाद और आतंकवाद के बढ़ते प्रकोप के कारण राज्य में लोकतांत्रिक प्रक्रिया बाधित हो गई। इस दौरान नेशनल कांफ्रेंस का जनाधार कमजोर हुआ और पार्टी ने

राजनीतिक रूप से संघर्ष किया। 1996 में, फारूक अब्दुल्ला ने राज्य में चुनाव लड़ा और फिर से मुख्यमंत्री बने, लेकिन कश्मीर में उग्रवाद और अलगाववाद के मुद्दे ने पार्टी को कठिनाइयों में डाला। 2000 के दशक में नेशनल कांफ्रेंस ने भारतीय जनता पार्टी (BJP) और कांग्रेस के साथ गठबंधन किया, लेकिन पार्टी की पुरानी स्थिति को पुनः प्राप्त करना मुश्किल साबित हुआ। फारूक अब्दुल्ला के बेटे उमर अब्दुल्ला ने पार्टी की बागडोर संभाली, लेकिन कश्मीर में लगातार उभरते उग्रवाद, अलगाववाद, और केंद्र–राज्य संबंधों में तनाव के कारण पार्टी की स्थिति कमजोर होती गई। उमर अब्दुल्ला ने मुख्यमंत्री के रूप में कार्य किया, लेकिन उनकी सरकार को राजनीतिक अस्थिरता और राज्य में कानून व्यवस्था की चुनौतियों का सामना करना पड़ा।

वर्तमान में, नेशनल कांफ्रेंस जम्मू–कश्मीर में एक महत्वपूर्ण राजनीतिक शक्ति बनी हुई है, लेकिन उसे भारतीय जनता पार्टी (BJP) और पीपल्स डेमोक्रेटिक पार्टी (PDP) जैसी अन्य पार्टियों से कड़ी चुनौती मिल रही है। राज्य में अनुच्छेद 370 और 35। को हटाने के बाद से नेशनल कांफ्रेंस का मुख्य फोकस कश्मीर की स्वायत्तता की बहाली और राज्य के विशेष दर्जे की वापसी पर केंद्रित है। पार्टी ने भारतीय संविधान के तहत जम्मू–कश्मीर की स्वायत्तता की बहाली की मांग करते हुए राजनीतिक संघर्ष जारी रखा है। हालाँकि, राज्य में बढ़ते सुरक्षा मुद्दे और राजनीतिक अस्थिरता ने नेशनल कांफ्रेंस के लिए नई चुनौतियाँ प्रस्तुत की हैं।

नेशनल कांफ्रेंस का इतिहास कश्मीर की राजनीतिक, सामाजिक, और सांस्कृतिक परिदृश्य के साथ गहराई से जुड़ा हुआ है। पार्टी ने कश्मीर के इतिहास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है और राज्य की स्वायत्तता और सामाजिक सुधारों के लिए संघर्ष किया है। वर्तमान में, पार्टी जम्मू–कश्मीर की राजनीति में एक महत्वपूर्ण दल बनी हुई है, लेकिन उसे अपनी पुरानी राजनीतिक स्थिति को पुनः प्राप्त करने के लिए गंभीर चुनौतियों का सामना करना पड़ रहा है।

6.6.4 तेलुगु देशम

तेलुगूदेशम् आंध्र प्रदेश में नवनिर्मित राज्य स्तरीय दल है। जनवरी 1983 के आंध्र विधानसभा के चुनावों के 9–10 माह पूर्व इस दल की स्थापना की गयी। तेलुगु देशम दल (टीडीपी) एक प्रमुख क्षेत्रीय राजनीतिक दल है जिसका गठन 1982 में आंध्र प्रदेश के मशहूर अभिनेता और नेता एन.टी. रामाराव (एनटीआर) द्वारा किया गया था। इस दल की स्थापना का मुख्य उद्देश्य आंध्र प्रदेश की राजनीति में क्षेत्रीय अस्मिता और तेलुगु भाषी लोगों के स्वाभिमान को केंद्र में लाना था। तेलुगु देशम दल का गठन उस समय हुआ जब कांग्रेस पार्टी आंध्र प्रदेश की राजनीति पर हावी थी। एनटीआर ने लोगों को यह महसूस कराया कि केंद्र सरकार और कांग्रेस के शासन में तेलुगु भाषी लोगों की उपेक्षा हो रही है। यह पार्टी क्षेत्रीय अस्मिता, स्वाभिमान और विकास के नारों के साथ उभरी, जिसने इसे तुरंत लोकप्रियता दिलाई।

एन.टी. रामाराव एक फिल्म स्टार थे और उन्होंने आंध्र प्रदेश की जनता के बीच अपनी एक खास पहचान बनाई थी। उनकी फिल्मी लोकप्रियता और करिश्माई व्यक्तित्व ने उन्हें राजनीति में भी तेजी से सफलता दिलाई। 1983 में हुए विधानसभा चुनावों में तेलुगु देशम दल ने कांग्रेस पार्टी को पराजित कर आंध्र प्रदेश में सत्ता हासिल की। इस जीत ने भारतीय राजनीति में एक नया अध्याय जोड़ा क्योंकि यह पहली बार था कि किसी अभिनेता ने इतनी बड़ी राजनीतिक सफलता हासिल की। टीडीपी की इस ऐतिहासिक जीत ने आंध्र प्रदेश में क्षेत्रीय दलों के महत्व को उजागर किया और कांग्रेस के प्रभुत्व को चुनौती दी।

एन.टी. रामाराव ने अपनी सरकार के दौरान कई जन–कल्याणकारी योजनाओं की शुरुआत की, जिसमें 2 रुपये प्रति किलो चावल की योजना और गरीबों को मकान मुहैया कराने की योजनाएं प्रमुख थीं। उन्होंने महिलाओं के कल्याण और शिक्षा के क्षेत्र में भी कई कदम उठाए। इन योजनाओं के माध्यम से उन्होंने समाज के सभी वर्गों, विशेषकर गरीब और पिछड़े वर्गों के लोगों का समर्थन हासिल किया। एनटीआर ने आंध्र प्रदेश में समाजवादी और लोकलुभावन नीतियों को लागू कर अपनी लोकप्रियता को बढ़ाया। उनकी नीतियों ने उन्हें जनता के बीच एक मसीहा के रूप में स्थापित कर दिया, जो लोगों की समस्याओं को समझते थे और उनके समाधान के लिए प्रतिबद्ध थे। हालांकि, एनटीआर की सरकार के भीतर भी अस्थिरता और चुनौतियाँ सामने आईं। 1984 में, एनटीआर को उनकी ही पार्टी के कुछ नेताओं द्वारा सत्ता से बेदखल कर दिया गया था। लेकिन उन्होंने इस घटनाक्रम के खिलाफ जनता के समर्थन से एक बड़ा जन आंदोलन खड़ा किया और अपनी सत्ता पुनः प्राप्त की। इस घटनाक्रम ने एनटीआर की लोकप्रियता को और भी बढ़ाया और उन्हें आंध्र प्रदेश की राजनीति में एक मजबूत नेता के रूप में स्थापित किया। इसके साथ ही, तेलुगु देशम दल ने आंध्र प्रदेश के

बाहर भी अपने प्रभाव का विस्तार किया और राष्ट्रीय राजनीति में भी अहम भूमिका निभाई।

1989 के विधानसभा चुनावों में टीडीपी को कांग्रेस के हाथों हार का सामना करना पड़ा। इसके बाद, एनटीआर ने विपक्ष में रहकर सरकार की नीतियों की आलोचना जारी रखी और 1994 में पुनः चुनाव जीता। एनटीआर ने इस जीत के बाद फिर से मुख्यमंत्री पद संभाला, लेकिन जल्द ही पार्टी के भीतर फिर से अस्थिरता का दौर शुरू हो गया। एनटीआर की दूसरी सरकार के दौरान उनकी पार्टी के कुछ प्रमुख नेताओं ने उनके खिलाफ बगावत की और एनटीआर के दामाद एन. चंद्रबाबू नायडू ने 1995 में उन्हें सत्ता से बेदखल कर दिया। इस घटनाक्रम ने पार्टी के भीतर गहरे विभाजन को उजागर किया और टीडीपी में आंतरिक संघर्ष बढ़ गया।

एनटीआर की 1996 में मृत्यु हो गई, जिसके बाद चंद्रबाबू नायडू ने टीडीपी की बागडोर संभाली। नायडू के नेतृत्व में तेलुगु देशम दल ने नई दिशा और नीति अपनाई। चंद्रबाबू नायडू ने पार्टी की छवि को आधुनिक और विकासोन्मुखी बनाने का प्रयास किया। उन्होंने आंध्र प्रदेश में आईटी और तकनीकी विकास को बढ़ावा देने के लिए कई योजनाएँ चलाईं और आंध्र प्रदेश को आईटी हब के रूप में विकसित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। उनके नेतृत्व में हैदराबाद को एक प्रमुख आईटी केंद्र के रूप में विकसित किया गया, जिसने राज्य की अर्थव्यवस्था को मजबूती दी।

नायडू की विकासोन्मुखी नीतियों ने उन्हें राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रशंसा दिलाई। लेकिन उनकी नीतियों ने पार्टी के पारंपरिक वोट बैंक, विशेषकर ग्रामीण क्षेत्रों के गरीब और पिछड़े वर्गों के लोगों को अलग–थलग कर दिया। नायडू की सरकार पर यह आरोप लगा कि वह शहरी और आईटी सेक्टर पर ज्यादा ध्यान दे रही है, जबकि ग्रामीण इलाकों की समस्याओं की अनदेखी की जा रही है। इसका परिणाम यह हुआ कि 2004 के विधानसभा चुनावों में टीडीपी को कांग्रेस के हाथों हार का सामना करना पड़ा। इस हार के बाद नायडू ने पार्टी के भीतर सुधार की प्रक्रिया शुरू की और ग्रामीण वोटरों को वापस जीतने की कोशिश की।

तेलुगु देशम दल का 2000 के दशक के दौरान उतार–चढ़ाव भरा सफर रहा। 2009 के विधानसभा चुनावों में टीडीपी फिर से सत्ता में वापसी नहीं कर सकी, लेकिन 2014 में चंद्रबाबू नायडू ने पार्टी को पुनः सत्ता में लाने में सफलता पाई। 2014 में आंध्र प्रदेश के विभाजन के बाद नायडू को आंध्र प्रदेश के नए राज्य का मुख्यमंत्री चुना गया। विभाजन के बाद टीडीपी की चुनौती थी कि कैसे एक नए राज्य के विकास को गति दी जाए। चंद्रबाबू नायडू ने इस चुनौती को स्वीकार किया और आंध्र प्रदेश में विकास के नए मॉडल की शुरुआत की। उन्होंने राज्य की नई राजधानी अमरावती को विकसित करने की योजना बनाई और राज्य में निवेश आकर्षित करने के लिए कई प्रयास किए।

हालांकि, 2019 के विधानसभा चुनावों में तेलुगु देशम दल को जगनमोहन रेड्डी की वाईएसआर कांग्रेस पार्टी के हाथों करारी हार का सामना करना पड़ा। इस हार ने नायडू की नेतृत्व क्षमता पर सवाल खड़े कर दिए और पार्टी के भीतर अस्थिरता की स्थिति उत्पन्न हो गई। 2019 की हार के बाद, टीडीपी ने विपक्ष में रहकर अपनी स्थिति को मजबूत करने की कोशिश की है, लेकिन पार्टी को जगनमोहन रेड्डी के नेतृत्व वाली सरकार से कड़ी चुनौती का सामना करना पड़ रहा है।

वर्तमान समय में, तेलुगु देशम दल आंध्र प्रदेश की राजनीति में एक महत्वपूर्ण विपक्षी दल के रूप में बना हुआ है। पार्टी के सामने सबसे बड़ी चुनौती है कि वह कैसे अपनी पुरानी लोकप्रियता को वापस हासिल करे और ग्रामीण व शहरी क्षेत्रों के वोटरों के बीच अपनी पकड़ बनाए रखे। टीडीपी को इस समय आंध्र प्रदेश की राजनीति में एक मजबूत विपक्ष की भूमिका निभाने की जरूरत है, ताकि वह भविष्य में सत्ता में वापसी कर सके। चंद्रबाबू नायडू के नेतृत्व में टीडीपी ने राज्य में कई विकास कार्य किए हैं, लेकिन पार्टी को अपनी आधारभूत नीतियों और रणनीतियों पर पुनर्विचार करने की आवश्यकता है ताकि वह नई चुनौतियों का सामना कर सके। तेलुगु देशम दल के भविष्य के लिए सबसे बड़ी चुनौती है कि वह कैसे आंध्र प्रदेश के वोटरों के बीच अपनी प्रासंगिकता को बनाए रखे। टीडीपी को आंध्र प्रदेश के राजनीतिक परिदृश्य में जगनमोहन रेड्डी की वाईएसआर कांग्रेस पार्टी से मुकाबला करना होगा, जो इस समय राज्य की सत्ताधारी पार्टी है। टीडीपी को ग्रामीण क्षेत्रों में अपने वोट बैंक को फिर से मजबूत करने की आवश्यकता है, क्योंकि पार्टी की पिछली हार का मुख्य कारण यही था कि वह ग्रामीण इलाकों के वोटरों को प्रभावित करने में विफल रही थी। तेलुगु देशम दल की भविष्य की रणनीति पर भी ध्यान देना होगा कि वह कैसे अपने विकासोन्मुखी एजेंडे को ग्रामीण और शहरी दोनों क्षेत्रों के लोगों के बीच प्रभावी ढंग से प्रस्तुत कर सके। चंद्रबाबू नायडू के पास प्रशासनिक अनुभव और राजनीतिक

दूरदृष्टि है, लेकिन पार्टी को नए और युवा नेताओं को भी आगे बढ़ाने की जरूरत है ताकि वह भविष्य में भी प्रासंगिक बनी रहे।

तेलुगु देशम दल का इतिहास आंध्र प्रदेश की राजनीति में क्षेत्रीय अस्मिता, विकास, और सामाजिक न्याय की लड़ाई से जुड़ा हुआ है। पार्टी के संस्थापक एनटीआर ने तेलुगु भाषी लोगों के स्वाभिमान को जगाने का काम किया और चंद्रबाबू नायडू ने राज्य के विकास को गति दी। पार्टी का भविष्य इस बात पर निर्भर करेगा कि वह कैसे नई चुनौतियों का सामना करती है और अपने पारंपरिक वोट बैंक को फिर से अपने पक्ष में लाने में सफल होती है।

6.6.5 असम गण परिषद

असम का प्रमुख क्षेत्रीय दल असम गण परिषद है। जिस तेजी से इसका उत्थान हुआ उतनी ही तेजी से इसके प्रभाव का ह्रास भी हुआ। असम गण परिषद (AGP) असम का एक प्रमुख क्षेत्रीय राजनीतिक दल है, जिसका गठन 1985 में असम आंदोलन के परिणामस्वरूप हुआ। असम आंदोलन 1979 से 1985 तक चला और इसका मुख्य उद्देश्य असम में अवैध प्रवासियों के मुद्दे को सुलझाना था। यह आंदोलन असम के विभिन्न छात्र संगठनों, विशेषकर ऑल असम स्टूडेंट्स यूनियन (AASU), द्वारा संचालित किया गया था। आंदोलन का मुख्य उद्देश्य असम में अवैध बांग्लादेशी प्रवासियों की घुसपैठ को रोकना और असम की सांस्कृतिक पहचान की सुरक्षा करना था। असम गण परिषद का गठन असम समझौते के बाद हुआ, जिसे केंद्र सरकार और आंदोलन के नेताओं के बीच समझौते के रूप में देखा गया। इस समझौते में यह निर्णय लिया गया कि 24 मार्च 1971 के बाद असम में आए सभी अवैध प्रवासियों को निर्वासित किया जाएगा, और इससे पहले आए लोगों को असम की नागरिकता दी जाएगी। असम आंदोलन के नेता और ऑल असम स्टूडेंट्स यूनियन के प्रमुख नेता प्रफुल्ल कुमार महैत और अन्य नेताओं ने असम गण परिषद की स्थापना की, ताकि वे राजनीतिक मंच से असम के लोगों की मांगों को पूरा कर सकें।

असम गण परिषद ने 1985 के विधानसभा चुनावों में ऐतिहासिक जीत दर्ज की और प्रफुल्ल कुमार महैत राज्य के सबसे युवा मुख्यमंत्री बने। इस जीत के साथ असम गण परिषद ने असम में कांग्रेस के लंबे समय से चले आ रहे राजनीतिक प्रभुत्व को तोड़ दिया। पार्टी का मुख्य एजेंडा असम समझौते के प्रावधानों को लागू करना, अवैध प्रवासियों की पहचान और निष्कासन, और असम की सांस्कृतिक और भाषाई पहचान की सुरक्षा करना था। इस दौर में पार्टी ने जनता के बीच एक मजबूत समर्थन हासिल किया, खासकर युवाओं और छात्रों के बीच, जो असम आंदोलन से जुड़े हुए थे।

प्रफुल्ल कुमार महैत के नेतृत्व वाली असम गण परिषद की सरकार ने अपनी पहली कार्यकाल में कई महत्वपूर्ण कदम उठाए, जिनका उद्देश्य असम की सुरक्षा, विकास और सामाजिक संरचना को मजबूत करना था। हालांकि, अवैध प्रवासियों के मुद्दे को पूरी तरह हल करने में पार्टी को कई चुनौतियों का सामना करना पड़ा। असम समझौते के प्रावधानों को लागू करने में देरी और राज्य में बढ़ती सामाजिक और आर्थिक समस्याओं ने पार्टी के लिए कई राजनीतिक चुनौतियां खड़ी कीं। इसके अलावा, असम में जातीय संघर्ष, बोडो आंदोलन, और उल्फा (ULFA) जैसे उग्रवादी संगठनों के बढ़ते प्रभाव ने पार्टी की सरकार को अस्थिर कर दिया।

1990 के दशक के मध्य तक असम गण परिषद की लोकप्रियता में गिरावट आई। 1991 के विधानसभा चुनावों में पार्टी को हार का सामना करना पड़ा, और कांग्रेस फिर से सत्ता में आई। पार्टी के भीतर भी गुटबाजी और आंतरिक अस्थिरता बढ़ गई, जिसने इसकी राजनीतिक ताकत को कमजोर कर दिया। हालांकि, 1996 के विधानसभा चुनावों में असम गण परिषद ने फिर से सत्ता में वापसी की और प्रफुल्ल कुमार महैत दूसरी बार मुख्यमंत्री बने। इस कार्यकाल में भी पार्टी ने अवैध प्रवासियों के मुद्दे पर ध्यान केंद्रित किया, लेकिन इसे पूरी तरह हल करने में सफलता नहीं मिली। पार्टी के भीतर गुटबाजी और नेतृत्व की खींचतान के चलते 2001 के विधानसभा चुनावों में असम गण परिषद को फिर से हार का सामना करना पड़ा और कांग्रेस सत्ता में आई। इसके बाद से असम गण परिषद की राजनीतिक ताकत में लगातार गिरावट देखी गई। पार्टी ने कई बार कांग्रेस और भारतीय जनता पार्टी (भाजपा) के साथ गठबंधन किया, लेकिन इसे राज्य में पहले जैसी सफलता नहीं मिल सकी। इसके अलावा, पार्टी के प्रमुख नेता प्रफुल्ल कुमार महैत और अन्य नेताओं के बीच मतभेदों ने पार्टी को कमजोर किया।

असम गण परिषद की राजनीतिक गिरावट के पीछे कई कारण रहे हैं। पार्टी अवैध प्रवासियों के मुद्दे को पूरी तरह हल करने में विफल रही, जिसने इसकी विश्वसनीयता को नुकसान पहुंचाया। इसके अलावा, पार्टी ने सत्ता में रहते हुए राज्य के विकास और सामाजिक मुद्दों पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया, जिससे जनता का भरोसा उठ गया। पार्टी के नेतृत्व में भी बदलाव की कमी रही और युवा नेताओं को मौका नहीं दिया गया, जिससे पार्टी की लोकप्रियता घटती गई। वर्तमान समय में असम गण परिषद एक छोटे क्षेत्रीय दल के रूप में कार्य कर रही है और भाजपा के साथ गठबंधन में है। पार्टी की स्वतंत्र राजनीतिक पहचान कमजोर हो चुकी है, और इसे अब भाजपा के नेतृत्व वाले राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन (NDA) के तहत ही चुनाव लड़ने की आवश्यकता पड़ती है। 2016 और 2021 के विधानसभा चुनावों में असम गण परिषद ने भाजपा के साथ मिलकर चुनाव लड़ा और कुछ सीटों पर जीत दर्ज की, लेकिन पार्टी की ताकत अब भाजपा के सहयोग पर निर्भर करती है। असम गण परिषद की वर्तमान स्थिति को देखते हुए कहा जा सकता है कि पार्टी ने अपने शुरुआती वर्षों में जो राजनीतिक और सामाजिक बदलाव लाने का वादा किया था, वह पूरी तरह से साकार नहीं हो सका। पार्टी के नेतृत्व में बार–बार हुए आंतरिक विभाजन और गुटबाजी ने इसे कमजोर किया है। इसके बावजूद, असम गण परिषद असम के क्षेत्रीय दलों में एक महत्वपूर्ण स्थान बनाए हुए है, और भाजपा के साथ इसके गठबंधन ने इसे राज्य की राजनीति में एक भूमिका निभाने का अवसर दिया है।

असम गण परिषद की वर्तमान राजनीति भाजपा के साथ गठबंधन और राष्ट्रीय मुद्दों के साथ जुड़ी हुई है। असम में नागरिकता संशोधन अधिनियम (CAA) के खिलाफ विरोध प्रदर्शनों के दौरान पार्टी को जनता के बीच आलोचना का सामना करना पड़ा, क्योंकि यह मुद्दा असम के अवैध प्रवासियों और असम समझौते के प्रावधानों से जुड़ा हुआ था। असम गण परिषद की इस मुद्दे पर स्थिति स्पष्ट नहीं रही, और पार्टी को जनता के एक बड़े हिस्से की नाराजगी झेलनी पड़ी। पार्टी का भविष्य इस बात पर निर्भर करता है कि वह कैसे अपनी पुरानी पहचान को वापस पाने में सफल होती है और अवैध प्रवासियों के मुद्दे पर अपनी स्थिति स्पष्ट करती है। पार्टी को अपने पारंपरिक वोट बैंक, विशेषकर ग्रामीण क्षेत्रों और छात्रों के बीच अपना समर्थन वापस पाने की आवश्यकता है। इसके अलावा, पार्टी को अपने नेतृत्व में सुधार की जरूरत है ताकि वह राज्य की राजनीति में एक स्वतंत्र और मजबूत क्षेत्रीय दल के रूप में उभर सके।

असम गण परिषद का इतिहास असम आंदोलन और असम की क्षेत्रीय अस्मिता के साथ गहराई से जुड़ा हुआ है। हालांकि पार्टी ने शुरुआती वर्षों में बड़ी सफलता हासिल की, लेकिन बाद के वर्षों में इसके नेतृत्व में आई खामियों और नीतिगत असफलताओं ने इसकी राजनीतिक स्थिति को कमजोर कर दिया। वर्तमान में पार्टी भाजपा के साथ गठबंधन में रहकर अपनी राजनीतिक भूमिका निभा रही है, लेकिन इसे अपनी स्वतंत्र पहचान को मजबूत करने की आवश्यकता है।

6.6.6 अन्य राज्यों में क्षेत्रीय या राज्य दलों के परिदृश्य

भारत में क्षेत्रीय और राज्य स्तरीय दलों की उत्पत्ति और विकास का इतिहास देश की सांस्कृतिक, भाषाई, सामाजिक और राजनीतिक विविधताओं से गहराई से जुड़ा हुआ है। भारतीय लोकतंत्र की विशिष्ट संरचना ने विभिन्न राज्यों और क्षेत्रों में राजनीतिक दलों के विकास को प्रोत्साहित किया है, जो राष्ट्रीय राजनीति में अपनी एक अलग पहचान बनाते रहे हैं। क्षेत्रीय दलों की घटना ने न केवल राज्य की राजनीति को प्रभावित किया है, बल्कि राष्ट्रीय राजनीति में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

क्षेत्रीय दलों में विशाल हरियाणा पार्टी हरियाणा राज्य में एक समय अपना अच्छा प्रभाव रखती थी और जून 1977 हरियाणा विधानसभा चुनावों में इसने 4 स्थान प्राप्त किये। बंसीलाल के नेतृत्व में बनी हरियाणा विकास पार्टी हरियाणा का एक क्षेत्रीय दल है। 11वीं लोकसभा चुनाव तथा हरियाणा विधानसभा चुनाव (1996) में इस पार्टी ने भाजपा के साथ गठवन्धन किया और इस गठवन्धन से दोनों दलों को लाभ हुआ। महाराष्ट्रवादी गोमांतक दल का गोवा में प्रभाव है वहां यह दल सत्ता तक पहुंची है। रिपब्लिकन पार्टी ऑफ इण्डिया का प्रभाव महाराष्ट्र तमिलनाडू आंध्र प्रदेश, उत्तर प्रदेश और पंजाब में है। इसका एकमात्र ध्येय अनुसूचित जातियों के हितों की रक्षा करना है। कांग्रेस नाम से ही कम से कम चार पार्टियां हैं कांग्रेस (आई) कांग्रेस (एस) केरल कांग्रेस (मणिगुट) और केरल काग्रेस (जोजेफ गुट)। कम्युनिस्ट पार्टी के नाम से दो पार्टियां हैं। इसी प्रकार मुस्लिम लीग के नाम पर दो दल हैं। जाति और सम्प्रदाय के आधार पर जितने दल केरल में हैं उतने किसी अन्य राज्य में नहीं। इस समय मणिपुर में कई प्रादेशिक दल विद्यमान हैं, जैसे मणिपुर हित यूनियन कूकी नेशनत एसेम्बली

(Kuki National Assembly) और मणिपुर जनमुक्ति सेना, मणिपुर जनमुक्ति सेना पूरी तरह से आतंकवादियों के नियन्त्रण में है और वह देश की एकता के लिए एक बड़ा खतरा है। नkगालैण्ड में इस समय कई प्रादेशिक दल सक्रिय हैं, जैसे नागा नेशन डेमोक्रेटिक पार्टी, यूनाइटेड डेमोक्रेटिक फ्रण्ट, नागा नेशनल काउन्सिल। त्रिपुरा में एक प्रमुख प्रादेशिक दल त्रिपुरा उपजाति युवा समिति है। कांग्रेस (आई) ने 1983 के विधानसभा चुनावों के लिए इस पार्टी के साथ गठवन्धन किया था। मिजोरम में भी कई प्रादेशिक दल विद्यमान हैं, जिनमें पिपुल्स कांफ्रेन्स तथा मिजो यूनियन पार्टी उल्लेखनीय हैं।

स्वतंत्रता के बाद भारत में कांग्रेस पार्टी का वर्चस्व था, जो एक अखिल भारतीय दल के रूप में उभरी थी। हालांकि, कुछ ही समय बाद राज्यों में स्थानीय मुद्दों, सांस्कृतिक अस्मिता और क्षेत्रीय आकांक्षाओं के कारण कई क्षेत्रीय दलों का गठन होने लगा। इन दलों ने राष्ट्रीय दलों के खिलाफ आवाज उठाई और स्थानीय जनता के मुद्दों को केंद्र में रखा। 1960 और 1970 के दशकों में, राज्यों में स्थानीय सामाजिक और आर्थिक असमानताओं के कारण क्षेत्रीय दलों का प्रभाव बढ़ा।

उत्तर प्रदेश और बिहार जैसे राज्यों में समाजवादी और जाति–आधारित राजनीति का विकास हुआ। उत्तर प्रदेश में समाजवादी पार्टी और बहुजन समाज पार्टी जैसे दलों का उदय हुआ, जो राज्य की जातिगत संरचना और सामाजिक असमानताओं को लेकर सक्रिय रहे। समाजवादी पार्टी ने पिछड़े वर्गों और अल्पसंख्यकों के अधिकारों की वकालत की, जबकि BSP ने दलितों और अन्य पिछड़े वर्गों के सामाजिक और राजनीतिक अधिकारों को मुख्य एजेंडा बनाया।

बिहार में राष्ट्रीय जनता दल (RJD) का गठन लालू प्रसाद यादव ने किया, जो पिछड़े और अल्पसंख्यक वर्गों के समर्थन के बल पर राजनीति में उभरे। त्श्रक ने बिहार में सामाजिक न्याय की राजनीति को केंद्र में रखा और राज्य की राजनीति में लंबे समय तक प्रभावशाली रहा। जाति–आधारित राजनीति और सामाजिक असमानताओं के मुद्दों पर आधारित इन दलों ने उत्तर भारत की राजनीति को नई दिशा दी। महाराष्ट्र में शिवसेना का गठन 1966 में बाल ठाकरे द्वारा किया गया, जो मुख्य रूप से मराठी अस्मिता और मुंबई में दक्षिण भारतीय प्रवासियों के खिलाफ एक आंदोलन के रूप में उभरी थी। शिवसेना ने मराठी भाषा और संस्कृति की सुरक्षा की मांग की और जल्द ही राज्य की राजनीति में प्रभावशाली दल बन गई। 1990 के दशक में पार्टी ने भारतीय जनता पार्टी के साथ गठबंधन किया और राज्य की राजनीति में एक स्थायी स्थान प्राप्त किया।

ओडिशा में बीजू जनता दल (BJD) का गठन बीजू पटनायक के पुत्र नवीन पटनायक द्वारा किया गया था। यह दल राज्य की सामाजिक और आर्थिक विकास की मांगों को लेकर सक्रिय रहा है। बीजू जनता दल ने राज्य की राजनीति में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई और लंबे समय से सत्ता में बना हुआ है। पार्टी ने राज्य के विकास के मुद्दों पर ध्यान केंद्रित किया और केंद्र सरकार से विशेष आर्थिक पैकेज की मांग की। पश्चिम बंगाल में तृणमूल कांग्रेस (TMC) का गठन 1998 में ममता बनर्जी द्वारा किया गया। यह दल मुख्य रूप से पश्चिम बंगाल में कांग्रेस के खिलाफ खड़ा हुआ और राज्य की राजनीति में वामपंथी दलों के वर्चस्व को चुनौती दी। ममता बनर्जी ने किसानों, श्रमिकों और महिलाओं के अधिकारों को लेकर राजनीति की और राज्य में भूमि सुधारों और विकास की मांग को लेकर आंदोलन किया। TMC ने 2011 में पश्चिम बंगाल में वामपंथी दलों को हराकर सत्ता प्राप्त की और राज्य की राजनीति में एक नया युग शुरू किया।

6.7 सारांश

वर्तमान समय में, भारतीय राजनीति में क्षेत्रीय दलों का प्रभाव बढ़ता जा रहा है। केंद्र सरकार की नीतियों पर क्षेत्रीय दलों का प्रभाव और उनकी आवाज अब पहले से अधिक मजबूत हो गई है। राज्यों के विकास, सामाजिक सुरक्षा, और आर्थिक नीतियों पर क्षेत्रीय दलों की भूमिका बेहद महत्वपूर्ण हो चुकी है। क्षेत्रीय दलों ने यह साबित कर दिया है कि वे केवल राज्य की राजनीति तक सीमित नहीं हैं, बल्कि राष्ट्रीय राजनीति में भी निर्णायक भूमिका निभा सकते हैं। आने वाले समय में, भारतीय राजनीति में क्षेत्रीय दलों का प्रभाव और बढ़ सकता है, खासकर जब देश की विविधताओं और राज्यों की विशिष्ट समस्याओं को देखते हुए। भारतीय लोकतंत्र की संरचना और संघीय व्यवस्था ने क्षेत्रीय दलों के विकास को प्रोत्साहित किया है, और यही कारण है कि ये दल भविष्य में भी भारतीय राजनीति में महत्वपूर्ण बने रहेंगे।

नागरिकता संशोधन अधिनियम (CAA), राष्ट्रीय नागरिक पंजी (NRC), और अन्य मुद्दों के संदर्भ में क्षेत्रीय

दलों की भूमिका और भी महत्वपूर्ण हो गई है। इन दलों ने केंद्र सरकार की नीतियों के खिलाफ अपनी आवाज उठाई है और राज्य की स्वायत्तता और सांस्कृतिक पहचान की रक्षा के लिए संघर्ष किया है। इन सभी क्षेत्रीय और राज्य स्तरीय दलों ने भारतीय राजनीति में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। उनकी नीतियों और आंदोलनों ने न केवल राज्यों में राजनीतिक संरचनाओं को बदल दिया है, बल्कि राष्ट्रीय राजनीति में भी उनका गहरा प्रभाव पड़ा है। इन दलों ने स्थानीय मुद्दों को राष्ट्रीय मंच पर लाने का काम किया और राज्यों की स्वायत्तता, विकास, और सांस्कृतिक पहचान की रक्षा के लिए संघर्ष किया है।

वास्तव में देखा जाय तो वर्तमान परिदृश्य में कांग्रेस और भाजपा के कमजोर होने से क्षेत्रीय एवं राज्य स्तरीय दत्तों का वर्चस्व बढ़ता जा रहा है। शिव सेना तेतुगुदेशम् अन्नाद्रमुक, अकाली दल, समाजवादी पार्टी, राष्ट्रीय जनता दल, तृणमूल कांग्रेस, वीजू जनता दल जैसे दल आज भी अपने–अपने प्रभाव वाले राज्यों में राज्य राजनीति की प्रमुख धुरी हैं। देश के चुनाव विश्लेषक योगेन्द्र यादव का कहना है कि भारतीय लोकतन्त्र के आकार का महिमामण्डन पूरी दुनियां में इसीलिए होता है कि यहां हर तरह के विचार की छोटी–बड़ी पार्टियां हैं। भारतीय लोकतन्त्र का चुनाव कभी ब्रिटिश लोकतन्त्र के चुनाव की तरह नहीं हो सकता। भारत का आकार बड़ा है। इसलिए यहां के लोकतन्त्र और चुनावी ढांचे का चरित्र भी उसी के अनुरूप रहा है।

6.8 महत्वपूर्ण शब्दावली

राज्य स्तरीय दलः वे राजनीतिक दल जो एक या दो राज्यों में सीमित प्रभाव रखते हैं और वहां की राजनीति में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं, जैसे समाजवादी पार्टी और बहुजन समाज पार्टी आदि।

क्षेत्रीय दलः वे राजनीतिक दल जो किसी विशेष क्षेत्र या राज्य की सांस्कृतिक, सामाजिक और राजनीतिक अस्मिता के आधार पर सक्रिय होते हैं। जैसे, द्रविड़ मुनेत्र कड़गम और तेलुगु देशम पार्टी।

अस्मिता की राजनीतिः यह एक राजनीतिक रणनीति है, जिसमें किसी विशेष जाति, धर्म, भाषा या सांस्कृतिक पहचान पर आधारित मुद्दों को केंद्र में रखा जाता है, जैसे तमिलनाडु में द्रविड़ दलों द्वारा तमिल अस्मिता पर ध्यान केंद्रित करना।

स्वायत्तता की मांगः यह राज्यों द्वारा केंद्र सरकार से अधिक स्वायत्तता या स्वतंत्रता की मांग है, जिसमें अधिक प्रशासनिक, वित्तीय और कानूनी अधिकारों की मांग शामिल होती है।

ध्रुवीकरणः यह प्रक्रिया तब होती है जब राजनीतिक दल किसी विशेष समुदाय या समूह के मुद्दों को उभार कर उनका समर्थन प्राप्त करने का प्रयास करते हैं, जैसे साम्प्रदायिक या जातिगत राजनीति।

गठबंधन राजनीतिः राष्ट्रीय स्तर पर सरकार बनाने या राज्य की राजनीति में सत्ता प्राप्त करने के लिए छोटे दलों का गठबंधन करना, जैसे एनडीए और यूपीए गठबंधन।

आंचलिक अस्मिताः किसी राज्य या क्षेत्र की विशेष सांस्कृतिक और भाषाई पहचान के मुद्दों पर आधारित राजनीति, जो क्षेत्रीय दलों की मुख्य रणनीति होती है।

जातिगत राजनीतिः यह राजनीतिक रणनीति तब होती है जब किसी विशेष जाति या समुदाय के अधिकारों और हितों को बढ़ावा देने के लिए राजनीति की जाती है। उदाहरण के लिए, उत्तर प्रदेश में समाजवादी पार्टी द्वारा यादवों और बहुजन समाज पार्टी द्वारा दलितों का समर्थन।

विकेंद्रीकरणः केंद्र सरकार से शक्ति और अधिकारों का राज्यों और स्थानीय निकायों में वितरण करना, जो भारतीय संघीय ढांचे और क्षेत्रीय दलों की मांगों के लिए महत्वपूर्ण होता है।

जाति समीकरणः राज्य स्तरीय चुनावों में जातिगत संरचना और समीकरणों का विश्लेषण, जो चुनावी रणनीति का अहम हिस्सा होता है।

वोट बैंक: यह वह समुदाय या समूह होता है, जो किसी विशेष राजनीतिक दल का स्थायी समर्थन करता है। क्षेत्रीय दल अक्सर विशेष जातियों, धर्मों या सामाजिक समूहों पर निर्भर रहते हैं।

प्रादेशिक संघर्ष: क्षेत्रीय दलों द्वारा किसी विशेष राज्य के हितों की रक्षा के लिए केंद्रीय सरकार या अन्य राज्यों के खिलाफ किए गए संघर्ष।

6.8 महत्वपूर्ण बोध प्रश्न

1. राज्य स्तरीय दल और क्षेत्रीय दल के बीच क्या अंतर है?

....

....

....

2. द्रविड़ मुनेत्र कड़गम और अन्ना द्रविड़ मुनेत्र कड़गम के स्थापना के मुख्य उद्देश्य क्या थे?

....

....

....

3. तेलुगु देशम पार्टी के गठन का मुख्य कारण क्या था और इसके प्रमुख नेता कौन थे?

....

....

....

4. अकाली दल का पंजाब का गठन किन मुद्दों पर हुआ?

....

....

....

5. असम गण परिषद किस आंदोलन से उत्पन्न हुआ और असम की राजनीति में इसका क्या योगदान रहा है?

....

....

....

6. राज्य स्तरीय दलों की सफलता के मुख्य कारण क्या हैं और इनमें से सबसे प्रमुख कारक कौन सा है?

....

....

....

6.9 संदर्भ लेख

- The Politics of India since Independence by ब्रास, पॉल आर.
- The GovernmentAnd Politics of India by मोरिस, जोन्स डब्ल्यू. एच.
- India's Silent Revolution: The Rise of the Low Castes in North Indian Politics by जफरलॉट, क्रिस्टोफ़
- DemocracyAnd Discontent: India's Growing Crisis of Governability by कोहली, अतुल

- Electoral Politics in the Indian States: Lok Sabha Elections in 1980s by यादव, योगेंद्र
- In Pursuit of Lakshmi: The Political Economy of the Indian State by रूदोल्फ, लॉयड आई. और सुसान होवे रूदोल्फ
- Regional Politics in India: IssueAnd Trends by हसन, जफर
- Regionalism in Indian Politics by बर्नेट, फिलिप
- Party Competition in Indian States: Electoral Politics in Post &Congress Polity by पल्शीकर, सुहास और यशसपाल यादव (संपादक)
- Regional Political Parties in India: Identity,AutonomyAnd Development by स्वैन, आशुतोष कुमार

ईकाई–7 भारतीय राजनीति में दबाव समूह

इकाई की रूपरेखा

7.0 उद्देश्य

7.1 प्रस्तावना

7.2 दबाव समूह अर्थ एवं परिभाषा

7.3 दबाव समूहों का महत्व

7.4 दबाव समूह एवं राजनीतिक दल

7.5 दबाव समूहों के तरीके

7.6 भारतीय राजनीति में दबाव समूह

7.7 दबाव समूहों के प्रकार

7.7 1. संस्थानात्मक दबाव समूह

7.7 2. सहयोगी दबाव समूह

7.7 3. गैर–सहयोगी दबाव समूह

7.7 4. प्रदर्शनात्मक दबाव समूह (एनोमिक)

7.8 विदेशी लॉबीज की भूमिका

7.9 भारतीय दबाव समूहों की विशेषताएं

7.10 दबाव समूहों की आलोचना

7.11 सारांश

7.12 महत्वपूर्ण शब्दावली

7.13 महत्वपूर्ण बोध प्रश्न

7.14 कुछ उपयोगी पुस्तकें

7.0 उद्देश्य

भारतीय राजनीति में दबाव समूहों की भूमिका अत्यधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि वे विभिन्न मुद्दों पर सरकार के निर्णयों को प्रभावित करने का प्रयास करते हैं। वे नीतिगत निर्णयों पर अपनी आवाज़ को उठाते हैं और सरकार के समक्ष अपने हितों की पैरवी करते हैं। उदाहरण के तौर पर, व्यापारिक समूह, कृषक संघ, श्रमिक संघ, धार्मिक संगठन, और जाति आधारित संगठन जैसे विभिन्न दबाव समूह भारतीय राजनीति में सक्रिय रूप से भूमिका निभाते हैं। ये समूह अपने सदस्यों के हितों की रक्षा के लिए काम करते हैं और जब उनके हितों को खतरा होता है, तो वे सरकार पर अपने हितों को सुरक्षित रखने के लिए दबाव डालते हैं। दबाव समूहों का एक प्रमुख उद्देश्य यह होता है कि वे नीतिगत निर्णयों में भागीदारी सुनिश्चित करें। भारतीय राजनीति में नीति–निर्माण प्रक्रिया में विभिन्न प्रकार के दबाव समूह शामिल होते हैं।

लोकतांत्रिक व्यवस्था में सरकार जनता के प्रति जवाबदेह होती है और दबाव समूह इस प्रक्रिया में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। वे सरकार के कार्यों का मूल्यांकन करते हैं और अगर कोई निर्णय या नीति उनके हितों के विपरीत होती है, तो वे इसके खिलाफ आवाज़ उठाते हैं। इसके अलावा, वे नीतियों के कार्यान्वयन की प्रक्रिया की निगरानी करते हैं और अगर किसी क्षेत्र में समस्याएं उत्पन्न होती हैं, तो उन समस्याओं को सरकार के समक्ष उठाते हैं। उदाहरण के तौर पर अगर कोई श्रमिक संगठन देखता है कि श्रम कानूनों का ठीक से पालन नहीं हो रहा है, तो वह सरकार से उस पर कार्रवाई की मांग कर सकता है। इसी तरह, अगर कोई

व्यापारी संगठन किसी कर नीति से असंतुष्ट होता है, तो वह सरकार से उस नीति को बदलने के लिए दबाव डाल सकता है।

दबाव समूह समाज के विभिन्न वर्गों के बीच संवाद और समन्वय को भी बढ़ावा देते हैं। भारत जैसे विविध समाज में, जहां विभिन्न सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक समूह रहते हैं, दबाव समूह इन समूहों के हितों को एक–दूसरे के साथ समन्वयित करने का काम करते हैं। उदाहरण के लिए व्यापारिक संघ और श्रमिक संघ, जो एक–दूसरे के विपरीत होते हैं, अपने हितों की रक्षा के लिए सरकार के साथ संवाद करते हैं और इस प्रक्रिया में एक–दूसरे के साथ तालमेल बिठाते हैं। यह संवाद और समन्वय समाज में संतुलन बनाए रखने और विभिन्न हितों को एक साथ लेकर चलने का काम करता है।

दबाव समूह जनमत को जागरूक करने के साथ उसे संगठित करता है। भारत में कई सामाजिक और आर्थिक मुद्दे हैं, जिन पर जनमत को संगठित करना आवश्यक होता है। दबाव समूह इस काम में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। वे सामाजिक जागरूकता अभियानों, रैलियों, सभाओं, और मीडिया के माध्यम से जनता को संगठित करते हैं और उनके हितों की रक्षा के लिए सरकार पर दबाव डालते हैं। भारतीय राजनीति में दबाव समूहों की भूमिका को न केवल राजनीतिक दलों के साथ जोड़कर देखा जाता है, बल्कि यह समझा जाता है कि वे राजनीतिक प्रक्रिया का एक अभिन्न हिस्सा हैं। भारतीय लोकतंत्र में, जहां जनता की भागीदारी और हितों की रक्षा महत्वपूर्ण है, दबाव समूह उस भागीदारी को और भी अधिक मजबूत बनाते हैं। वे जनता की आवाज़ को सरकार तक पहुंचाने का काम करते हैं और यह सुनिश्चित करते हैं कि सरकार उनकी समस्याओं और मुद्दों पर ध्यान दे।

7.1 प्रस्तावना

भारतीय राजनीति में दबाव समूहों का महत्वपूर्ण स्थान है क्योंकि वे न केवल राजनीतिक प्रक्रियाओं को प्रभावित करते हैं, बल्कि नीतिगत निर्णयों को भी दिशा प्रदान करते हैं। दबाव समूह किसी भी लोकतांत्रिक व्यवस्था के महत्वपूर्ण तत्व होते हैं, जो विभिन्न सामाजिक आर्थिक और राजनीतिक वर्गों के हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं। वे राजनीतिक दलों से भिन्न होते हैं, क्योंकि उनका मुख्य उद्देश्य सत्ता प्राप्त करना नहीं होता, बल्कि वे अपने हितों की रक्षा और उन्हें बढ़ावा देने के लिए सरकार पर दबाव डालते हैं। भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में, जहां विभिन्न सामाजिक और सांस्कृतिक विविधताएं हैं, दबाव समूह नीतिगत निर्णयों पर गहरा प्रभाव डालते हैं।

राजनीतिक प्रक्रिया में दबाव समूहों का विशिष्ट महत्व है। फ्रेडरिक ने लिखा है कि, "क्या कूड़ा ढोने वाले और राजनीतिशास्त्र के गम्भीर छात्र सभी इन दबाव समूहों को घटिया व तुच्छ दृष्टि से देखते थे। इन्हें ऐसी पापात्मा शक्ति माना जाता था जो लोकतन्त्र की जड़ें कमजोर करने अथवा प्रतिनिध्यात्मक शासन को विचलित कर सकती थी। लॉबी शब्द को हेय दृष्टि से देखा जाता था और इसे धोखा भ्रष्टाचार, बुराई, आदि का प्रतीक माना जाता था।' किन्तु आधुनिक काल में दबाव तथा हित समूहों को लोकतन्त्र का पक्षपोषक एवं सहयोगी माना जाने उगा है। विभिन्न देशों की राजनीतिक व्यवस्था में इन समूहों का महत्व और योगदान इतना अधिक बढ़ गया है कि इन्हें न केवल एक आवश्यक बुराई माना जाता है अपितु राजनीतिक क्रियाशीलता एवं सार्वजनिक नीतियों के प्रभावशाली क्रियान्वयन के लिए स्वास्थ्यजनक तत्व भी स्वीकार किया जाता है। राज व्यवस्था में दबाव तथा हित समूहों का अभ्युदय एवं उन्नयन कोई नूतन तथ्य नहीं है। लगभग सभी प्रकार के समाज एवं शासन में दबाव समूह विद्यमान रहे हैं।

7.2 दबाव समूह अर्थ एवं परिभाषा

दबाव समूह को विभिन्न नामों से सम्बोधित किया गया है। हित समूह, गैर–सरकारी संगठन (Private Orgnization), लॉबीज, अनौपचारिक संगठन (Informal Groups), गुट इत्यादि शब्दों का प्रयोग दबाव गुटों के लिए किया जाता रहा है। दबाव समूहों तथा अन्य संगठन में अन्तर अवश्य है। सभी संगठन दबाव समूह नहीं होते और न हित समूह और दबाव समूह समान ही हैं। प्रत्येक देश और समाज में सैकड़ों हित समूह होते हैं, किन्तु जब वे सत्ता को प्रभावित करने के इरादे से राजनीतिक दृष्टि से सक्रिय हो जाते हैं तो दबाव समूह बन जाते हैं। व्यक्तियों के ऐसे समूहों को दबाव समूह कहा जाता है जो किसी कार्यक्रम के आधार पर निर्वाचकों को प्रभावित नहीं करते, लेकिन जिनका सम्बन्ध विशेष मामलों से होता है। ये राजनीतिक संगठन नहीं होते न

ही चुनावों में अपने प्रत्याशी खड़ा करते हैं।

प्रो. मदन गोपाल गुप्ता के अनुसार, दबाव समूह वास्तव में एक ऐसा माध्यम है जिनके द्वारा सामान्य हित वाले व्यक्ति ऐसा कोई भी सामाजिक समूह जो प्रशासनिक और विधायी सार्वजनिक मामलों को प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं। ओडिगार्ड के अनुसार, दबाव समूह ऐसे लोगों का औपचारिक संगठन है जिनके एक अथवा अधिक सामान्य उद्देश्य या स्वार्थ होते हैं और जो घटनाओं के क्रम को विशेष रूप से सार्वजनिक नीति के निर्माण और शासन को इसलिए प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं कि वे अपने हितों की रक्षा एवं वृद्धि कर सके। माइरन वीनर के शब्दों में। "दबाव समूह से हमारा तात्पर्य शासकीय व्यवस्था के बाहर किसी भी ऐसे ऐच्छिक, किन्तु संगठित समूह से है जो शासकीय अधिकारियों की नामजदगी अथवा नियुक्ति, सार्वजनिक नीति के निर्धारण, उसके प्रशासन और समझौता व्यवस्था को प्रभावित करने का प्रयास करता है।''

वस्तुतः दबाव समूह ऐसा माध्यम है जिनके द्वारा सामान्य हित वाले व्यक्ति सार्वजनिक मामलों को प्रभावित करने का प्रयत्न हैं। इस अर्थ में ऐसा कोई भी सामाजिक समूह जो प्रशासनिक और संसदीय दोनों ही प्रकार को प्रभावित करने का प्रयत्न करने हेतु कोई प्रयत्न किये बिना ही प्रभावित करना चाहते हैं तो दबाव गुट की श्रेणी बन जाता है जिसे एस.ई. फाइनर ने अज्ञात साम्राज्य (Anonymous Empire) के तौर पर परिभाषित किया है। उपयुक्त परिभाषाओं के आधार पर दबाव समूहों के प्रमुख लक्षण इस प्रकार हैं–

- दबाव समूह अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए नीति निर्माताओं को प्रभावित करते हैं।
- दबाव समूहों का सम्बन्ध विशिष्ट मसलों (Special Issues) से होता है।
- दबाव समूह के राजनीतिक संगठन नहीं होते और न ही ये चुनाव में भाग लेते हैं।
- दबाव समूहों को अज्ञात साम्राज्य कहा गया है।

7.3 दबाव समूहों का महत्व

वर्तमान राजनीतिक व्यवस्था में दबाव समूहों का महत्व अत्यन्त व्यापक बनता जा रहा है। अधिकांश देशों के संविधान इस बात को स्वीकार करते हैं कि इस प्रकार के समूहों के विकास के लिए उपयुक्त सुविधाएं प्रदान की जायें। दबाव समूहों की उपयोगिता तथा महत्व को निम्नलिखित बिन्दुओं के माध्यम से रेखांकित किया जा सकता है–

- जनतान्त्रिक प्रक्रिया की अभिव्यक्ति के लिए दबाव समूह को लोकतन्त्र की अभिव्यक्ति का साधन माना जाता है। लोकतन्त्र की सफलता के लिए लोकमत तैयार करना आवश्यक है ताकि विशिष्ट नीतियों का समर्थन अथवा विरोध किया जा सके। विभिन्न देशों में दबाव गुट विभिन्न तरीकों से अपनी बात मनवाने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं।
- भारतीय राजनीति में दबाव समूहों भारतीय राजनीति में दबाव समूहों का महत्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि वे न केवल राजनीतिक प्रक्रियाओं को प्रभावित करते हैं, बल्कि नीतिगत निर्णयों को भी दिशा प्रदान करते हैं। दबाव समूह किसी भी लोकतांत्रिक व्यवस्था के महत्वपूर्ण तत्व होते हैं, जो विभिन्न सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक वर्गों के हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं। वे राजनीतिक दलों से भिन्न होते हैं, क्योंकि उनका मुख्य उद्देश्य सत्ता प्राप्त करना नहीं होता, बल्कि वे अपने हितों की रक्षा और उन्हें बढ़ावा देने के लिए सरकार पर दबाव डालते हैं। भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में, जहां विभिन्न सामाजिक और सांस्कृतिक विविधताएं हैं, दबाव समूह नीतिगत निर्णयों पर गहरा प्रभाव डालते हैं।
- भारतीय राजनीति में दबाव समूहों की भूमिका अत्यधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि वे विभिन्न मुद्दों पर सरकार के निर्णयों को प्रभावित करने का प्रयास करते हैं। वे नीतिगत निर्णयों पर अपनी आवाज़ को उठाते हैं और सरकार के समक्ष अपने हितों की पैरवी करते हैं। उदाहरण के तौर पर, व्यापारिक समूह, कृषक संघ, श्रमिक संघ, धार्मिक संगठन, और जाति आधारित संगठन जैसे विभिन्न दबाव समूह भारतीय राजनीति में सक्रिय रूप से भूमिका निभाते हैं। ये समूह अपने सदस्यों के हितों की रक्षा के लिए काम करते हैं और जब उनके हितों को खतरा होता है, तो वे सरकार पर अपने हितों को सुरक्षित रखने के लिए दबाव डालते हैं।

- दबाव समूहों का एक प्रमुख उद्देश्य यह होता है कि वे नीतिगत निर्णयों में भागीदारी सुनिश्चित करें। भारतीय राजनीति में नीति–निर्माण प्रक्रिया में विभिन्न प्रकार के दबाव समूह शामिल होते हैं। उदाहरण के लिए, जब कोई कृषि नीति बनाई जाती है, तो किसानों के संगठन सरकार के साथ संवाद में शामिल होते हैं ताकि उनकी मांगें और समस्याएं सुनी जा सकें। इसी तरह, जब किसी श्रम सुधार की बात होती है, तो श्रमिक संघ अपनी मांगों को सामने रखते हैं और सरकार से उन पर कार्रवाई की मांग करते हैं। ये समूह नीतियों के निर्माण के दौरान अपने सदस्यों के हितों की रक्षा के लिए लगातार सक्रिय रहते हैं और सरकार पर दबाव बनाते हैं कि नीतियां उनके अनुकूल हों।

- दबाव समूहों का एक अन्य महत्वपूर्ण कार्य यह है कि वे सरकार को जवाबदेह बनाते हैं। लोकतांत्रिक व्यवस्था में सरकार जनता के प्रति जवाबदेह होती है, और दबाव समूह इस प्रक्रिया में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। वे सरकार के कार्यों का मूल्यांकन करते हैं और अगर कोई निर्णय या नीति उनके हितों के विपरीत होती है, तो वे इसके खिलाफ आवाज़ उठाते हैं। इसके अलावा, वे नीतियों के कार्यान्वयन की प्रक्रिया की निगरानी करते हैं और अगर किसी क्षेत्र में समस्याएं उत्पन्न होती हैं, तो वे उन समस्याओं को सरकार के समक्ष उठाते हैं। उदाहरण के तौर पर, अगर कोई श्रमिक संगठन देखता है कि श्रम कानूनों का ठीक से पालन नहीं हो रहा है, तो वह सरकार से उस पर कार्रवाई की मांग कर सकता है। इसी तरह, अगर कोई व्यापारी संगठन किसी कर नीति से असंतुष्ट होता है, तो वह सरकार से उस नीति को बदलने के लिए दबाव डाल सकता है।

- दबाव समूह समाज के विभिन्न वर्गों के बीच संवाद और समन्वय को भी बढ़ावा देते हैं। भारत जैसे विविध समाज में, जहां विभिन्न सामाजिक, धार्मिक, और आर्थिक समूह रहते हैं, दबाव समूह इन समूहों के हितों को एक–दूसरे के साथ समन्वयित करने का काम करते हैं। उदाहरण के लिए, व्यापारिक संघ और श्रमिक संघ, जो एक–दूसरे के विपरीत होते हैं, अपने हितों की रक्षा के लिए सरकार के साथ संवाद करते हैं और इस प्रक्रिया में एक–दूसरे के साथ तालमेल बिठाते हैं। यह संवाद और समन्वय समाज में संतुलन बनाए रखने और विभिन्न हितों को एक साथ लेकर चलने का काम करता है।

- भारतीय राजनीति में दबाव समूहों की भूमिका कई बार नकारात्मक भी हो सकती है। जब कोई दबाव समूह अपने स्वार्थी हितों की पूर्ति के लिए नीतिगत निर्णयों को बाधित करता है, तो इससे अन्य सामाजिक समूहों के हितों की अनदेखी हो सकती है। इसके अलावा, जब दबाव समूहों की शक्ति अत्यधिक बढ़ जाती है, तो वे लोकतांत्रिक प्रक्रिया को प्रभावित करने के लिए भ्रष्टाचार, दबाव, और अन्य अवांछनीय तरीकों का सहारा ले सकते हैं। उदाहरण के लिए, व्यापारिक लॉबी कई बार अपने आर्थिक हितों की रक्षा के लिए सरकार पर अत्यधिक दबाव डाल सकती है, जिससे नीतियां उनके पक्ष में झुक सकती हैं, जबकि समाज के अन्य वर्गों के हितों की अनदेखी हो सकती है।

- दबाव समूहों का एक अन्य उद्देश्य यह होता है कि वे जनमत को जागरूक करें और उसे संगठित करें। भारत में कई सामाजिक और आर्थिक मुद्दे हैं, जिन पर जनमत को संगठित करना आवश्यक होता है। दबाव समूह इस काम में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। वे सामाजिक जागरूकता अभियानों, रैलियों, सभाओं, और मीडिया के माध्यम से जनता को संगठित करते हैं और उनके हितों की रक्षा के लिए सरकार पर दबाव डालते हैं। उदाहरण के लिए, पर्यावरण संबंधी मुद्दों पर काम करने वाले दबाव समूह जनता को पर्यावरण की रक्षा के लिए जागरूक करते हैं और सरकार से पर्यावरण–संरक्षण संबंधी नीतियों को लागू करने की मांग करते हैं।

- भारतीय राजनीति में दबाव समूहों की भूमिका को न केवल राजनीतिक दलों के साथ जोड़कर देखा जाता है, बल्कि यह समझा जाता है कि वे राजनीतिक प्रक्रिया का एक अभिन्न हिस्सा हैं। भारतीय लोकतंत्र में, जहां जनता की भागीदारी और हितों की रक्षा महत्वपूर्ण है, दबाव समूह उस भागीदारी को और भी अधिक मजबूत बनाते हैं। वे जनता की आवाज़ को सरकार तक पहुंचाने का काम करते हैं और यह सुनिश्चित करते हैं कि सरकार उनकी समस्याओं और मुद्दों पर ध्यान दे।

- दबाव समूहों की भूमिका को बेहतर ढंग से समझने के लिए कुछ प्रमुख उदाहरणों को देखना उपयोगी होगा। भारत में विभिन्न किसान संघ, जैसे भारतीय किसान यूनियन, लंबे समय से किसानों के अधिकारों

और हितों की रक्षा के लिए कार्य कर रहे हैं। वे कृषि नीतियों को प्रभावित करने और सरकार से उनकी मांगों को पूरा करने के लिए लगातार आंदोलन करते रहे हैं। इसी तरह, व्यापारिक संघ, जैसे फिक्की और एसोचैम, व्यापारिक समुदाय के हितों की रक्षा के लिए कार्य करते हैं और सरकार के साथ व्यापारिक नीतियों पर संवाद करते की भूमिका निरंतर बदलती रहती है। नए–नए मुद्दों के साथ, नए दबाव समूह उभरते रहते हैं। उदाहरण के लिए, हाल के वर्षों में, महिला सशक्तिकरण, एलजीबीटीक्यू+ अधिकार, और पर्यावरण संरक्षण जैसे मुद्दों पर काम करने वाले नए दबाव समूह सामने आए हैं। इन समूहों ने न केवल जनमत को प्रभावित किया है, बल्कि सरकार को भी इन मुद्दों पर ध्यान देने के लिए मजबूर किया है

- भारतीय राजनीति में दबाव समूहों की यह विशेषता है कि वे विभिन्न स्तरों पर कार्य करते हैं। कुछ समूह राष्ट्रीय स्तर पर कार्य करते हैं, जबकि कुछ क्षेत्रीय या स्थानीय स्तर पर सक्रिय होते हैं। यह विविधता दबाव समूहों की ताकत को और भी अधिक बढ़ा देती है, क्योंकि वे समाज के विभिन्न हिस्सों से आने वाली आवाज़ों का प्रतिनिधित्व करते हैं। दबाव समूह भारतीय लोकतंत्र में नागरिक समाज और सरकार के बीच एक सेतु के रूप में कार्य करते हैं, जो नीतियों के निर्माण और क्रियान्वयन में पारदर्शिता, उत्तरदायित्व, और समावेशिता को बढ़ावा देते हैं।
- भारतीय राजनीति में दबाव समूह लोकतांत्रिक व्यवस्था के अनिवार्य तत्व होते हैं। वे जनता के हितों की रक्षा करने और सरकार को जवाबदेह बनाने का काम करते हैं। उनके माध्यम से, विभिन्न सामाजिक, आर्थिक, और राजनीतिक वर्गों की आवाज़ को सरकार तक पहुंचाया जाता है, जिससे लोकतंत्र में विविधता और बहुलता बनी रहती है। दबाव समूह भारतीय राजनीति में न केवल एक शक्तिशाली उपकरण हैं, बल्कि वे लोकतांत्रिक प्रक्रिया की सुदृढ़ता और स्थायित्व को भी सुनिश्चित करते हैं।

7.4 दबाव समूह एवं राजनीतिक दल (Pressure GroupsAnd Political Parties)

भारतीय राजनीति में दबाव समूह और राजनीतिक दल दोनों ही लोकतांत्रिक प्रणाली के महत्वपूर्ण हिस्से हैं, लेकिन उनकी भूमिका और उद्देश्य अलग–अलग होते हैं। राजनीतिक दलों का मुख्य उद्देश्य सत्ता प्राप्त करना और उसे बनाए रखना होता है, जबकि दबाव समूह सत्ता हासिल करने की कोशिश नहीं करते बल्कि अपने विशिष्ट हितों की रक्षा के लिए सरकार और नीतिगत प्रक्रियाओं को प्रभावित करने का प्रयास करते हैं। भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में जहां राजनीतिक दल जनता की आवाज़ बनकर काम करते हैं, वहीं दबाव समूह विभिन्न वर्गों, संगठनों, और समुदायों के हितों की रक्षा करते हैं।

दबाव समूह एक विशेष उद्देश्य या मुद्दे पर ध्यान केंद्रित करते हैं। उदाहरण के लिए, किसान संगठन, व्यापारिक संघ, श्रमिक संघ, जातिगत संगठन और धार्मिक समूह सभी दबाव समूहों का हिस्सा होते हैं। इनका मुख्य कार्य सरकार की नीतियों को प्रभावित करना होता है ताकि उनके सदस्यों के हित सुरक्षित रहें। उदाहरण के तौर पर, किसानों के दबाव समूह कृषि नीतियों को प्रभावित करने का काम करते हैं, जबकि श्रमिक संघ श्रम सुधारों में अपनी बात रखते हैं। इसके विपरीत, राजनीतिक दल व्यापक एजेंडे के साथ काम करते हैं और सत्ता में आने के बाद विभिन्न नीतियों को लागू करने का प्रयास करते हैं।

भारतीय राजनीति में दबाव समूहों की शक्ति और प्रभाव कई बार बहुत अधिक होती है। उदाहरण के लिए, 2011 में अन्ना हज़ारे के नेतृत्व में चले भ्रष्टाचार विरोधी आंदोलन ने सरकार पर भारी दबाव डाला, जिसके परिणामस्वरूप जन लोकपाल विधेयक पर चर्चा हुई। इस आंदोलन को एक प्रभावशाली दबाव समूह के रूप में देखा गया जिसने सरकार की नीतियों को सीधे तौर पर प्रभावित किया। इसी प्रकार, व्यापारिक संगठनों जैसे फिक्की (FICCI) और एसोचैम (ASSOCHAM) ने भारतीय व्यापार और आर्थिक नीतियों पर महत्वपूर्ण प्रभाव डाला है। इन संगठनों ने अपने सदस्यों के हितों को बढ़ावा देने के लिए सरकार पर लगातार दबाव बनाए रखा है। राजनीतिक दलों और दबाव समूहों के बीच एक अन्य महत्वपूर्ण अंतर यह है कि राजनीतिक दल चुनावों में भाग लेकर सत्ता में आते हैं और नीति–निर्माण की प्रक्रिया को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करते हैं। दूसरी ओर, दबाव समूह नीति–निर्माण प्रक्रिया में प्रत्यक्ष भागीदारी नहीं करते, बल्कि नीति–निर्माताओं को प्रभावित करने का प्रयास करते हैं। दबाव समूह कभी–कभी राजनीतिक दलों के सहयोगी के रूप में काम करते हैं, जबकि अन्य समय पर वे उनके विरोधी बन जाते हैं, जब उनके हितों के खिलाफ नीतियां बनाई जाती हैं।

भारतीय राजनीति में दबाव समूह और राजनीतिक दलों के बीच संबंध जटिल हो सकते हैं। कभी–कभी दबाव समूह किसी विशेष राजनीतिक दल का समर्थन करते हैं, क्योंकि उनकी नीतियां उनके हितों के अनुरूप होती हैं। वहीं, दूसरी ओर, कई बार दबाव समूह राजनीतिक दलों की नीतियों का विरोध करते हैं और अपने सदस्यों के हितों की रक्षा के लिए आंदोलन करते हैं। यह संबंध सत्ता और नीति–निर्माण प्रक्रिया पर गहरा प्रभाव डालता है।

दबाव समूह और राजनीतिक दल दोनों ही भारतीय लोकतंत्र के अभिन्न अंग हैं। दबाव समूह नागरिक समाज की ताकत होते हैं, जो नीतियों को प्रभावित करने का काम करते हैं, जबकि राजनीतिक दल लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं का संचालन करते हैं और चुनावों के माध्यम से सत्ता प्राप्त करते हैं। दोनों का सहयोग और संघर्ष लोकतांत्रिक व्यवस्था को संतुलित और सक्रिय बनाए रखने में सहायक होता है।

प्रो. हरमन फाइनर का कथन है कि "जहां सिद्धान्त और संगठन में राजनीतिक दल कमजोर होगे वहां दबाव समूह पनपेंगे जहां दबाव समूह शक्तिशाली होगे वहा राजनीतिक दल कमजोर होंगे और जहा राजनीतिक दल शक्तिशाली होगे वहां दबाव समूह दबा दिये जायेंगे। परन्तु राजनीतिक दलों की सुदृढ़ता और कमजोरी का सम्बन्ध दबाव समूहों की शक्ति और दुर्बलता से नहीं जोड़ा जा सकता है। उदाहरणार्थ, ब्रिटेन में संगठन और अनुशासन की दृष्टि से राजनीतिक दल काफी मजबूत हैं, किन्तु दबाव समूह भी किसी प्रकार कमजोर नहीं हैं। भारत और फ्रांस में संगठन और सिद्धान्त की दृष्टि से राजनीतिक दल कमजोर हैं, किन्तु दबाव समूह को भी किंग मेकर्स के रूप में मान्यता प्राप्त हो गयी है। भारत में तो राजनीतिक दल विभिन्न दबाव गुटों के ही संयुक्त गठजोड़ (Coalition) हैं जो दल के भीतर दलीय दृष्टिकोणों को प्रभावित करते रहते हैं।

भारतीय राज–व्यवस्था में कांग्रेस दल प्रारम्भ से ही विभिन्न हितों की अभिव्यक्ति का प्रभावशाली संगठन रहा है। स्वाधीनता आन्दोलन के दौरान इस दल ने विभिन्न हितों और स्वार्थों में गठजोड़ स्थापित करते हुए अंग्रेजों की नीतियों को प्रभावित करने का प्रयास किया। स्वाधीनता के बाद यह दल राष्ट्रीय आन्दोलन के स्थान पर एक आधुनिक राजनीतिक दल के रूप में क्रियाशील हो गया। कांग्रेस में कई विचारधाराओं, जाति तथा समुदायों के लोग सम्मिलित हुए और पुनः इसकी स्थिति पूर्व की भांति विभिन्न हितों का सामंजस्य करने वाली संस्था के रूप में उभरी। दूसरे दलों की भी न्यूनाधिक यही स्थिति रही और कोई भी दल जाति सम्प्रदाय, प्रदेश, आदि के हितों से मुक्त नहीं है। सभी प्रकार के लोग सभी दलों के सदस्य बने हैं और यही कारण है कि एक दल का चुनाव घोषणा–पत्र दूसरे दल के घोषणा–पत्र से लगभग मिलता–जुलता है। आलमण्ड तथा कोलमेन का यह विश्वास है कि भारत में तीन कारणों से राजनीतिक दलों द्वारा हित समूहों की स्पष्ट और तीव्र अभिव्यक्ति नहीं हो पाई है

- भारत में दलीय व्यवस्था निर्माण की प्रक्रिया में है।
- राजनीतिक दल, विधायिका तथा नौकरशाही में सीमाएं स्पष्ट नहीं हैं तथा अधिकांश कार्य नौकरशाही द्वारा किया जाता है।
- राजनीतिक दल संगठन और सिद्धान्त में कमजोर हैं।

7.5 दबाव समूहों के तरीके

भारतीय राजनीति में दबाव समूह अपनी मांगों को पूरा करने और नीति निर्माण प्रक्रिया को प्रभावित करने के लिए विभिन्न तरीकों का सहारा लेते हैं। ये तरीके समूह की शक्ति, समर्थन, संसाधनों और विशिष्ट उद्देश्यों पर निर्भर करते हैं। दबाव समूहों का मुख्य उद्देश्य यह नहीं होता कि वे खुद सत्ता में आएं, बल्कि वे सत्ता के नीतिगत निर्णयों को अपने अनुकूल बनाने का प्रयास करते हैं। भारतीय लोकतंत्र में दबाव समूहों के पास विभिन्न माध्यम हैं जिनसे वे सरकार, राजनीतिक दलों, मीडिया और जनता पर अपना प्रभाव डालते हैं। इन तरीकों में लॉबिंग, जनमत तैयार करना, न्यायिक हस्तक्षेप, जनांदोलन, और गठबंधन निर्माण शामिल हैं। दबाव समूह अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए उपयुक्त साधन या तरीके अपनाते हैं। प्राचीन समय में उनके साधनों को बुरी नजर से तथा घृणा से देखा जाता था, किन्तु आज इन्हें बुरा नहीं माना जाता। दबाव समूह द्वारा अपनाये जाने वाले साधन इस निम्न प्रकार के हैं–

1. दबाव समूहों का पहला और सबसे प्रभावी तरीका लॉबिंग है। लॉबिंग का अर्थ है, सरकार और नीति

निर्माताओं के साथ सीधा संवाद स्थापित कर अपनी मांगों को प्रस्तुत करना। दबाव समूह सरकार के विधायकों, मंत्रियों, नौकरशाहों और अन्य निर्णय लेने वाले व्यक्तियों से मिलकर उन्हें अपने पक्ष में फैसले लेने के लिए प्रेरित करते हैं। लॉबिंग का सबसे ज्यादा इस्तेमाल व्यापारिक संघों, उद्योगों, और आर्थिक संगठनों द्वारा किया जाता है। ऐसे संगठन सरकार की आर्थिक नीतियों को प्रभावित करने के लिए लॉबिंग करते हैं, ताकि वे अपने उद्योगों के हितों की रक्षा कर सकें। उदाहरण के लिए, भारतीय उद्योग परिसंघ (CII) और फिक्की (FICCI) जैसे संगठन सरकार की नीतियों को प्रभावित करने के लिए लॉबिंग करते हैं।

2. दबाव समूहों का दूसरा प्रमुख तरीका जनमत तैयार करना होता है। जनमत तैयार करने के लिए वे प्रचार, मीडिया, और जन जागरूकता अभियानों का सहारा लेते हैं। उनका उद्देश्य जनता को अपने मुद्दों के प्रति जागरूक करना और सरकार पर जनता की आवाज़ के रूप में दबाव डालना होता है। इसके लिए वे समाचार पत्रों में लेख प्रकाशित करते हैं, टेलीविजन और रेडियो पर बहसों में हिस्सा लेते हैं, और सोशल मीडिया का भी व्यापक रूप से उपयोग करते हैं। इन अभियानों का मकसद होता है कि जनता का समर्थन प्राप्त किया जाए और सरकार को यह महसूस कराया जाए कि जनमत उनके पक्ष में है। इसके उदाहरण के रूप में, 2011 का अन्ना हजारे का भ्रष्टाचार विरोधी आंदोलन लिया जा सकता है, जहां जनमत का व्यापक समर्थन प्राप्त हुआ और सरकार पर जन लोकपाल विधेयक लाने का दबाव पड़ा।

3. एक अन्य तरीका है विरोध प्रदर्शन और आंदोलन। जब दबाव समूह अपनी मांगों को पूरा कराने में असफल रहते हैं, तो वे रैलियों, धरनों, हड़तालों और अन्य विरोध प्रदर्शनों का आयोजन करते हैं। ये प्रदर्शनों का उद्देश्य सरकार और नीति निर्माताओं को जनता की असंतुष्टि दिखाना होता है, जिससे उनकी मांगों को पूरा किया जा सके। भारतीय राजनीति में किसानों, श्रमिक संघों और छात्रों के आंदोलनों का इतिहास लंबा रहा है। उदाहरण के तौर पर, 2020 में किसान आंदोलन, जहां किसानों ने कृषि कानूनों के विरोध में बड़े पैमाने पर विरोध प्रदर्शन किए और अंततः सरकार को कानूनों को वापस लेना पड़ा। ये आंदोलन सरकार पर भारी दबाव डालते हैं और नीति में बदलाव करने के लिए उसे मजबूर करते हैं।

4. न्यायिक हस्तक्षेप या जनहित याचिका (PIL) भी दबाव समूहों का एक प्रमुख तरीका है। जब दबाव समूह सीधे सरकार को प्रभावित करने में असमर्थ होते हैं, तो वे न्यायालय का सहारा लेते हैं। भारतीय न्यायपालिका में जनहित याचिका का प्रावधान उन्हें यह अवसर देता है कि वे समाज के व्यापक हितों की रक्षा के लिए अदालत का दरवाजा खटखटा सकें। पर्यावरणीय मुद्दों, मानवाधिकारों और सामाजिक न्याय से जुड़े कई मुद्दों पर दबाव समूह न्यायालय में याचिकाएं दाखिल करते हैं और न्यायिक निर्णयों के माध्यम से नीतिगत बदलाव लाते हैं। उदाहरण के लिए, गंगा नदी की सफाई से संबंधित विभिन्न जनहित याचिकाओं ने सरकार को प्रदूषण रोकने के लिए कड़े कदम उठाने पर मजबूर किया।

5. दबाव समूह गठबंधन बनाकर भी अपना प्रभाव बढ़ाते हैं। कभी–कभी ये समूह एक दूसरे के साथ सहयोग करते हैं ताकि उनका सामूहिक प्रभाव बढ़ सके। ऐसा विशेष रूप से तब होता है जब विभिन्न समूहों के उद्देश्य एक जैसे होते हैं। उदाहरण के तौर पर, श्रमिक संघ और किसान संघ कई बार संयुक्त आंदोलनों का आयोजन करते हैं, जिससे उनकी ताकत बढ़ जाती है और सरकार पर अधिक दबाव पड़ता है। इसी तरह, कभी–कभी दबाव समूह राजनीतिक दलों के साथ गठजोड़ करते हैं। ऐसे गठजोड़ों में दबाव समूह किसी विशेष राजनीतिक दल को समर्थन देते हैं, ताकि चुनाव के बाद उस दल की सरकार बनने पर उनकी मांगों को पूरा किया जा सके। इस प्रकार का गठबंधन राजनीतिक दलों के साथ श्रमिक संघों और व्यापारी संघों में अधिक देखा जाता है।

6. दबाव समूहों का एक अन्य तरीका है कानूनी कार्रवाई करना। वे नीतिगत फैसलों के खिलाफ अदालतों में मुकदमा दायर करते हैं। यह तरीका उन दबाव समूहों के लिए प्रभावी होता है, जो यह मानते हैं कि उनके अधिकार या हित सरकार की नीतियों के कारण प्रभावित हो रहे हैं। कानूनी प्रक्रिया के माध्यम से वे नीतिगत बदलाव या कानून में संशोधन की मांग करते हैं। कई बार दबाव समूह इस तरीके का इस्तेमाल तब करते हैं, जब अन्य सभी माध्यम विफल हो जाते हैं। उदाहरण के तौर पर, पर्यावरण से

जुड़े कई मुद्दों पर अदालत ने दबाव समूहों की याचिकाओं पर फैसला सुनाया है, जैसे ताजमहल के आसपास उद्योगों को बंद करने का आदेश।

7. दबाव समूह अंतर्राष्ट्रीय समर्थन जुटाने के प्रयास भी करते हैं। विशेष रूप से मानवाधिकार और पर्यावरण से जुड़े दबाव समूह अंतर्राष्ट्रीय मंचों पर अपनी आवाज उठाते हैं और विदेशी सरकारों, अंतर्राष्ट्रीय संगठनों और गैर–सरकारी संगठनों का समर्थन प्राप्त करते हैं। इसका उद्देश्य सरकार पर अंतर्राष्ट्रीय दबाव डालना होता है ताकि उनकी मांगों को गंभीरता से लिया जाए। उदाहरण के लिए, विभिन्न अंतर्राष्ट्रीय पर्यावरण संगठनों ने भारत सरकार पर जलवायु परिवर्तन और प्रदूषण से जुड़े मुद्दों पर कार्रवाई करने के लिए दबाव डाला है। दबाव समूह कभी–कभी सरकार के साथ बातचीत और संवाद का रास्ता भी अपनाते हैं। यह तरीका तब उपयोग किया जाता है जब सरकार और दबाव समूह दोनों के हित एक दूसरे के खिलाफ नहीं होते। बातचीत के माध्यम से वे अपने मुद्दों का समाधान खोजने की कोशिश करते हैं। यह तरीका विशेष रूप से तब प्रभावी होता है, जब सरकार खुद किसी दबाव समूह की मांगों को पूरा करने के लिए इच्छुक हो लेकिन उसे सही दिशा की आवश्यकता हो।

भारतीय राजनीति में दबाव समूह विभिन्न तरीकों का उपयोग करके अपने हितों की रक्षा और नीतिगत निर्णयों को प्रभावित करने का प्रयास करते हैं। इनका उपयोग वे इस आधार पर करते हैं कि किस स्थिति में कौन सा तरीका अधिक प्रभावी होगा। भारतीय लोकतंत्र में दबाव समूहों की भूमिका इसलिए महत्वपूर्ण है, क्योंकि वे विभिन्न वर्गों और समुदायों के हितों की रक्षा करते हैं और उन्हें नीतिगत प्रक्रियाओं में शामिल करते हैं।

7.6 भारतीय राजनीति में दबाव समूह

भारतीय राजनीति में दबाव समूह लोकतांत्रिक प्रणाली का एक अभिन्न हिस्सा हैं, जो विभिन्न वर्गों, समुदायों और हित समूहों के मुद्दों और आवश्यकताओं को सरकार और नीति निर्माताओं तक पहुंचाने में अहम भूमिका निभाते हैं। दबाव समूहों का मुख्य उद्देश्य सरकार की नीतियों और कार्यक्रमों को अपने हितों के अनुकूल बनाना होता है, लेकिन ये राजनीतिक दलों की तरह सत्ता हासिल करने का प्रयास नहीं करते। वे विभिन्न तरीकों से सरकार पर अपने विचारों और मांगों को थोपने या उनके लिए समर्थन जुटाने का प्रयास करते हैं, ताकि उनकी आवश्यकताओं को ध्यान में रखा जा सके।

भारतीय राजनीति में विभिन्न प्रकार के दबाव समूह सक्रिय हैं, जिनमें व्यवसायिक संगठन, ट्रेड यूनियन, किसान संगठन, शिक्षण संस्थानों से जुड़े समूह, धार्मिक संगठन और नागरिक समाज के विभिन्न प्रतिनिधि शामिल हैं। इन समूहों का प्रभाव उनकी संगठनात्मक क्षमता, सामाजिक आधार, आर्थिक संसाधनों और राजनीतिक समर्थन पर निर्भर करता है। जैसे, फेडरेशन ऑफ इंडियन चैंबर्स ऑफ कॉमर्स एंड इंडस्ट्री और कन्फेडरेशन ऑफ इंडियन इंडस्ट्री जैसे व्यावसायिक दबाव समूह सरकार की आर्थिक नीतियों को प्रभावित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

एशिया की राजनीति के तीन अध्येताओं (कोहेन, पे. पार्क एवं टिंकर) का यह निष्कर्ष भारत पर भी लागू होता है कि पश्चिमी देशों की राजनीतिक प्रक्रिया में हित समूहों की स्पष्ट अभिव्यक्ति हुई है जबकि गैर पश्चिमी देशों में ऐसा नहीं हुआ है। भारत में अमरीका की भांति दबाव समूह विकसित नहीं हो पाएं हैं यद्यपि कतिपय व्यावसायिक संगठन दबाव समूहों के रूप में सक्रिय अवश्य हैं। किन्तु, अन्य समुदायों के दबाव समूह मध्यवर्गीय नेतृत्व के कारण सक्रिय रूप में राजनीतिक प्रक्रिया में निर्णयों को आधुनिक ढंग से प्रभावित नहीं कर पा रहे हैं। आर्थिक विपन्नता के कारण दबाव समूहों की मांग तथा शासकीय स्वास्थ्य के मध्य एक बड़ा अन्तर भारत में दर्शनीय है। सार्वजनिक वयस्क मताधिकार के कारण राजनीतिक अधिकारों की वृद्धि जनता को प्राप्त विशेषाधिकारों एवं आर्थिक और सामाजिक क्षेत्रों में नियोजित कार्यक्रमों के विस्तार के कारण भारत की राजनीतिक संरचना में संगठित दबाव व हित समूहों का विस्तार होता जा रहा है।

7.7 दबाव समूहों के प्रकार

भारत में कई प्रकार के दबाव समूह हैं। ये समूह देश की सामाजिक संरचना का प्रतिनिधित्व करते हैं। प्रो. मोरिस जोन्स के निष्कर्षों के अनुसार, "यदि भारतीय शासन–व्यवस्था को सांगोपांग समझना है तो गैर–सरकारी एवं अज्ञात संगठनों की गतिविधियों का अध्ययन करना उपयोगी एवं अपरिहार्य है। मोरिस जोन्स

ने अपनी रचना दि *गवर्नमेण्ट एण्ड पॉलिटिक्स ऑफ इण्डिया* में भारतीय राज–व्यवस्था की तीन भाषाएं या प्रतिरूप व्यक्त किये हैं। प्रथम और तृतीय भाषा का सम्बन्ध दबाव समूहों से ही है। वे द्वितीय भाषा का प्रतिरूप आधुनिक को प्रथम तथा तृतीय प्रतिरूप परम्परावादी एवं सन्तों की भाषा से प्रभावित मानते हैं। भारत में क्रियाशील दबाव समूहों को आलमण्ड तथा पॉवेल मॉडल' के आधार पर चार समूहों में विभाजित किया जा सकता

(1) संस्थानात्मक दबाव समूहै (2) सहयोगी दबाव समूहै (3) गैर–सहयोगी दबाव समूहै (4) प्रदर्शनात्मक दबाव समूह (एनोमिक)।

7.7.1 संस्थानात्मक दबाव समूह

संस्थानात्मक दबाव समूह उन समूहों को कहा जाता है जो संगठनों या संस्थानों के भीतर अपने हितों की सुरक्षा और संवर्धन के लिए काम करते हैं। इन समूहों में मुख्यतः कर्मचारी संघ, नौकरशाही के संघ, व्यापार संघ, शिक्षक संघ आदि शामिल होते हैं। इन समूहों की विशेषताएं निम्नवत हैं–

- ये विशेष रूप से सरकारी कर्मचारियों, अधिकारियों या संस्थानों के भीतर कार्यरत कर्मचारियों का प्रतिनिधित्व करते हैं।
- इनके पास संगठित संरचना होती है और ये संगठन के भीतर काम करते हैं।
- इनका उद्देश्य सरकारी नीतियों और फैसलों पर प्रभाव डालना होता है ताकि उनके सदस्यों के हित सुरक्षित रह सकें।
- उदाहरण के तौर पर, भारतीय प्रशासनिक सेवा (IAS) संघ, रेलवे कर्मचारी संघ, भारतीय सेना के संघ आदि संस्थानात्मक दबाव समूहों में आते हैं।

इन समूहों का राजनीति पर प्रभाव इसलिए अधिक होता है क्योंकि ये सरकार के विभिन्न स्तरों में कार्यरत रहते हैं और महत्वपूर्ण नीतिगत फैसलों को प्रभावित करने की क्षमता रखते हैं।

7.7.2 सहयोगी दबाव समूहः

सहयोगी दबाव समूह वे संगठन होते हैं जो सरकारी निर्णयों को प्रभावित करने के लिए सक्रिय भूमिका निभाते हैं और सरकार के साथ सहयोग करते हैं। इनका मुख्य उद्देश्य सरकार के साथ मिलकर कार्य करना होता है ताकि उनके उद्योग, व्यापार और आर्थिक गतिविधियों को बढ़ावा मिल सके। इन समूहों की विशेषताएं निम्नवत हैं–

- ये संगठनात्मक और आर्थिक दृष्टिकोण से सशक्त होते हैं।
- ये सरकार के साथ मिलकर कार्य करते हैं, जिससे सरकार की नीतियों पर प्रभाव डाल सकते हैं।
- इनमें ट्रेड यूनियन, व्यापारिक संगठन और अन्य उद्योग संगठन शामिल होते हैं।
- भारतीय उद्योग परिसंघ (CII), भारतीय वाणिज्य एवं उद्योग महासंघ (FICCI), भारतीय मजदूर संघ आदि इसके उदाहरण हैं।
- इन समूहों का उद्देश्य नीति निर्माण की प्रक्रिया में सहयोग कर उद्योग–व्यापार के हितों की रक्षा करना होता है, ताकि राष्ट्रीय आर्थिक नीतियां उनके अनुकूल हों।

7.7.3 गैर–सहयोगी दबाव समूह

गैर–सहयोगी दबाव समूह वे संगठन होते हैं जो सरकारी नीतियों और योजनाओं का विरोध करते हैं और उनके प्रभाव से असंतुष्ट रहते हैं। ये समूह सरकार की नीतियों को चुनौती देने और विरोध करने में विश्वास रखते हैं। इन समूहों की विशेषताएं निम्नवत हैं–

- ये संगठन सरकार के नीतिगत फैसलों का विरोध करते हैं।

- इनमें आमतौर पर मजदूर संघ, छात्र संगठन, किसान संगठन आदि शामिल होते हैं।
- इनका उद्देश्य समाज में हो रहे अन्याय और असमानता के खिलाफ आवाज उठाना होता है।
- उदाहरण के तौर पर, ऑल इंडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस (AITUC), भारतीय किसान यूनियन (BKU) आदि गैर–सहयोगी दबाव समूहों के रूप में माने जाते हैं।
- ये समूह आमतौर पर प्रदर्शनों, रैलियों और धरनों के माध्यम से अपनी मांगों को सरकार तक पहुँचाते हैं और सरकार की नीतियों के खिलाफ जनमत तैयार करने का प्रयास करते हैं।

7.7.4 प्रदर्शनात्मक दबाव समूह (एनोमिक)

प्रदर्शनात्मक या एनोमिक दबाव समूह वे समूह होते हैं जो किसी विशेष मुद्दे या संकट की स्थिति में स्वतःस्फूर्त रूप से खड़े होते हैं और अपनी मांगों के लिए प्रदर्शन करते हैं। इन्हें "एनोमिक" दबाव समूह भी कहा जाता है क्योंकि ये अस्थायी होते हैं और इन्हें तुरंत किसी कारण विशेष से उत्पन्न किया जाता है। इन समूहों की विशेषताएं निम्नवत हैं–

- ये अचानक उत्पन्न होते हैं और अस्थायी होते हैं।
- इनका उद्देश्य उस मुद्दे पर सरकार का ध्यान केंद्रित करना होता है जो किसी समुदाय या वर्ग को प्रभावित करता है।
- ये अक्सर हिंसक या अहिंसक प्रदर्शनों, रैलियों, हड़तालों, धरनों और विरोध मार्च के माध्यम से कार्य करते हैं।
- उदाहरण के तौर पर, नर्मदा बचाओ आंदोलन, निर्भया आंदोलन और अन्ना हजारे का जन लोकपाल आंदोलन एनोमिक दबाव समूहों के उदाहरण हैं।
- प्रदर्शनात्मक समूह आमतौर पर अत्यधिक जन समर्थन जुटाने में सक्षम होते हैं और मुद्दे के महत्व के अनुसार राजनीतिक दबाव बना सकते हैं।

भारतीय राजनीति में दबाव समूह के विभिन्न वर्गों और समुदायों के हितों को सामने लाने का काम करते हैं। ये समूह विभिन्न प्रकार के हो सकते हैं, जिनमें संस्थानात्मक दबाव समूह, सहयोगी दबाव समूह, गैर–सहयोगी दबाव समूह और प्रदर्शनात्मक (एनोमिक) दबाव समूहों की विशेषताओं को समझने का प्रयास किया गया है किन्तु कुछेक अन्य तत्व हैं जिन्हें निम्नलिखित बिन्दुओं के माध्यम से समझा जा सकता है।–

- भारत में दबाव समूह लोकतांत्रिक प्रणाली के प्रमुख तत्व होते हैं जो विभिन्न सामाजिक, आर्थिक, और राजनीतिक हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं। ये समूह राजनीतिक दलों की तरह चुनाव नहीं लड़ते, बल्कि अपनी विशेष नीतियों और मांगों को सरकार और अन्य प्रभावी संस्थानों तक पहुंचाने का काम करते हैं। दबाव समूहों का उद्देश्य विभिन्न समुदायों, पेशेवर संगठनों, या विशिष्ट वर्गों के हितों की रक्षा करना और उन्हें बढ़ावा देना होता है। इनका कार्यक्षेत्र अत्यधिक विस्तृत है, और वे विभिन्न तरीकों से सरकार पर नीतिगत प्रभाव डालते हैं। भारत में दबाव समूहों के विभिन्न प्रकार होते हैं, जो अपने–अपने क्षेत्र में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।
- व्यवसायिक दबाव समूह उन व्यापारिक और औद्योगिक संगठनों के रूप में कार्य करते हैं, जो आर्थिक हितों की रक्षा करते हैं। ये समूह अपने सदस्यों के व्यावसायिक हितों को सरकार की नीतियों के माध्यम से सुरक्षित रखने का प्रयास करते हैं। फेडरेशन ऑफ इंडियन चैंबर्स ऑफ कॉमर्स एंड इंडस्ट्री (FICCI) और कन्फेडरेशन ऑफ इंडियन इंडस्ट्री (CII) जैसे समूह इसके उदाहरण हैं। ये संगठन कराधान, व्यापार नीति, औद्योगिक नीति, और निवेश के मामलों में प्रभाव डालने का काम करते हैं।
- किसान समूह कृषि क्षेत्र के हितों की रक्षा के लिए सक्रिय होते हैं। भारत में किसानों की समस्याओं को उजागर करने और उनकी मांगों को सरकार तक पहुंचाने में ये समूह अहम भूमिका निभाते हैं। उदाहरण के लिए, भारतीय किसान यूनियन (BKU) जैसे संगठन कृषि नीतियों, न्यूनतम समर्थन मूल्य (MSP),

सिंचाई सुविधाओं और कृषि सब्सिडी जैसे मुद्दों पर सरकार पर दबाव बनाते हैं।

- मजदूर संगठन या ट्रेड यूनियन मुख्य रूप से श्रमिकों और मजदूरों के हितों की रक्षा करने का काम करते हैं। ये संगठन श्रमिकों की कामकाजी परिस्थितियों, वेतन, सुरक्षा, और अधिकारों की रक्षा के लिए संघर्ष करते हैं। भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस (INTUC) और अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस (AITUC) जैसे संगठन मजदूरों के अधिकारों की सुरक्षा में प्रमुख भूमिका निभाते हैं। ये संगठन हड़ताल, धरना, और प्रदर्शन जैसे तरीकों का उपयोग करके सरकार पर दबाव डालते हैं।

- जातीय और धार्मिक समूह विशेष रूप से सामाजिक और धार्मिक समूहों के अधिकारों की रक्षा के लिए काम करते हैं। ये संगठन समाज के विभिन्न धार्मिक और जातीय समुदायों के हितों को सुरक्षित रखने का प्रयास करते हैं। जैसे कि विश्व हिंदू परिषद (VHP) और ऑल इंडिया मुस्लिम पर्सनल लॉ बोर्ड (AIMPLB) जैसे संगठन धार्मिक और सांस्कृतिक मामलों पर सरकार की नीतियों को प्रभावित करने का प्रयास करते हैं।

- प्रोफेशनल समूह उन पेशेवर संगठनों का प्रतिनिधित्व करते हैं जो विशेष रूप से डॉक्टरों, वकीलों, शिक्षकों, इंजीनियरों और अन्य पेशेवरों के हितों की रक्षा के लिए कार्य करते हैं। इंडियन मेडिकल एसोसिएशन (IMA) और बार काउंसिल ऑफ इंडिया (BCI) जैसे संगठन अपने–अपने पेशेवर वर्ग की समस्याओं और मुद्दों को हल करने के लिए सरकार पर दबाव डालते हैं।

- नागरिक समाज के संगठन और गैर–सरकारी संगठन (NGOs) समाज के विभिन्न मुद्दों पर ध्यान केंद्रित करते हैं, जैसे मानवाधिकार, पर्यावरण संरक्षण, महिला अधिकार, और बाल कल्याण। ये संगठन सरकार की नीतियों और कार्यक्रमों को प्रभावित करने का प्रयास करते हैं। ग्रीनपीस इंडिया और सेंटर फॉर साइंस एंड एनवायरनमेंट (CSE) जैसे संगठन पर्यावरण संरक्षण के लिए काम करते हैं, जबकि अम्नेस्टी इंटरनेशनल इंडिया मानवाधिकारों की रक्षा के लिए सक्रिय हैं।

- क्षेत्रीय दबाव समूह विशिष्ट क्षेत्रीय मुद्दों और हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं। ये समूह केंद्र सरकार की नीतियों पर अपने क्षेत्रीय हितों की रक्षा के लिए दबाव डालते हैं। असम आंदोलन और गोरखा जनमुक्ति मोर्चा जैसे क्षेत्रीय संगठन अपने–अपने राज्यों के स्वायत्तता और विकास के लिए संघर्ष करते हैं।

- महिला संगठन महिलाओं के अधिकारों और समानता की रक्षा के लिए काम करते हैं। ये संगठन लैंगिक समानता, महिला सुरक्षा, और सामाजिक न्याय के मुद्दों पर सक्रिय रहते हैं। अखिल भारतीय महिला कांग्रेस और सेल्फ एम्प्लॉयड वूमेन एसोसिएशन (SEWA) जैसे संगठन महिलाओं की समस्याओं पर ध्यान केंद्रित करते हैं और सरकार पर दबाव बनाते हैं।

- विद्यार्थी और युवा संगठन छात्रों और युवाओं के हितों की रक्षा के लिए काम करते हैं। ये संगठन शिक्षा, रोजगार और सामाजिक न्याय जैसे मुद्दों पर ध्यान केंद्रित करते हैं। अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद (ABVP) और नेशनल स्टूडेंट्स यूनियन ऑफ इंडिया (NSUI) जैसे संगठन युवा शक्ति को संगठित कर उनके मुद्दों पर सरकार से संवाद करते हैं। भारतीय लोकतंत्र में दबाव समूह विभिन्न सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं। ये समूह सरकार की नीतियों और निर्णय प्रक्रिया पर प्रभाव डालने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

7.8 विदेशी लॉबीज की भूमिका

भारतीय दबाव समूहों के संदर्भ में विदेशी दबाव समूहों की भूमिका बढ़ती वैश्वीकरण, अंतर्राष्ट्रीय सहयोग और बहुपक्षीय संधियों के दौर में महत्वपूर्ण हो गई है। विदेशी दबाव समूह विशेष रूप से भारत में व्यापार, मानवाधिकार, पर्यावरण, स्वास्थ्य, और शिक्षा जैसे विभिन्न क्षेत्रों में कार्य करते हैं। ये समूह आमतौर पर गैर–लाभकारी संगठन होते हैं, जो भारत सरकार की नीतियों और समाज पर प्रभाव डालने की कोशिश करते हैं। इन समूहों के माध्यम से अंतर्राष्ट्रीय संगठन और अन्य देश, भारत की आंतरिक और बाहरी नीतियों पर परोक्ष रूप से असर डालते हैं।

विदेशी दबाव समूहों की भूमिका भारत के आर्थिक क्षेत्र में देखी जाती है। जैसे–जैसे भारत में आर्थिक

सुधार लागू हुए और विदेशी निवेश को बढ़ावा मिला, विदेशी कॉरपोरेट लॉबी या व्यापारिक समूहों का प्रभाव भी बढ़ा है। उदाहरण के लिए, अमेरिका और यूरोपीय संघ से जुड़े व्यापारिक संगठन भारत पर आर्थिक सुधारों को अपनाने और व्यापार के नियमों को उदार बनाने के लिए दबाव डालते हैं। यह समूह मुक्त व्यापार संधियों और निवेश के अवसरों के पक्ष में सरकार पर प्रभाव डालते हैं। ऐसे समूह, जैसे यूएस–इंडिया बिजनेस काउंसिल, अमेरिकी कंपनियों के हितों की सुरक्षा के लिए भारतीय व्यापार और निवेश नीतियों को प्रभावित करने का प्रयास करते हैं।

मानवाधिकार के क्षेत्र में विदेशी दबाव समूहों की भूमिका विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। एम्नेस्टी इंटरनेशनल, ह्यूमन राइट्स वॉच और इंटरनेशनल रेड क्रॉस जैसे संगठन मानवाधिकार उल्लंघनों की रिपोर्ट और समीक्षा करते हैं। ये संगठन भारतीय नीतियों पर नजर रखते हैं, विशेष रूप से जब कोई घटना मानवाधिकार उल्लंघन के रूप में देखी जाती है, जैसे कि कश्मीर विवाद, दलितों पर अत्याचार, या धार्मिक अल्पसंख्यकों के साथ भेदभाव। इस तरह के मुद्दों पर ये संगठन अपनी रिपोर्ट्स के जरिए अंतर्राष्ट्रीय ध्यान आकर्षित करते हैं और भारत की छवि को प्रभावित करते हैं। इस तरह का दबाव भारतीय सरकार के लिए संवेदनशील मुद्दों पर अंतर्राष्ट्रीय प्रतिक्रिया को बढ़ा सकता है और कभी–कभी नीतियों में बदलाव के लिए प्रेरित कर सकता है।

पर्यावरण संरक्षण के मुद्दे पर भी विदेशी दबाव समूह सक्रिय हैं। ग्रीनपीस इंटरनेशनल और WWF (वर्ल्ड वाइड फंड) जैसे अंतर्राष्ट्रीय पर्यावरणीय संगठन भारत में पर्यावरण संरक्षण की दिशा में कार्य कर रहे हैं। ये संगठन भारत में औद्योगिक गतिविधियों, ऊर्जा नीतियों, और वनों की कटाई के मुद्दों पर काम करते हैं। ये दबाव समूह भारतीय पर्यावरण नीतियों को प्रभावित करने की कोशिश करते हैं, खासकर जब भारत द्वारा कोयला और अन्य गैर–नवीकरणीय ऊर्जा स्रोतों का उपयोग बढ़ाया जाता है। ऐसे संगठनों का ध्यान भारतीय नीतियों के पर्यावरणीय प्रभावों पर होता है, और ये अक्सर सार्वजनिक रूप से विरोध या जागरूकता अभियानों के माध्यम से अपनी बातें सरकार तक पहुंचाते हैं। यह देखा गया है कि भारत में पर्यावरणीय कानून और नीतियों में बदलाव में भी इन दबाव समूहों का अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है।

स्वास्थ्य और सामाजिक कल्याण के क्षेत्र में विदेशी दबाव समूहों का प्रभाव तेजी से बढ़ रहा है। बिल एंड मेलिंडा गेट्स फाउंडेशन, यूनिसेफ, और वर्ल्ड हेल्थ ऑर्गनाइजेशन (WHO) जैसे संगठन भारत में स्वास्थ्य सेवाओं, विशेषकर टीकाकरण और जनसंख्या नियंत्रण के क्षेत्र में कार्य करते हैं। ये समूह सरकार की नीतियों पर प्रभाव डालते हैं, जैसे कि पोलियो उन्मूलन अभियान, कोविड–19 वैक्सीनेशन ड्राइव और अन्य सार्वजनिक स्वास्थ्य कार्यक्रम। ये दबाव समूह भारत सरकार के साथ मिलकर काम करते हैं और कभी–कभी नीतिगत बदलावों को प्रोत्साहित करते हैं ताकि भारत में स्वास्थ्य सेवाओं की गुणवत्ता में सुधार हो सके। इनका लक्ष्य है कि भारत में स्वास्थ्य के क्षेत्र में अंतर्राष्ट्रीय मानकों का पालन हो, और इसके लिए ये संगठन भारत में जागरूकता अभियानों और सरकारी भागीदारी के माध्यम से काम करते हैं।

शिक्षा के क्षेत्र में भी विदेशी दबाव समूहों की भूमिका महत्त्वपूर्ण हो गई है। उदाहरण के लिए, अंतर्राष्ट्रीय एनजीओ, जैसे सेव द चिल्ड्रेन और एजुकेशन इंटरनेशनल, भारत में शिक्षा नीति, बाल अधिकार, और विशेषकर बाल श्रम के उन्मूलन में सक्रिय हैं। ये संगठन शिक्षा और बाल कल्याण से जुड़े मुद्दों पर भारत सरकार के नीतिगत फैसलों को प्रभावित करने का प्रयास करते हैं। ये विदेशी संगठन बच्चों के अधिकारों की रक्षा के लिए काम करते हैं और भारत में शिक्षा की स्थिति में सुधार के लिए विभिन्न परियोजनाओं और सरकारी योजनाओं का समर्थन करते हैं। इसका उद्देश्य शिक्षा के माध्यम से सामाजिक परिवर्तन लाना होता है, और ये संगठन इसके लिए धन, तकनीकी सहायता और प्रशिक्षण कार्यक्रम उपलब्ध कराते हैं।

कुछ विदेशी दबाव समूह भारत की विदेश नीति पर भी असर डालने का प्रयास करते हैं। खासतौर पर चीन और पाकिस्तान जैसे पड़ोसी देशों से जुड़े मुद्दों पर, अंतर्राष्ट्रीय दबाव समूह और संगठनों का प्रभाव देखा जा सकता है। ये समूह कश्मीर विवाद, सीमा सुरक्षा, और भारत–चीन संबंधों जैसे मामलों पर अपनी राय रखते हैं। ऐसे समूह अंतर्राष्ट्रीय मंचों पर भारत की नीतियों की आलोचना करते हैं या समर्थन करते हैं, और यह भारत की विदेश नीति में भी ध्यान देने योग्य प्रभाव डाल सकता है।

अतः भारतीय राजनीति में विदेशी दबाव समूहों की भूमिका बढ़ते वैश्वीकरण के कारण अत्यधिक महत्वपूर्ण हो गई है। ये समूह अपनी विशेषज्ञता, संसाधनों, और अंतर्राष्ट्रीय नेटवर्क का उपयोग करके भारत में नीतिगत बदलाव की प्रक्रिया को प्रभावित करते हैं। हालांकि, भारतीय सरकार ने कई बार विदेशी दबाव समूहों

पर देश की आंतरिक नीतियों में अनावश्यक हस्तक्षेप का आरोप भी लगयाा है। भारतीय समाज में इन समूहों का प्रभाव सकारात्मक और नकारात्मक दोनों रूपों में देखा जाता है, क्योंकि यह समूह आर्थिक विकास, पर्यावरण संरक्षण, मानवाधिकार, और सामाजिक कल्याण में योगदान करते हैं, लेकिन कई बार इनके प्रभाव से देश के आंतरिक निर्णयों पर अनावश्यक हस्तक्षेप का खतरा भी बना रहता है।

7.9 भारतीय दबाव समूहों की विशेशताएं

प्रो. मायरन बीनर की रचना 'पॉलिटिक्स ऑफ स्कैरसिटी' भारत में दबाव राजनीति का विश्लेषण करने वाली प्रथम वैज्ञानिक रचना है। वीनर के बाद स्टेनली कोचनीक का ग्रन्थ 'बिजनेस एण्ड पॉलिटिक्स इन इण्डिया' भारतीय राजनीति में व्यापारियों के दबाव समूहों की भूमिका का सूक्ष्म अध्ययन प्रस्तुत करता है। वीनर तथा कोचनीक के निष्कर्षों के अनुसार भारत में दबाव व हित समूहों की निम्नलिखित विशेषताएं हैं–

1. भारतीय राजनीति में परम्परावादी दबाव समूह जैसे जाति, समुदाय, धर्म और प्रादेशिक गुट निर्णायक भूमिका अदा कर रहे हैं। अधिकांश राजनीतिक दल जाति और समुदाय के आधार पर ही अपने अनुयायियों को संगठित करते हैं। जातीय समुदाय आज भी भारत में राजनीति एवं दबाव समूह को प्रभावित करने वाले महत्वपूर्ण संगठन हैं।

2. अधिकांश समुदायात्मक दबाव समूहों पर राजनीतिक दलों का नियन्त्रण है। उनका नेतृत्व राजनीतिक दलों के हाथों में है और उन्हें दल के पीछे दलीय सत्ता कहा जा सकता है, किन्तु यह भी एक विचित्र सत्य है कि प्रमुख व्यापार–उद्योग हित समूह दलीय नियन्त्रण से स्वायत्त है।

3. स्वाधीनता प्राप्ति के तुरन्त बाद सार्वजनिक नीति के निर्माण में दबाव समूहों की सीमित भूमिका द्रष्टव्य है। इसके दो प्रकार थे– प्रथम, केन्द्र और राज्यों में शक्तिशाली राजनीतिक नेतृत्व था और द्वितीय, सरकार पर कांग्रेस दल का एकाधिकार था। जैसे–जैसे सशक्त नेतृत्व का ह्रास होता गया और कांग्रेस का एकाधिकार टूटता गया वैसे–वैसे राजनीति में दबाव गुटों का प्रभाव भी बढ़ता गय

4. विगत कुछ वर्षों में केन्द्रीय सरकार की नीतियों पर भारतीय संघ के राज्यों का भी प्रभाव पड़ने लगा है और राज्य संगठित दबाव डालने का प्रयास करने लगे हैं। राज्य लॉबीइंग के लिए अधिकारी रखते हैं जिससे वे संसद सदस्यों से प्रत्यक्ष सम्पर्क स्थापित कर सकें। संविधान के अनुच्छेद 262 तथा 263 के अन्तर्गत केन्द्रीय संसद को अन्तर्राज्यीय नदी–पानी विवाद तथा सीमा विवाद हल करने की शक्ति प्राप्त है और कई राज्यों के बीच ऐसे उग्रतर विवाद उलझे पड़े हैं। अतः दबाव और लॉबीइग की राजनीति द्वारा वे अपना हितवर्धन करने में लगे हैं। कावेरी जल विवाद पर कर्नाटक तथा तमिलनाडु की भूमिका इसका ताजा उदाहरण हैं। केन्द्र पर दबाव डालने के लिए दोनों राज्यों में बन्द आयोजित किये गये जो राज्य सरकारों द्वारा प्रेरित थे। अलमाटी बांध के मुद्दे पर मुख्यमन्त्री चन्द्रबाबू नायडू ने प्रधानमन्त्री देवगौड़ा को प्रभावित करने का हर तरीके से प्रयत्न किया।

5. जब राज्यों में संविद और गैर–कांग्रेसी सरकारे कार्यरत थी तो उन्होंने अपनी मांगों के समर्थन में केन्द्रीय सरकार के विरोध में दबाव गुटों को प्रेरित किया। ऐसी मागें जैसे अधिक विश्वविद्यालय, इस्पात कारखाने की स्थापना, तेल शोधन कारखाने की स्थापना, सार्वजनिक उद्यम की स्थापना, आदि के लिए जब कभी राज्यों में आन्दोलन हुए तो गैर–कांग्रेसी सरकारों ने आन्दोलनकारियों के प्रति सहानुभूति का रवैया अपनाया।

6. राजनीतिक दलों में विद्यमान संस्थागत दबाव समूह ने दलीय व्यवस्था को ही डांवाडोल करने की चेष्टा की है। सत्ताधारी और विपक्षी दलों में कार्यरत गुटों ने बहुमत सरकार की कार्य प्रणाली को ही चुनौती दी है।

7. विदेशी सहायता और विदेशी तकनीकी कर्ताओं पर निर्भर होने के कारण विदेशी लॉबी भी हमारी नीतियों को प्रभावित करने के लिए दबाव डालते हैं।

8. समुदायात्मक और प्रदर्शनकारी दबाव समूह हिंसा, जन–आन्दोलन, हड़ताल, अनशन और सत्याग्रह जैसे अवैधानिक साधनों का प्रयोग करते नहीं हिचकिचाते।

9. भारत में दबाव समूह मुख्यतया प्रशासकों को प्रभावित करने में लगे रहते हैं न कि नीति निर्माण को। गुटीय नेताओं का शायद यह विश्वास है कि महत्वपूर्ण सास्कृतिक और आर्थिक कार्यक्रम यहां तक कि रचनात्मक संस्थाओं और कला एवं विज्ञान दोनों के ही विकास और उन्नयन का कार्यभार नौकरशाही के हाथों में है।

10. भारत में आम धारणा दबाव समूहों की कार्य–पद्धति के प्रतिकूल है। यह अच्छा नहीं माना जाता कि हित समूह नीति निर्माताओं का मार्ग–दर्शन करें। ऐसा भी माना जाता है कि यदि एक बार सरकार दबाव गुटों के आगे झुक जाती है तो फिर कोई भी निर्णय सार्वजनिक हित में नहीं लिया जा सकता।

संभवतः यह कहा जा सकता है कि भारत में असमुदायात्मक दबाव गुट सर्वाधिक प्रभावशाली हैं और उनमें भी जाति' का प्रभाव सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। उसके बाद संस्थानात्मक दबाव समूहों ने राजनीति को प्रभावित किया है। समुदायात्मक दबाव समूहों में केवल फेडरेशन ऑफ इण्डियन चैम्बर्स ऑफ कॉमर्स आधुनिक दबाव समूह एण्ड इण्डस्ट्री को ही माना जा सकता है। भारतीय दबाव समूह के स्वरूप से यह धारणा गलत सिद्ध हो जाती है कि परम्परावादी समाज में आधुनिक दबाव समूह विकसित नहीं हो सकते। व्यापार–उद्योग हित समूह राजनीतिक दलों से सम्बद्ध नहीं हैं और उनकी तुलना पश्चिमी देशों में पाये जाने वाले दबाव समूह से की जा सकती है। भारत में परम्परावादी दबाव समूह अपने हितों की अभिव्यक्ति के लिए चुनाव और राजनीतिक दलों का प्रयोग करते हैं जबकि आधुनिक दबाव समूह मन्त्रिमण्डल और नौकरशाही को अपनी नवीनतम शोध से प्रभावित करते हैं। यदा–कदा प्रदर्शनकारी दबाव समूह भी सक्रिय हो जाते हैं। ऐसे गुट कभी–कभी राज–व्यवस्था के अस्तित्व के लिए खतरा उत्पन्न कर देते हैं।

7.10 दबाव समूहों की आलोचना

भारतीय दबाव समूह लोकतंत्र के आवश्यक घटक माने जाते हैं, जो विभिन्न सामाजिक, आर्थिक, और राजनीतिक वर्गों की आवाज़ को सरकार तक पहुँचाते हैं। इनके माध्यम से आम जनता के मुद्दों को राजनीतिक मंच पर लाया जाता है, ताकि सरकार समाज के विभिन्न वर्गों की आवश्यकताओं और समस्याओं को समझ सके। हालांकि, इन समूहों की भूमिका को लेकर कई बार आलोचना भी की जाती है, जो इनके कार्यों और प्रभावों पर सवाल खड़ा करती है। भारतीय दबाव समूहों की आलोचना विभिन्न दृष्टिकोणों से की जाती है, जिनमें भ्रष्टाचार, स्वार्थपूर्ण नीतियाँ, राजनीतिक अस्थिरता, और जनहित की अनदेखी जैसी चिंताएँ शामिल हैं। जिन्हें निम्नलिखित बिन्दुओं के माध्यम से देखा जा सकता है–

- एक प्रमुख आलोचना यह है कि कई दबाव समूह अक्सर केवल विशेष हितों की सेवा करते हैं। वे समाज के कुछ प्रभावशाली वर्गों द्वारा नियंत्रित होते हैं, जो अपनी विशेष आवश्यकताओं को आगे बढ़ाने के लिए दबाव समूहों का उपयोग करते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि व्यापक समाज की समस्याओं और मुद्दों पर ध्यान नहीं दिया जाता। उदाहरण के लिए, उद्योग और व्यापार से संबंधित दबाव समूह अक्सर उद्योगपतियों और व्यवसायियों के हितों को प्राथमिकता देते हैं, जबकि गरीब वर्गों और किसानों के मुद्दों को नजरअंदाज कर दिया जाता है। इससे असमानता को बढ़ावा मिलता है और सरकार पर विशेषाधिकार प्राप्त समूहों का नियंत्रण बढ़ता है, जो लोकतांत्रिक सिद्धांतों के विरुद्ध है।

- दबाव समूहों पर दूसरा प्रमुख आरोप यह है कि वे अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए भ्रष्टाचार और अनुचित तरीकों का सहारा लेते हैं। कई बार देखा गया है कि ये समूह सरकारी अधिकारियों और राजनेताओं को अपने पक्ष में लाने के लिए रिश्वत देने का सहारा लेते हैं। यह तरीका न केवल सरकारी तंत्र में भ्रष्टाचार को बढ़ावा देता है, बल्कि न्याय और निष्पक्षता के सिद्धांतों का भी उल्लंघन करता है। इस प्रकार के व्यवहार से लोकतंत्र की नींव कमजोर होती है और नीतिगत निर्णयों में पारदर्शिता का अभाव पैदा होता है। इन समूहों की भ्रष्ट गतिविधियाँ समाज में अविश्वास और असंतोष को जन्म देती हैं, जिससे लोकतंत्र पर नकारात्मक प्रभाव पड़ता है।

- दबाव समूहों की कार्यप्रणाली का एक अन्य महत्वपूर्ण नकारात्मक पहलू यह है कि वे अक्सर हिंसा और उग्र विरोध प्रदर्शनों का सहारा लेते हैं। कई बार, ये समूह अपनी मांगों को पूरा कराने के लिए सड़क पर उतरते हैं और बड़े पैमाने पर हड़ताल, धरना, और सार्वजनिक संपत्ति को नुकसान पहुँचाते हैं।

इसका परिणाम यह होता है कि आम जनता को परेशानी का सामना करना पड़ता है और प्रशासनिक व्यवस्था में अव्यवस्था फैलती है। उदाहरणस्वरूप, किसानों के विरोध प्रदर्शन के दौरान कई बार रेल और सड़क यातायात बाधित किया गया, जिससे आम जनजीवन पर नकारात्मक प्रभाव पड़ा। ऐसी गतिविधियों से जनता के मन में दबाव समूहों के प्रति नकारात्मक धारणा बनती है और उनके कार्यों को जनहित के बजाय व्यक्तिगत स्वार्थ से प्रेरित माना जाने लगता है।

- दबाव समूहों की आलोचना इस बात को लेकर भी की जाती है कि वे राजनीतिक अस्थिरता को बढ़ावा देते हैं। कई बार ये समूह अपने हितों के लिए सरकार के खिलाफ आंदोलन खड़ा करते हैं, जो राजनीतिक अस्थिरता को बढ़ावा देता है। यह स्थिति विशेष रूप से तब उत्पन्न होती है जब ये समूह किसी विशेष राजनीतिक दल या विचारधारा का समर्थन करते हैं और अपने विरोधियों के खिलाफ अनुचित तरीके से काम करते हैं। इस तरह के पक्षपाती दृष्टिकोण के कारण दबाव समूहों की कार्यप्रणाली पर सवाल खड़े होते हैं और लोकतंत्र के आदर्शों का उल्लंघन होता है।

- दबाव समूहों की एक और आलोचना यह है कि वे लोकतांत्रिक प्रक्रिया में हस्तक्षेप करते हैं और इसे विकृत कर देते हैं। चुनाव के समय, ये समूह राजनीतिक दलों पर दबाव डालते हैं कि वे अपने चुनावी घोषणापत्र में इनके मुद्दों को शामिल करें। इसके अलावा, ये समूह चुनाव प्रचार के दौरान धन और अन्य संसाधनों के माध्यम से राजनीतिक दलों का समर्थन करते हैं, जिससे राजनीतिक दल उनके प्रभाव में आ जाते हैं। इस तरह के हस्तक्षेप के कारण लोकतंत्र की स्वतंत्रता पर सवाल उठता है, क्योंकि इससे जनप्रतिनिधियों पर दबाव बनता है कि वे केवल कुछ विशेष समूहों के हित में काम करें, न कि समूचे समाज के हित में।

- दबाव समूहों पर यह भी आरोप लगयाा जाता है कि वे जनहित की अनदेखी करते हैं। चूँकि इन समूहों का मुख्य उद्देश्य केवल अपने समर्थकों के हितों की रक्षा करना होता है, वे समाज के अन्य वर्गों की समस्याओं को अक्सर नजरअंदाज कर देते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि व्यापक समाज के मुद्दों पर ध्यान नहीं दिया जाता और सरकार पर केवल कुछ विशेष समूहों का प्रभाव बढ़ता है। इससे समाज में असमानता बढ़ती है और विकास में असंतुलन पैदा होता है, जो समग्र रूप से राष्ट्रीय प्रगति में बाधा डालता है।

- दबाव समूहों की कार्यप्रणाली में पारदर्शिता का अभाव एक अन्य बड़ी चिंता का विषय है। इन समूहों के निर्णय और गतिविधियाँ अक्सर गुप्त तरीके से की जाती हैं, जिससे उनके कार्यों की जानकारी आम जनता को नहीं मिलती। यह पारदर्शिता की कमी लोकतांत्रिक आदर्शों के विपरीत है और इससे दबाव समूहों की नीयत पर सवाल खड़े होते हैं। लोगों को यह विश्वास नहीं हो पाता कि ये समूह वास्तव में जनहित में काम कर रहे हैं या केवल कुछ विशेष वर्गों के लाभ के लिए कार्यरत हैं।

- भारतीय दबाव समूहों की आलोचना यह भी की जाती है कि वे सरकारी कार्यों में अनावश्यक हस्तक्षेप करते हैं। कई बार ये समूह नीतिगत निर्णयों को प्रभावित करने के लिए सरकार पर अत्यधिक दबाव डालते हैं, जिससे सरकार की स्वतंत्रता और निर्णय क्षमता प्रभावित होती है। यह स्थिति तब और गंभीर हो जाती है जब ये समूह अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए किसी विशेष नीति का समर्थन या विरोध करते हैं, बिना यह सोचे कि इसका समग्र समाज पर क्या प्रभाव पड़ेगा। इसका परिणाम यह होता है कि सरकारी निर्णयों में स्वार्थपरता और पक्षपात का समावेश हो जाता है, जो जनता के हित में नहीं होता।

इन सभी आलोचनाओं के बावजूद, यह स्वीकार किया जाना चाहिए कि दबाव समूह भारतीय लोकतंत्र का अभिन्न हिस्सा हैं और उनके माध्यम से जनता की आवाज़ को सरकारी तंत्र में स्थान मिलता है। लेकिन, इन समूहों की कार्यप्रणाली में सुधार की आवश्यकता है ताकि वे अपनी भूमिका को प्रभावी ढंग से निभा सकें। लोकतंत्र की मजबूती और न्याय की स्थापना के लिए यह आवश्यक है कि दबाव समूह पारदर्शिता, निष्पक्षता और समाज के व्यापक हित में काम करें। इसके लिए एक प्रभावी विनियामक तंत्र की आवश्यकता है, जो दबाव समूहों की गतिविधियों पर नज़र रख सके और सुनिश्चित कर सके कि वे केवल जनहित में ही कार्यरत रहें।

7.11 सारांश

भारतीय दबाव समूह भारतीय लोकतंत्र का एक महत्वपूर्ण अंग बनते दिखाई पड़ रहे हैं जो विभिन्न सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक मुद्दों पर जनता की आवाज को सरकार तक पहुँचाने का कार्य करते हैं। ये समूह एक ऐसे पुल के रूप में काम करते हैं, जिसके माध्यम से विभिन्न वर्गों की आवश्यकताएँ और समस्याएँ राजनीतिक मंच पर आती हैं। लोकतंत्र में जनहित की रक्षा के लिए दबाव समूहों की सक्रिय भूमिका होती है, लेकिन साथ ही इनके कार्यों और प्रभावों की सीमाएँ और चुनौतियाँ भी हैं।

दबाव समूहों का उद्देश्य विभिन्न मुद्दों पर सरकार को जागरूक करना और उनके निर्णयों पर सकारात्मक प्रभाव डालना होता है, परंतु इसके साथ ही ये कई बार स्वार्थसिद्धि और पक्षपात में भी उलझ जाते हैं। भारत में कई दबाव समूह केवल विशेष हितों के लिए कार्य करते हैं, जो आम जनता के हितों की अनदेखी कर देते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि समाज के कुछ विशेष वर्गों को लाभ मिलता है, जबकि कमजोर वर्गों की समस्याएँ और मुद्दे हाशिये पर रह जाते हैं। ऐसे समूहों की भूमिका लोकतंत्र की मूल भावना के अनुरूप नहीं होती और इससे सामाजिक असमानता भी बढ़ती है।

भारतीय दबाव समूहों की सबसे बड़ी चुनौती यह है कि वे अक्सर भ्रष्टाचार और अनुचित तरीकों का सहारा लेते हैं। प्रभावी और मजबूत दबाव समूह सरकार पर अपने हितों को थोपने के लिए राजनेताओं और अधिकारियों को रिश्वत देने तक का सहारा लेते हैं। यह न केवल सरकारी तंत्र में भ्रष्टाचार को बढ़ावा देता है, बल्कि न्याय और निष्पक्षता के सिद्धांतों का भी उल्लंघन करता है। ऐसे में लोकतंत्र की नींव कमजोर होती है और जनप्रतिनिधियों पर दबाव समूहों का अनुचित नियंत्रण होता है, जो लोकतंत्र के आदर्शों के विपरीत है।

दबाव समूहों के कार्यों में हिंसा और उग्र प्रदर्शन भी कई बार देखने को मिलता है, जिससे सामाजिक और राजनीतिक अस्थिरता उत्पन्न होती है। इस प्रकार के गतिविधियों से सार्वजनिक संपत्ति का नुकसान होता है और आम जनजीवन प्रभावित होता है। कई बार ये समूह सरकार के कार्यों में अनावश्यक हस्तक्षेप भी करते हैं, जिससे प्रशासनिक कार्यों में बाधा उत्पन्न होती है और नीतिगत निर्णयों में पक्षपात का समावेश हो जाता है। भारतीय दबाव समूहों के सकारात्मक योगदान को नकारा नहीं जा सकता। इनके माध्यम से विभिन्न समूहों के अधिकारों और समस्याओं को उठाने का अवसर मिलता है। यह एक ऐसा मंच है, जहाँ से आम जनता की आवाज़ को सुना जा सकता है। दबाव समूहों के माध्यम से कई मुद्दों पर सरकार का ध्यान आकर्षित होता है, जो कि समाज के व्यापक हित में होता है। इससे शासन में पारदर्शिता और जवाबदेही का माहौल बनता है।

दबाव समूहों के प्रभावी और निष्पक्ष कार्य के लिए आवश्यक है कि इनकी कार्यप्रणाली में सुधार किया जाए। सरकार को इनके कार्यों पर निगरानी रखने के लिए एक नियामक तंत्र स्थापित करना चाहिए, जो सुनिश्चित करे कि ये समूह केवल जनहित में ही काम करें। लोकतंत्र की मजबूती के लिए यह भी जरूरी है कि ये समूह स्वार्थी न होकर समाज के व्यापक हितों के लिए काम करें। निष्कर्षतः, भारतीय दबाव समूह लोकतंत्र की एक महत्वपूर्ण संरचना हैं, परंतु इनके कार्यों में सुधार और पारदर्शिता की आवश्यकता है ताकि ये लोकतांत्रिक प्रक्रिया को सुदृढ़ बना सकें और समाज के सभी वर्गों के हितों की रक्षा कर सकें।

7.12 महत्वपूर्ण शब्दावली

दबाव समूह	ऐसे समूह जो समाज के विभिन्न वर्गों के हितों को बढ़ावा देने और उनकी समस्याओं को सरकार के समक्ष प्रस्तुत करने के लिए काम करते हैं, बिना सीधे तौर पर सत्ता में भागीदारी किए।
प्रभावी लॉबिंग	वह प्रक्रिया जिसमें दबाव समूह विधायिका, कार्यपालिका या न्यायपालिका को अपनी मांगों और हितों के अनुरूप निर्णय लेने के लिए प्रभावित करते हैं।
संबंधित हित	ये ऐसे समूह होते हैं जो विशेष आर्थिक, सामाजिक या सांस्कृतिक हितों को आगे बढ़ाने के लिए कार्य करते हैं, जैसे किसानों, व्यापारियों या औद्योगिक श्रमिकों के संगठन।

पक्षपातपूर्णता	यह वह स्थिति है जिसमें दबाव समूह केवल किसी विशेष पार्टी, वर्ग या विचारधारा का समर्थन करते हैं, बिना व्यापक हितों पर ध्यान दिए।
हित संरक्षण	यह दबाव समूहों का वह कार्य है जिसमें वे अपने सदस्य समूह के हितों की रक्षा और समर्थन करते हैं।
सामूहिकता	यह दृष्टिकोण दर्शाता है कि दबाव समूह समाज के विभिन्न वर्गों के हितों को एकत्रित कर एकजुटता से आवाज उठाते हैं।
संवैधानिक साधन	उन साधनों का उपयोग करना जो संविधान और कानून के अनुरूप होते हैं, जैसे रैलियां, प्रदर्शन और जनहित याचिकाएं, जो दबाव समूहों द्वारा अपनाए जाते हैं।
उदाहरणात्मक दबाव	वह तरीका जिसमें दबाव समूह किसी मुद्दे पर जनता का ध्यान आकर्षित करने के लिए प्रदर्शनों, रैलियों या हड़तालों का आयोजन करते हैं।
न्यायिक सक्रियता	जब दबाव समूह किसी मुद्दे पर निर्णय प्राप्त करने के लिए न्यायालयों में जनहित याचिकाएं दायर करते हैं और निर्णयों के माध्यम से सरकार पर दबाव बनाते हैं।
सहायक समूह	ऐसे समूह जो बड़े संगठनों या संघों का हिस्सा होते हैं और किसी विशेष मुद्दे पर बड़े समूह की नीति का समर्थन करते हैं।

7.13 महत्वपूर्ण बोध प्रश्न

1. भारतीय दबाव समूहों का प्रमुख उद्देश्य क्या होता है?

....

....

....

2. दबाव समूह और राजनीतिक दलों में मुख्य अंतर क्या हैं?

....

....

....

3. भारतीय दबाव समूह किन–किन प्रकार के होते हैं?

....

....

....

4. भारतीय संविधान के तहत दबाव समूहों की कार्यप्रणाली किस प्रकार से सीमित होती है?

....

....

....

5. न्यायिक सक्रियता का दबाव समूहों के संदर्भ में क्या महत्व है?

....

....

....

6. भारतीय राजनीति में दबाव समूहों के कार्यों और प्रभाव पर कौन–कौन से कारक प्रभाव डालते हैं?

....
....
....

7. दबाव समूह के प्रमुख साधन क्या हैं?

....
....
....

7.14 कुछ उपयोगी पुस्तकें

कोठारी, रजनी. *पोलिटिक्स इन इण्डिया,* ओरिएंट लॉन्गमैन, 1970.

मुखर्जी, निर्मला. *प्रेशर ग्रुप इन इण्डियन पोलिटिक्स,* स्टर्लिंग पब्लिशर्स, 1982.

फडिया, बी. एल. *इण्डियन गवर्नमेण्ट एण्ड पोलिटिक्स,* सहगल पब्लिशर्स, नवीनतम संस्करण.

ओमवेट, गैल. *सोशल मोवेमेन्ट एण्ड द स्टेट इन इण्डिया,* सेज पब्लिकेशन, 1994.

कश्यप, सुभाष. *इण्डियाज पोलिटिकल सिस्टम,* नेशनल बुक ट्रस्ट, 1993.

ब्रास, पॉल आर. *इण्डियन पोलिटिक्स एण्ड सोसाइटी सिंस इंडिपेंस,* कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, 1994.

शाह, घनश्याम. *सोशल मोवेमेंट इन इण्डिया,* Ist पब्लिकेशन, 2004.

ओबेरॉय, प्रताप. *पोटिकल प्रोसेस इन इण्डिया,* आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2001.

आहूजा, एम. एल. *प्रेशर ग्रूप्स एण्ड डेमोक्रेटिक प्रोसेस इन इण्डियां,* साहित्य प्रकाशन, 1997..

शर्मा, अनिल के. *रोल ऑफ प्रेशर ग्रूप्स इन इण्डियन पोलिटिक्स,* पॉपुलर प्रकाशन, 2008.

नायर, बालचंद्रन. *रिजनलिज्म एण्ड स्टेट पोलिटिक्स इन इण्डियां,* समृद्धि पब्लिकेशन, 2013.

लामा–रेइच, अलेक्जेंडर. *इन्टरेस्ट ग्रूप्स एण्ड डेमोक्रेटिसी इन इण्डिया,* रूटलेज, 2012.

पाई, सुधा. *दलित असरसन एण्ड द उनफिनिस्ट डेमोक्रेटिक रिवोलुशन इन इण्डियां.* सेज पब्लिकेशन, 2004.

वरुण, एन. पी. *इंटरेस्ट ग्रूप एण्ड पोलिटिकल रिप्रेजेंटेशन इन इण्डियां,* लेक्सिस नेक्सिस, 2015.

देसाई, आर. जी. *इण्डियन पोलिटिकल पार्टीज एण्ड प्रेशर ग्रूप्स,* कॉन्सेप्ट पब्लिशिंग कंपनी, 1988.

सिंह, महेंद्र प्रताप. प्रेशर ग्रूप्स इन *इण्डियन डेमोक्रेसी,* युनिवर्सिटी प्रकाशन, 1996.

कुमार, अजीत. *सोशल मोवेमेन्ट एण्ड पोलिटिकल प्रोसेस इन इण्डियां,* स्टर्लिंग पब्लिशर्स, 1991.

कुरी, डेविड. *इन्ट्रेस्ट ग्रूप्स पोलिटिक्स इन इण्डियां,* ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2001.

दुबे, योगेश. *द रोल ऑफ इन्ट्रेस्ट ग्रूप्स इन इण्डियन डेमोक्रेसी,* आलोक प्रकाशन, 2009.

कुलकर्णी, सुभाष. *सिविल* सोसाइटी *एण्ड स्टेट इन मॉडर्न इडियां,* सेज पब्लिकेशन, 2011.

यादव, योगेंद्र. *पोलिटिक्स एण्ड सोसाइटी इन इण्डियां,* ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2003

इकाई–08 जाति एवं भारतीय राजनीति

इकाई की रूपरेखा

8.0 उद्देश्य

8.1 प्रस्तावना

8.2 जाति का अर्थ

8.3 जाति के राजनीतिकरण की विशेषताएं

8.4 भारतीय राजनीति में जाति की भूमिका

8.5 सारांश

8.6 उपयोगी पुस्तकें

8.7 बोध प्रश्न

8.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन करने के पश्चात आप–

- ˎ भारत में जाति व्यवस्था के बारे में अध्ययन कर सकेगें।
- भारतीय राजनीति में जातिगत संगठनों के प्रभाव का अध्ययन कर सकेगें।

8.1 प्रस्तावना

जाति राजनीति में बहुत महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करती है। इसका प्रमाण कई अध्ययनों के पश्चात् देखने को मिलता है। राजनीतिक दल एवं जातिगत संगठन जाति के नाम पर लोगों को एकत्रित करते हैं। विगत कई वर्षो से भारतीय राजनीति दलित एवं अन्य पिछड़ी जाति की उपस्थिति से प्रभावित रही है। देश के अनेक राजनीतिक दलों की पहचान जातियों के आधार पर की जाती है। राजनीतिक दल सत्ता प्राप्त करने के लिए जाति का उपयोग करते हैं।

जाति प्रथा प्राचीन काल से हमारे समाज में किसी न किसी रूप में पायी जाती रही है। जाति प्रथा न केवल हमारे समाज का अंग रही है बल्कि यह सभी धर्मो से भी जुड़ी रही है्। प्राचीन काल से ही जाति के आधार पर समाज कई वर्गो में विभक्त था। प्रारम्भ में जाति प्रथा के बन्धन कठोर नहीं थे। परन्तु धीरे–धीरे उनमें कठोरता आती गयी और जाति के आधार पर श्रम का विभाजन होने लगा। राजनीति में प्रधान जाति की भूमिका का विश्लेषण किया जा सकता है। जाति की प्रधानता से न केवल राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से ही प्रभाव पड़ता बल्कि पूरी व्यवस्था ही प्रभावित होती है। राजनीतिक दल राष्ट्रीय हितों की अपेक्षा अपने जातिगत हितों को अधिक महत्व देने लगते हैं। जिससे पृथकतावाद की भावना जागृत होती है। राजनीति में जाति का हस्तक्षेप लोकतंत्र की धारणा के प्रतिकूल है।

8.2 जाति का अर्थ

जाति शब्द अंग्रेजी भाषा के 'कास्ट (cast)' का हिन्दी रुपान्तरण है। इसकी उत्पत्ति पुर्तगाली भाषा के शब्द casta से हुई है। जिसका तात्पर्य नस्ल, प्रजाति से है। जे0 एच0 हट्टन के अनुसार ''जाति एक ऐसी व्यवस्था है, जिसके अन्तर्गत एक समाज अनेक पृथक इकाईयों में विभाजित रहता है इसके बीच के पारस्परिक सम्बन्ध ऊँच–नीच के आधार पर निर्धारित होता है।

जाति प्रथा प्राचीन काल से हमारे समाज में किसी न किसी रूप में विद्यमान रही है। जाति प्रथा न केवल हमारे समाज का अंग रही है बल्कि यह सभी धर्मो से भी जुड़ी रही है, जाति का प्रभाव इस्लाम और ईसाई, हिन्दू, सभी धर्मों में पूरे विश्व में देखने को मिलता है। जाति प्रथा की उत्पत्ति वैदिक काल में हुई थी। प्राचीन काल में जाति के आधार पर समाज कई वर्गो में विभक्त था। जैसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, शुद्र, वैश्य जिसमें प्रत्येक वर्ग के कार्य निर्धारित थे जैसे ब्राह्म्ण धार्मिक कार्यो का संपादन करते थे। क्षत्रिय का कार्य देश की रक्षा करना था, वैश्य कृषि सम्बन्धि कार्य करता था तथ शुद्रों का कार्य सभी वर्णो की सेवा करना था। प्रारम्भ में जाति प्रथा के बन्धन कठोर नहीं थे। परन्तु धीरे–धीरे उनमें कठोरता आती गयी और जाति के आधार पर श्रम का विभाजन होने लगा।

प्रो. एस.एन. श्रीनिवास के मतानुसार, 'जाति एक वंशानुगत संगोत्रीय और स्थानीय समूह है, जिसका एक विशिष्ट व्यवसाय से पारम्परिक सम्बन्ध होता है। जातियों के स्थानीय पदसोपान में जिसका एक निश्चित स्थान होता है।

प्राचीन काल में भारतीय जाति व्यवस्था चार वर्णो में विभक्त थी। ब्राह्मण,क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र। ब्राह्मण वैदिक और धार्मिक कार्य करते थे, क्षत्रिय का कार्य देश की रक्षा करना और शासन प्रबन्ध करना था। वैश्य कृषि और वाणिज्य सभालते थे और शूद्र का कार्य सेवा करना था। सभी वर्णो में अनेक जातियाँ एवं उपजातियाँ होती हैं। भारत में जाति व्यवस्था में स्वतंत्रता के पश्चात 19वीं सदी के बीच काफी बदलाव हुए। क्योकि इस दौरान कई सामाजिक, धार्मिक आन्दोलन हुए थे, इन आन्दोलनों द्वारा काफी सामाजिक परिवर्तन एवं नये दृष्टिकोण विकसित हुए। स्वतन्त्रता के पश्चात् शहरीकरण, औद्योगिकीकरण, शिक्षा के बदलाव ने भी जाति व्यवस्था में परिवर्तन किये।

8.3 जाति के राजनीतिकरण की विशेषताएं

भारतीय राजनीति में जाति की बहुत अहम भूमिका है। राजनीतिज्ञ सदैव अपने लाभ के लिए जाति को अपने दायरे में बांधने का प्रयास करते हैं एवं सत्ता प्राप्त करने के लिए नेता जाति का प्रयोग करते हैं। जातिगत आधार पर संगठन का निर्माण किया जाता है। जाति के राजनीतिकरण की प्रमुख विशेषताएं निम्नवत् है–

- जाति व्यक्तियों को आपस में बांधने वाली कड़ी है।
- विभिन्न जातीय संघों और जातीय पंचायतों ने जातिगत राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं को बढ़ाया है।
- शिक्षा, शहरीकरण, औद्योगीकरण और आधुनिकीकरण से जातियां समाप्त नहीं हुई है बल्कि उनमें एकीकरण की प्रवृत्तियों को बल मिला है और उनकी राजनीतिक भूमिका में वृद्धि हुई है।
- राजनीति में प्रधान जाति की भूमिका का विश्लेषण किया जा सकता है। प्रधान जाति न केवल राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से ही शक्तिशाली होती है, बल्कि संख्या में भी गांव या इलाके में ज्यादा होती है। प्रधान जाति अपने संख्या बल के आधार पर गांव और क्षेत्र की स्थानीय संस्थाओं जैसे पंचायतों की राजनीति में सक्रिय होती है।
- ब्रिटिश शासन में भारत ने एक मजबूत प्रशासनिक व्यवस्था की नींव डाली थी।
- जाति की भूमिका राष्ट्रीय स्तर की राजनीति पर उतनी नहीं है जितनी स्थानीय और राज्य राजनीति की है।
- जाति और राजनीति के सम्बन्ध गतिशील है।
- भारत में राजनीति जाति के इर्द–गिर्द घूमती है।

8.4 भारतीय राजनीति में जाति की भूमिका

आज भारत देश विकासशील देशों में सर्वोच्चता के स्थान पर पहुँचकर विकसित देशों की श्रेणी में खड़ा है। भारतीय राजनीति में जातिवाद की अवधारणा गहराई से जमीं हुई है। परन्तु कहीं ऐसा न हो कि भारत

जाति संघर्ष में जुझने लगे और भारत की एकता–अखण्डता के समक्ष खतरा उत्पन्न हो जाय।

बाबू जगजीवनराम के शब्दों में, 'जाति भारतीय राजनीति की सर्वाधिक महत्वपूर्ण सत्यता है। एक सामान्य भारतीय अपना सब कुछ त्याग सकता है परन्तु वह जाति व्यवस्था में अपने विश्वास को तिलांजलि नहीं दे सकता है।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् संसदीय लोकतंत्र एवं आधुनिक संस्थाओं को अपनाने के साथ यह आशा व्यक्त की गई थी कि जाति की संकुचित मानसिकता और क्षेत्रीय प्रभाव कम होते जायेगें। परन्तु राजनैतिक परिवेश में जाति आधारित राजनैतिक दलों ने जाति विषयक अपीलों, गुटबन्दियों एवं तनावों ने चुनाव में जातीय घटक को परिधि में लाकर खड़ा कर दिया है।

जाति समूह की सदस्यता अनिवार्य होती है तथा व्यक्ति को इनके प्रतिपूर्ण प्रतिबद्धता का निर्वाह करना पड़ता है। **प्रसिद्ध अमरीकी समाजशास्त्री लॉयड रूडॉल्फ** का मत है कि भारतीय समाज से जाति व्यवस्था का उन्मूलन नहीं किया जा सकता है भले ही जाति का स्वरूप परिवर्तित होता रहे। इस प्रकार परिवर्तन की प्रक्रिया को 'परम्पराओं की आधुनिकता' कहकर संबोधित किया गया है। राजनीति एक प्रतियोगितात्मक कार्य है। इसका उद्देश्य कुछ निश्चित उद्देश्यों की पूर्ति के निमित्त राजनीतिक सत्ता को प्राप्त करना अथवा पूर्व से प्राप्त सत्ता पर वर्चस्व बनाए रखना होता है ताकि समाज के विभिन्न वर्गो के सहयोग द्वारा राजनीतिक शक्ति को सुनियोजित किया जा सके। एक ऐसे समाज में जिसमें राजनैतिक समानता का सिद्धान्त मान्य हो और सरकार का निर्माण तथा परिवर्तन बहुमत की इच्छा पर निर्भर हो।

जाति तथा भारतीय राजनीति के मध्य अभिन्न सम्बन्ध है। सामाजिक संरचना में जाति संगठनात्मक संरचना में महत्वपूर्ण इकाई है जिसमें व्यक्ति स्वेच्छा से रहना चाहता है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत की राजनीतिक संरचना में व्यापक परिवर्तन हुआ। वयस्क मताधिकार द्वारा प्रत्येक नागरिक को धर्म, वंश, जाति आदि भेदभाव के बिना राजनीतिक प्रक्रिया में भाग लेने का अवसर प्रदान किया गया है। फलतः समाज में प्रचलित जातीय बंधन शिथिल हुए। प्रत्येक जाति समूह ने अनुभव किया कि राजनीतिक सत्ता प्राप्त करने, हित संरक्षित रखने तथा सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त करने हेतु राजनीति के मूल्यों को अपनाया जा सके।

समाज के सभी वर्गो तथा जाति समूहों ने राजनीति में प्रवेश किया और सफलता के लिए उदारता तथा सहिष्णुता का भाव प्रकट किया क्योंकि इसके अभाव में सफलता संभव नहीं थी। विगत कई दशकों में भारतीय राजनीतिक पहचान का तीव्रता से विस्तार हुआ। विभिन्न जातियों में प्रदेशों तथा केन्द्र में राजनीतिक प्रक्रिया में निर्णायक भूमिका का निर्वाह किया है।

प्रो0 एस.एम. सईद के अनुसार भारत के विभिन्न राज्यों में जाति और राजनीति के मध्य अन्तःक्रिया के चार स्वरूप विकसित हुए–**पहला** दक्षिण भारत में मुख्यतः तमिलनाडु में दिखायी देता है जहाँ ब्राह्मण और गैर–ब्राह्मण के मध्य संघर्ष की पुरानी परम्परा है। **द्वितीय** स्वरूप में महाराष्ट्र की थी जिसमें मराठा एवं ब्राह्मण संघर्ष चलता रहा था। **तृतीय** स्वरूप में गुजरात, आन्ध्र प्रदेश तथा कर्नाटक राज्यों में मध्यम वर्गीय जातियां संघर्षरत थी। **चतुर्थ** स्वरूप में बिहार, राजस्थान, उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश राज्यों में दिखायी देता है जहाँ ब्राह्मण, क्षत्रिय राजनीतिक शक्ति के धारक है।

सन् 1967 के आम चुनाव में जाति का तेजी से राजनीतिकरण हुआ जिससे कांग्रेस की छवि को आघात हुआ जिसके बाद कांग्रेस ने रणनीति में परिवर्तन करके दलितों, मुस्लिमों, ब्राह्मणों का विश्वास जुटाने का प्रयास किया।

राजनीतिक दृष्टि से जाति का प्रभाव तीव्रतर होता जा रहा है। विभिन्न मामलों में नेताओं ने जान–बूझकर जाति को महत्वपूर्ण बना दिया हैं। चुनावों में जाति की राजनीतिक शक्ति को घृणित राजनीति का माध्यम बना दिया। इस जातीय संघर्ष में राजनीति में हिंसा का प्रवेश हो गया।

देश की राजनीति में जाति की संकुचित धारणा को अधिक महत्व नहीं दिया जाना चाहिए। **प्रो. रजनी कोठारी** का मत है कि भारत में जाति का राजनीतिकरण हो रहा है। लेकिन सामाजिक प्रक्रिया में जाति का महत्व घट रहा है। जबकि राजनीतिक दल और राजनेता इसे हवा देने में लगे रहते हैं।

लोकनायक जयप्रकाश नारायण के अनुसार भारत में जाति प्रमुख राजनैतिक दल है। प्रत्येक नागरिक

अपने जातीय हितों के लिए राष्ट्रीय एवं नैतिक जीवन मूल्यों की अवहेलना करता है। राष्ट्र के जन–जन में परस्पर विरोध के स्थान पर सामाजिक समरसता का सुखद परिवेश निर्मित करना चाहिए।

पंडित जवाहर लाल नेहरू ने कहा था कि दुनिया में दूसरे मुल्क जहाँ आगे बढ़ रहे है वहाँ हम मानसिक गुलामी के शिकार बने हुए है जिसके कारण हमारे जीवन की गति रूक गई है ओर हम दकियानूसी बन गये है। आज जातिवाद भारतीय राजनीति का केन्द्रीय सवाल है। राजनीतिक दल जाति के आधार पर वोट बटोरने की कोशिश में लगे रहते है।

जयप्रकाश नारायण ने एक बार कहा था कि 'जाति भारत में अत्यधिक महत्वपूर्ण दल है।' हेरल्ड गोल्ड के शब्दों में राजनीति का आधार होने की बजाय जाति उसको प्रभावित करने वाल एक तत्व है।

भारतीय राजनीति में जाति की भूमिका को कुछ अन्य बातों के आधार पर भी समझा जा सकता है, **जैसे**–

1. भारत में जातियां संगठित होकर राजनीतिक और प्रशासनिक निर्णय की प्रक्रिया को प्रभावित करती है।
2. भारत में सभी राजनीतिक दल अपने प्रत्याशियों का चयन करते समय जातिगत आधार पर निर्णय लेते है। प्रत्येक दल किसी भी चुनाव क्षेत्र में प्रत्याशी मनोनीत करते समय जातिगत गणित का अवश्य विश्लेषण करते है।
3. भारत में चुनाव अभियान में जातिवाद को राजनीतिज्ञ साधन के रूप में अपनाते है प्रत्याशी जिस निर्वाचन क्षेत्र में चुनाव लड़ रहा है उस निर्वाचन क्षेत्र में जातिवाद की भावना को प्रायः उकसाया जाता है ताकि सम्बन्धित प्रत्याशी को जाति के मतदाताओं का पूर्ण समर्थन प्राप्त किया जा सके।
4. जातीयता का सिद्धान्त इतना गहरा हो गया है कि राज्यों के मन्त्रिमण्डल में प्रत्येक प्रमुख जाति का मन्त्री होना चाहिए। यह सिद्धान्त प्रान्तों की राजधानियों से ग्राम पंचायतों तक स्वीकृत हो गया है।
5. मेयर के अनुसार, जातीय संगठन राजनीतिक महत्व के दबाव समूह के रूप में प्रवृत्त है।
6. लोकसभा और विधानसभाओं के लिए जातिगत आरक्षण की व्यवस्था प्रचलित है।
7. माईकेल ब्रेचर के अनुसार अखिल भारतीय राजनीति की अपेक्षा राज्य स्तर की राजनीति पर जातिवाद का प्रभाव अधिक दिखायी देता है।

8.5 सारांश

जाति वर्तमान में नये रुप में दिखायी देती है। अब जातीय आधार पर संगठनों का गठन हो रहा है। ये संगठन सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक मुद्दों पर अपने जातीय हितों को उठाते हैं। सामान्यतः यह उस पार्टी का समर्थन करते हैं जो उनके जातीय हितों को उठाते हैं। विभिन्न जातीय संगठनों के आधार पर पार्टियों का गठन भी होता है। उनके हितों को राजनीतिक मंच पर उठा सके जिससे वे समस्याओ को राजनीतिक मंच पर उठा सकें। भारतीय राजनीति में जाति प्राचीन काल से लेकर आज तक अहम् भूमिका का निर्वाह करती आयी है। जाति व्यवस्था ने हमारे समाज देश में एकीकरण के मार्ग में सदैव बाधा ही उत्पन्न की है। आज हमारे देश के विकास, औद्योगीकरण, आधुनिकीकरण की दिशा में जाति मार्ग में बाधक मानी जाती है। इससे लोगों में एकीकरण में स्थान पर पृथकतावाद की भावना जाग्रत होती है। जब राजनीति में राष्ट्रीय हितों के स्थान पर जातिगत हितो को अधिक महत्व दिया जाने लगता है तब राजनीतिक एकता खण्डित होने लगती है।

अमरीकी लेखक रूडोल्फ एण्ड रूडोल्फ का मत है कि जाति व्यवस्था ने जातियों के राजनीतिकरण में सहयोग देकर परम्परावादी व्यवस्था को आधुनिकता में ढालने के सांचे का कार्य किया है। अपने परिवर्तित रूप में जाति व्यवस्था ने भारत में कृषक समाज में लोकतन्त्र की सफलता तथा भारतीयों की आपसी दूरी कम करके उन्हे अधिक समान बनाकर समानता के विकास में सहायता की है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि जाति यद्यपि आधुनिकीकरण के मार्ग में बाधक न हो फिर भी यह लोकतन्त्र के अनुकूल नही है और जाति व्यवस्था देश, समाज, राजनीति के लिए बाधक है। यह राष्ट्रीय एकता के लिए भी यह एक बाधक तत्व है।

8.6 उपयोगी पुस्तकें

1. भारतीय राजनीति की प्रवृत्तियाँ–डॉ महावीर प्रसाद मोदी, डॉ सरोज मोदी
2. भारतीय राजनीति के नये आयाम–श्रीमती राजेश जैन डालचन्द जैन
3. भारतीय शासन एवं राजनीति–डॉ0 पुखराज जैन एवं डॉ बी.एल. फड़िया
4. India's Democracy Caste in Modern IndiaAnd other Essays 1962
5. The Modernity of Traditions 1969.
6. Caste in Indian PoliticsAnd Politics in India 1970.

8.7 बोध प्रश्न

(क) दीर्घ उत्तरीय प्रश्न–

1. भारतीय राजनीति में जाति की भूमिका स्पष्ट कीजिए।
2. भारतीय समाज में जाति की राजनीति के प्रभाव का वर्णन कीजिए।
3. जाति प्रथा के दुष्परिणामों का वर्णन कीजिए।

(ख) लघु उत्तरीय प्रश्न–

1. जाति से आप क्या समझतें हैं?
2. भारतीय राजनीति में जाति के राजनीतिकरण की विशेषताएं बताइए।

इकाई–9 भारतीय राजनीति पर सम्प्रदायिकता एवं धर्म का प्रभाव

इकाई की रुप रेखा

9.0 उद्देश्य

9.1 प्रस्तावना

9.2 साम्प्रदायिकता की अवधारणा

9.3 भारतीय राजनीति पर साम्प्रदायिकता एवं धर्म की पृष्ठभूमि

9.4 इस्लामिक साम्प्रदायवाद

9.5 हिन्दू साम्प्रदायवाद

9.6 इसाई साम्प्रदायवाद

9.7 सिख साम्प्रदायवाद

9.8 बोध प्रश्न

9.9 संदर्भ सूची

9.0 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य भारत की राजनीति में साम्प्रदायिकता एवं धर्म के प्रभाव को स्पष्ट करना है। इसके साथ साम्प्रदायिकता की अवधारणा, राजनीति में धर्म के सकारात्मकता और नकारात्मक प्रभाव जैसे विषयों को समझ सकेंगे।

9.1 प्रस्तावना

भारतीय राजनीति में साम्प्रदायिकता के विस्तार और उसके उपरान्त होने वाली हिंसा आंतरिक सुरक्षा के समक्ष चुनौती बन जाती है। साम्प्रदायिकता का विकृत रुप तब और भयानक हो जाता है जब राजनेता अपनी राजनीति को धर्म के माध्यम से चलाने के आड़ में लोगों के मन में असुरक्षा की भावना उत्पन्न कर देते हैं। राजनीति में साम्प्रदायिकता वस्तुतः स्वार्थ की उपज है। भारत जैसे हिन्दू धर्म, मुस्लिम, सिक्ख, जैन, इसाई धर्म आदि। इस प्रकार के विविधता मुक्त देश में सम्प्रादायिक सौहार्द को असुरक्षा, वंचना, द्वेष आदि आधारों के माध्यम से कई बार चुनौती मिलती है। भारत के संविधान निर्माताओं ने धार्मिक स्वतंत्रता को अत्यधिक महत्व दिया। धार्मिक स्वतंत्रता को मूल अधिकार में सम्मिलित किया गया है। इसी प्रकार संविधान में बयालिसवें संविधान संशोधन 1976 के माध्यम से 'पंथ निरपेक्षता' शब्द को जोड़ा गया। भारत में सदैव से सर्वधर्म समभाव को सराहा है।

9.2 सामप्रदायिकता की अवधारणा

भारत बहुधर्मी समाज होने के बावजूद साम्प्रदायिकता के मजबूत इतिहास से दूर रहा है। भारत का इतिहास प्राचीन काल से 'सर्व धर्म समभाव' जैसे आदर्शो से पोषित रहा है। 'जियो और जीने दो' की विचारधारा से समाज में शान्तिपूर्ण सह अस्तित्व के साथ रहने का वातावरण निर्मित होता है।

भारत में मध्यकाल के दौरान कुछ समप्रदायवाद के उल्लेख मिलते है जैसे धार्मिक प्रतीकों और धार्मिक स्थलों का विनाश करना, बलपूर्वक धर्मांतरण। इन घटनाओं के उपरान्त भी साम्प्रदायिकता सभी जीवनशैली में समाहित नहीं हुई।

अंग्रेजों की फूट डालो और राज करो की नीति भारत में साम्प्रदायिकता को बढ़ाने में प्रमुख कारण रहा है। अंग्रेजों की विभाजनकारी नीतियों का प्रभाव मुस्लिम सम्प्रदायवाद का प्रारम्भ देखा जा सकता है।

साम्प्रदायिकता से तात्पर्य उस सीमित मनोवृत्ति से है, जिसमें संप्रदाय और धर्म के माध्यम से

सामुदायिक हितों की उपेक्षा करते हुए व्यक्तिगत हितों को पोषित किया जाता है। साम्प्रदायिकता की विचारधारा से व्यक्ति कई बार राजनीतिक हितों को पूरा करने का प्रयास करता है जिसके परिणामस्वरुप साम्प्रदायिक हिंसा की घटनाएं होती हैं। कई बार राजनीतिक दल समुदाय के उत्थान और शोषण से मुक्ति के लिए भी साम्प्रदायिकता के आधार पर प्रयास करते हैं।

9.3 भारतीय राजनीति पर साम्प्रदायिकता एवं धर्म की पृष्ठभूमि

प्राचीनकाल से ही भारत विविध संस्कृति, भाषा, लिपि जैसी विविधताओं से मुक्त था। इसके उपरान्त भी भारत में साम्प्रदायिकता के आधार पर हिंसा, उन्माद जैसी घटनाओं का विवरण का अभाव प्रतीत होता है।

भारत में साम्प्रदायिकता के आधार पर घटनाओं का होना औपनिवेशिक शासन काल के कुछ पहले से देखा जा सकता है, जब औरंगजेब के शासनकाल में मंदिर का विध्वंस, धर्मांतरण, सिक्ख गुरुओं पर अत्याचार एवं सिक्खों की हत्या जैसी घटनाएं साम्प्रदायिकता के आधार पर की गयी।

9.5 इस्लामिक सम्प्रदायवाद

भारत में इस्लामिक साम्प्रदायवाद की पृष्ठभूमि अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय की स्थापना के समय देखा जा सकता है। सर सैय्यद अहमद खान उन्नीसवीं सदी के अग्रणी शिक्षाविद् से जिन्होंने मुसलमानों के हितों की पूर्ति के लिए साम्प्रदाय एवं धर्म का सहारा लिया।

स्वदेशी आन्दोलन के काल में मुस्लिम लीग की स्थापना से भारत में इस्लामिक साम्प्रदायवाद को बढ़ावा मिला जिसकी परिणति धार्मिक आधार पर मुस्लिम लीग द्वारा अलग राज्य के रूप में मांग के संदर्भ से समझी जा सकती है। अक्टूबर 1946 में मुस्लिम लीग ने 'सीधी कार्यवाही दिवस' का आह्वान किया। जिसके कारण देश में साम्प्रदायिक हिंसा प्रारम्भ हुई। इस साम्प्रादायिक हिंसा में हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख सभी धर्मो के लोग प्रभावित हुए।

डेविड मैन्डल बॉग ने राजस्थान में साम्प्रदायिकता के कारण एक घटना को उल्लिखित किया है। जिसके अनुसार मेल क्षत्रिय सोलहवीं शताब्दी में इस्लाम में धर्मांतरण किए गए। मेंडल बॉम के शब्दों में ''जो 400 वर्षो में नहीं हुआ वो चार वर्षो में हो गया'' नुरुल हसन के शब्दों में ''भारत आगे बढ़ता गया और मुसलमान पिछड़ते गए''। ब्रिटिश शासन काल के दौरान जो उसमें मुसलमानों का विकास कम हो पाया। इसी आधार पर उपरोक्त कथन का वर्णन नुरुल हसन ने किया था।

मुस्लिम धर्मशास्त्री, मुफ्ती, मौलवीय आदि द्वारा इस्लाम तथा मुसलमानों के विरुद्ध घटनाओं पर प्रतिक्रिया को कई बार साम्प्रदायिकता के रूप में देखा जाता है।

9.6 हिन्दू सम्प्रदायवाद

हिन्दू एक सनातन धर्म है जिसमें बहुदेववाद की परम्परा है तथा जो सर्वधर्म समभाव पर आधारित है। इसकी संरचना एवं विचारधारा ही ''गैर साम्प्रदायवादी है''। आधुनिक भारत के इतिहास में हिन्दू साम्प्रदायवाद का प्रारम्भ 1905 मे स्वदेशी आन्दोलन के दौरान राष्ट्रवाद को बढ़ाने के दौरान दृष्टिगत होता है। राजनीतिक विद्धान बाल गंगाधर तिलक द्वारा गणेश पूजा को आधार के रूप में देखते हैं। इस काल में धार्मिक प्रतीकों एवं चिन्हों का प्रयोग किया जाता है।

मुस्लिम ध्रुवीकरण के काल में ही राष्ट्रीय स्वंय सेवक संघ की स्थापना की गयी जिसका उद्देश्य हिन्दू, हिन्दी तथा हिन्दूस्तान को मजबूत करना और सांस्कृतिक राष्ट्रवाद को आगे बढ़ाने के साथ स्थापित करना था। राष्ट्रीय स्वंय सेवक संघ के कार्यक्रमों में इतिहास सुधार, मुस्लिम तुष्टिकरण की नीति का विरोध, समान नागरिक संहिता को लागू करना, गो हत्या पर प्रतिबंध जैसे विषय शामिल हैं। भारत की प्रमुख राजनीतिक पार्टी भारतीय जनता पार्टी पर राष्ट्रीय सेवक संघ की विचाराधारा का गहरा प्रभाव है।

9.7 इसाई सम्प्रदायवाद

ब्रिटिश औपनिवेशिक शासनकाल के समान ईसाई मिशनिरियां देश में सक्रिय हुई जो विशेषकर गोवा,

केरल, मिजोरम, नागालैण्ड, मेघालय, झारखण्ड, छत्तीसगढ़, मध्य प्रदेश में बड़ी संख्या में थी।

हिन्दू संगठन इन मिशनरियों पर एम–3 यानि मनी, मेडिसिन और मिरेकल का उपयोग कर जनजातियो को धर्मांतरण करने का आरोप लगाते हैं। धर्मातरण के मुद्दे पर कई बार हिन्दू–इसाई साम्प्रदायिक दंगे हो चुके हैं जिसमें मीनाक्षीपुरम (तमिलनाडु), झाबुआ (मध्य प्रदेश), डांग (गुजरात), मनोहरपुर (उड़ीसा), जयपुर इसाई साम्प्रदायवाद, नागालैण्ड में अलगाववाद के रूप में उभरकर सामने आया।

9.8 सिख सम्प्रदायवाद

स्वतंत्रता आन्दोलन के समय कुछ सिक्ख साम्प्रदायवादियों ने सिक्खों के लिए अलग देश की मांग 1940 के दशक में रखी। स्वतंत्रता सेनानियों की सूझ–बूझ से सिक्खों की इस मांग को लोकप्रियता नहीं मिली। स्वतंत्रता के उपरान्त हरियाणा के गठन में उपरान्त सिक्ख पृथकतावाद के उभरने का वर्णन मिलता है। मास्टर तारा सिंह ने स्वतंत्र खालिस्तान की मांग की तथा राज करेगा खालसा का नारा दिया। 1970 के दशक में यह आन्दोलन अपने चरम पर पहुँच गया और अन्ततः 1983 में इस अलगाववादी आन्दोलन को रोकने के लिए आपरेशन ब्लू स्टार चलाया गया जिसके प्रतिशोध में तत्कालीन प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी की उनके अंगरक्षक ने हत्या कर दी और इसकी प्रतिक्रिया में पूरे भारत में सिक्ख विरोधी दंगे शुरु हो गए।

भारत में कई धर्म है जिसको मानने वाले लोगों की संख्या बहुत ज्यादा है। लोगों की धार्मिक भावनाएं, धार्मिक कृत्य भारतीय राजनीति को भी प्रभावित करती है। राजनीति में धर्म का प्रभाव सकारात्मक एवं नकारात्मक अर्थ में देख सकते हैं। सकरात्मक अर्थ में देश की एकता को बढ़ाने के लिए किया जाना चाहिए। राजनीति में धर्म के सकरात्मक प्रभाव को धर्मो के मध्य संवाद और सद्भाव को विकसित करने, अल्पसंख्यको के अधिकारों की रक्षा करने, धर्मनिरपेक्षता को बढ़ाने, सहिष्णुता को बढ़ाने जैसे विषयों में देखा जाता है। भारत में धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार एक मूल अधिकार है जिसके अन्तर्गत–

अनुच्छेद 25 अंतःकरण के और धर्म की अबाधरुप से मानने, आचरण और प्रचार करने की स्वतंत्रता

अनुच्छेद 26 धार्मिक कार्यो के प्रबन्ध की स्वतंत्रता

अनुच्छेद 27 किसी विशिष्ट धर्म की अभिवृद्धि के लिए करों के संवास के बारे में स्वतंत्रता

अनुच्छेद 28 कुछ शिक्षा संस्थानों में धार्मिक शिक्षा या धार्मिक उपासना में उपस्थित होने के बारे में स्वतंत्रता

भारतीय राजनीति में साम्प्रदायिकता से सम्बन्धित विशयों के समाधान के लिए अपनाए गए प्रमुख उपाय

समाज में विभिन्न धर्मो को मानने वालों के बीच संवाद और सद्भाव के लिए शिक्षा, कला, खेल, त्योहारों में मिलन जैसे उपायों को अपनाया जाना चाहिए।

सूचना एवं मीडिया क्रांति के युग में सनसनीखेज घटनाओं, साम्प्रदायिक सौहार्द्र बिगाड़ने वाले विषयों को रोकना चाहिए।

धर्म एवं सम्प्रदाय के आधार पर वोट बैंक की राजनीति करने वाले राजनेताओं को ऐसा करने से रोका जाना चाहिए।

समाज में आर्थिक विषमता को दूर करने और गरिमामय वातावरण में काम करने का वातावरण सरकार और निजी प्रतिष्ठानों द्वारा प्रयास करना चाहिए।

साम्प्रादयिकता के प्रभाव से भारत में स्वतंत्रता के उपरान्त कई घटनाओं को देखा गया है। जिसमें देश का विभाजन (1947 में), प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी की हत्या के उपरान्त सिक्ख विरोधी दंगे, बाबरी मस्जिद का विध्वंस, गोधरा कांड के उपरान्त गुजरात दंगे, मुजफ्फरनगर में 2013 में दंगे, 2020 में राजधानी में दंगे, स्वतंत्र भारत के इतिहास की प्रमुख घटनाएं हैं जिसका कारण साम्प्रदायिकता से सम्बन्धित है।

साम्प्रदायिकता समाज में एक ऐसा वातावरण निर्मित कर देती है जिसके कारण सामाजिक सौहार्द्र बिगड़ता है और हिंसा एवं विभाजन जैसी घटनाओं को फलने–फूलने का अवसर मिल जाता है। यह देश की एकता–अखण्डता के समक्ष आंतरिक चुनौती के रूप में उभरकर सामने आता है।

साम्प्रदायिकता जैसी बृहद चुनौतियों के समाधान के लिए कई उपाय किये जाते हैं जैसे—

- कानून एवं व्यवस्था को अच्छी तरह से लागू कराकर।
- वर्तमान में उपलब्ध कानूनों में जरूरी संशोधन के साथ कानून को न्यायोचित तरीके से लागू किया जाना चाहिए।
- पुलिस, स्वंयसेवी संगठनों आदि को साम्प्रदायिक हिंसा को रोकने के लिए विशेष प्रशिक्षण दिया जा सकता है।
- शिक्षा के प्रचार—प्रसार एवं बेरोजगारी की समस्या भी साम्प्रदायिक हिंसा को रोकने में बड़ी हिंसा निभाती है।
- भारत में साम्प्रदायिक हिंसा को रोकने के लिए राजनेताओं को भाषणों, राजनीतिक वक्तव्य आदि को सावधानी से देना चाहिए।

इस प्रकार सम्प्रदायवाद, धर्म, क्षेत्रवाद आदि के आधार पर होने वाली घटनाओं को रोकने के लिए समस्त लोगों को एकजुट होकर सर्वधर्म समभाव एवं वसुधैव कुटुम्बकम की विचारधारा के साथ आगे बढ़ना चाहिए।

9.8 बोध प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न—1 राजनीति में साम्प्रदायिकता राष्ट्र के एकता एवं अखण्डता को किस प्रकार प्रभावित करती है?

प्रश्न—2 क्या भारतीय राजनीति में साम्प्रदायिकता सदैव से रही है?

प्रश्न—3 स्वतंत्र भारत में धर्म एवं साम्प्रदायिकता किस प्रकार भारतीय राजनीति को प्रभावित कर रहे हैं?

लघु उत्तरीय प्रश्न—

प्रश्न—4 साम्प्रदायिकता की अवधारणा को स्पष्ट करें?

प्रश्न—5 भारत में साम्प्रदायिकता से संबंधित मुद्दों के समाधान के लिए क्या कदम उठाए गए हैं?

9.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. जैन, पुखराज व फड़िया बी0एल0— भारतीय शासन एवं राजनीति, साहित्य भवन प्रकाशन, 2020।
2. अग्रवाल, आर0सी0—भारतीय संविधान का विकास तथा राष्ट्रीय आन्दोलन, एस0 चंद प्रकाशन, 2011
3. Chandra, Bipin, IdeologyAnd Politics in Modern India, HarAnand Publications, Delhi, 1994
4. Singh, V.V. Communal Riots, Rawat Publication, Jaipur
5. Hasan, Mushirul, NationalismAnd communal politics in India, Manohar publications, New Delhi.

इकाई–10 भारतीय राजनीति में क्षेत्रवाद

इकाई की रुपरेखा

10.0 उद्देश्य

10.1 प्रस्तावना

10.2 क्षेत्रवाद का अर्थ

.10.3 भारतीय राजनीति में क्षेत्रवाद बढ़ने के कारण

10.4 भारतीय राजनीति में क्षेत्रवाद के स्वरुप

10.5 भारतीय राजनीति में क्षेत्रवाद का सकारात्मक प्रभाव

10.6 भारतीय राजनीति में क्षेत्रवाद का नकारात्मक प्रभाव और नकारात्मक प्रभाव को कम करने का विकल्प

10.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

10.8 बोध प्रश्न

10.0 उद्देश्य

इस इकाई के अन्तर्गत हम भारत की राजनीति में क्षेत्रवाद के साथ उसके कारण, प्रभाव, रुप आदि की चर्चा करेंगे। क्षेत्रवाद के नकारात्मक प्रभाव को कम करने के उपायों की चर्चा की गयी है। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप–

- क्षेत्रवाद के अर्थ से अवगत होंगे।
- भारत की राजनीति में क्षेत्रवाद के विविध रुप को समझ सकेंगे।
- पृथक राज्यों की मांग और क्षेत्रवाद के मध्य सम्बन्धों को विस्तार से समझ सकेंगे।

10.1 प्रस्तावना

क्षेत्रवाद एक ऐसी विचारधारा है जिसमें क्षेत्रीय पहचान को बढ़ावा दिया जाता है। इसमें क्षेत्रीय पहचान के पृथक अस्तित्व को बनाए रखने का प्रयास किया जाता है। प्राचीन काल से वर्तमान समय तक विभिन्न कारण रहे हैं जिनसें क्षेत्रवाद विचारधारा को बढ़ावा मिला है। क्षेत्रवाद के कारणों में भाषा, धर्म, राजनीति, आर्थिक, नृजातीय पहचान आदि कारण रहें हैं। राज्यों की स्वायत्ता की मांग संघ से अलग होना आदि रुपों में क्षेत्रवाद को देखा जा सकता है। क्षेत्रवाद की विचारधारा उन राजनीतिक दलों, राजनीतिक नेताओं में देखी जाती है जो क्षेत्रीय पहचान के आधार पर लोकप्रियता चाहते हैं। भारतीय राजनीति में क्षेत्रवाद की जड़ें गहराई से विद्यमान हैं।

10.2 क्षेत्रवाद का अर्थ

क्षेत्रवाद का आशय एक देश या उसके किसी भाग से है जो सामाजिक, भाषायी, भौगोलिक जैसे कारणों से अपनी पहचान और अस्तित्व के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। वस्तुतः क्षेत्रवाद ऐसी अवधारणा है जो राजनीति सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक रुप में क्षेत्र विशेष के हितों को सर्वोपरि मानता है। दूसरे शब्दों में क्षेत्रवाद का तात्पर्य एक विशेष क्षेत्र में रहने वाले व्यक्तियों की उस भावना से है। जिसके अन्तर्गत वे अपनी एक विशेष भाषा, सामान्य, संस्कृति, इतिहास और व्यवहार प्रतिमानों के आधार पर उस क्षेत्र से विशेष अपनत्व महसूस करते हैं तथा क्षेत्रीय आधार पर स्वयं को एक समूह के रुप में देखते हैं। क्षेत्रवाद की प्रकृति को स्पष्ट करते हुए लुण्डबर्ग का कथन है कि ' क्षेत्रवाद का तात्पर्य सामाजिक व्यवहारों के किसी भी ऐसे अध्ययन से है जिसके अन्तर्गत एक विशेष भौगोलिक क्षेत्र तथा विशेष प्रकार के व्यवहार–प्रतिमानों के मध्य से पाये जाने वाले सम्बन्धों पर अधिक बल दिया जाता है।

बोगाईस के अनुसार– क्षेत्रवाद स्थानीय इकाइयों के एकीकरण के रुप में विकसित हो सकता है तथा अपनी क्रियाशीलता से यह राष्ट्रीय एकता का एक विशेष पक्ष हो सकता है।''

डॉ. राधाकमल मुखर्जी ''विशुद्ध रुप से क्षेत्रवाद राष्ट्रीयता के अधीन होता है।''

क्षेत्रवाद में इस भावना का समावेश होता है कि एक विशेष भौगोलिक क्षेत्र की संस्कृति, भाषा, प्रथा, परम्पराएं, नृजातीय विशेषताएं आदि ही सर्वश्रेष्ठ हैं।

प्रो0 रजनी कोठारी ने अपनी पुस्तक 'पालिटिक्स इन इण्डिया' में क्षेत्रवाद के नकारात्मक प्रभावों की चर्चा की है। इसमें इस बात की चर्चा की गयी है कि स्वतंत्रता के उपरान्त राजनीतिज्ञों की महत्वाकाक्षांओं के कारण राज्यों के संघ से अलग होने की अकांक्षा थी। प्रायः क्षेत्रीय आधार पर अधिक स्वायत्ता संघ से अलगाव का कारण भी बन सकती है। भारत की राजनीति में क्षेत्रवाद के कारण राज्यों के मध्य संघर्ष, स्वायत्ता की मांग, भाषायी आधार पर क्षेत्रवाद को बढ़ावा देना जैसे कारकों की चर्चा, 'पालिटिक्स इन इण्डिया' में रजनी कोठारी ने किया है।

10.3 भारतीय राजनीति में क्षेत्रवाद बढ़ने के कारण

भारत में प्रारम्भ से ही क्षेत्रीय राष्ट्रवाद की अवधारणा रही है और इसी कारण एक क्षेत्र विशेष से निष्ठा रखने के कारण भारत को सदियों से विदेशी आक्रमण का सामना करना पड़ा और भारत एक लम्बे समय तक गुलामी की जंजीरों से जकड़ा रहा।

क्षेत्र विशेष को ऐसा लगता है कि राष्ट्रीय सरकार एक विशिष्ट विचाराधारा, भाषा, संस्कृति को उन लोगों पर आरोपित कर रही है जिससे क्षेत्रीय अस्मिता की भावना विकसित हो जाती है। किसी क्षेत्र विशेष को जब ऐसा प्रतीत होता है कि विकास के मामलों में उनकी लगातार अनदेखी, हो रही है तो ऐसे भाव विकसित होते है जैसे उत्तर–पूर्वी राज्यों में देख सकते हैं। भारत के संघीय ढाँचें के अन्तर्गत क्षेत्र की स्वायत्ता बनाये रखने का अधिकार की मांग की जाती है।

क्षेत्रवाद को राजनीति में बढ़ावा देने के कारकों में पृथक भाषा, नृजातीय पहचान, आर्थिक विषमता इत्यादि कारण रहें हैं।

भाषायी विविधता भारत की एक विशिष्ट पहचान रही है। भारत में क्षेत्रवाद की जड़ भाषा के साथ गहराई से जुड़ी हुई है। भारत में कई भाषाएं बोली जाती हैं। संविधान की आठवी अनुसूची में 22 भाषाओं का उल्लेख है। इतनी भाषायी विविधता को आधार बनाकर राजनीति दल सत्ता प्राप्त के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। दक्षिण भारत के कई राजनीति दल भाषा के मुद्दे पर केन्द्रीय सरकार को प्रभावित करते है। तमिलनाडु, आंध्रप्रदेश, महाराष्ट्र जैसे राज्यों में भाषा के आधार पर वर्तमान में भी राजनीतिक दल अपनी कार्यशैली को सम्पादित कर सत्ता को प्राप्त करने के लिए संघर्ष करते हैं।

क्षेत्रीय अस्मिता एवं पहचान के रुप में क्षेत्रवाद का प्रयोग राजनीतिक दलों द्वारा किया जाता है। कुछ राजनीतिक दलों और लोकप्रिय व्यक्तियों की यह कार्यपद्धति रही है कि पृथक राज्य बन जाए, जिससे उनके द्वारा राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं को पूरा किया जा सके।

नृजातीय पहचान क्षेत्रवाद को बढ़ावा देने के कारणों में राजनीतिक दलों का प्रमुख तत्व है। भारत का उत्तरी पूर्वी क्षेत्र इसका साक्षी रहा है। बोडोलैण्ड, गोरखालैण्ड के पीछे नृजातीय पहचान का कारण प्रभावी रहा है। भारत में विकास प्रक्रिया के क्रम में विभिन्न राज्यों में विकास कार्य समान रुप से नहीं हो पाया जिसके बहुत सारे कारण थे। जिसमें आर्थिक संसाधनों की कमी, दृढ़ इच्छाशक्ति का अभाव, लापरवाही जैसे कारण भी थे। इस कारण विकास का असमान दृश्य देखने को मिलता है।

जातिवाद भी क्षेत्रवाद के बढ़ने के कारण में प्रमुख तत्व के रुप में उभरकर सामने आता है। जिस क्षेत्र मे एक ही जातियों की प्रधानता होती है वहाँ राजनीतिक दलों को क्षेत्रवाद के आधार पर अपनी राजनीतिक महत्वाकांक्षा को पूरा करते हुए देखा जाता है।

स्वतंत्र भारत में लोग रोजगार की तलाश में एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश को जाते रहे हैं। ऐसे में राजनीतिक नेताओं, दलों आदि के द्वारा क्षेत्रवाद को बढ़ावा देकर स्थानीय लोगों को रोजगार के अवसर में

सहभागिता के अवसर को लेकर संघर्ष किया जाता है। महाराष्ट्र में उत्तर भारतीयों के खिलाफ अत्याचार के मूल में क्षेत्रवाद को ही महाराष्ट्र की क्षेत्रीय पार्टी के नेता द्वारा अपनाया गया था।

इस प्रकार हम क्षेत्रवाद के विकास में जिन कारणों को प्रमुखता से पाते हैं, उनमें शामिल हैं–

(1) ऐतिहासिक कारक

(2) भाषायी कारक

(3) भौगोलिक कारक

(4) राजनीतिक कारक

(5) आर्थिक कारक

(6) प्रशासनिक कारक

10.4 भारतीय राजनीति में क्षेत्रवाद के स्वरुप

भारत में राजनीतक दलों द्वारा कई बार राज्यों की अधिक स्वायत्ता के लिए मांग किया गया है। राज्यपाल की नियुक्ति में केन्द्र की भूमिका को कम करने के लिए राज्यों द्वारा मांग की गयी है। केन्द्र–राज्य सम्बन्धों में अधिक स्वायत्ता के विषय को लेकर विवाद को देखा गया है।

संघ से अलगाव क्षेत्रवाद का सबसे भयावह रुप है। इसमें क्षेत्र विशेष भारत से स्वतंत्र होकर अपने पृथक अस्तित्व के लिए संघर्ष करते हैं। यह भारत की राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता के लिए एक बड़ी चुनौती है।

राज्यों के मध्य नदी जल के बॅटवारे को लेकर विवाद को देखा गया है। कावेरी नदी विवाद, यमुना नदी के जल को लेकर दिल्ली एवं हरियाणा के मध्य विवाद में राजनीतिक दल क्षेत्रवाद के माध्यम से संघर्ष करते हैं।

10.5 भारतीय राजनीति में क्षेत्रवाद का सकारात्मक प्रभाव

राजनीतिक दृष्टि से स्थानीय आवश्यकताओं को पूरा करने में क्षेत्रवाद अधिक प्रभावी हैं इसके माध्यम से बजट में क्षेत्र विशेष के लिए विशेष पैकेज की मॉग से इसे समझा जा सकता है। 2024–25 के वार्षिक वित्तीय विवरण में बिहार और आंध्रप्रदेश राज्य के लिए विशेष पैकेज का मिलना भारतीय राजनीति में सकारात्मक प्रभाव को व्यक्त करता है।

स्थानीय अर्थव्यवस्था के विकास में प्रोत्साहन देकर रोजगार के अवसर सृजित किए जाते हैं जिससे लोगों को आय बढ़ाती है और देश की संवृद्धि दर में वृद्धि में सहायता होती है। 'एक जिला एक उत्पाद' के मूल में स्थानीय उत्पादन को बढ़ावा दिया जा रहा है।

क्षेत्रवाद, संस्कृति, परम्परा, विविधता को संरक्षित करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। इसमें स्थानीय बोली, भाषा, व्यंजन, पहनावा आदि का संरक्षण किया जाता है।

इस प्रकार भारतीय राजनीति में क्षेत्रवाद के सकारात्मक प्रभाव को राजनीति सशक्तिकरण, परम्पराओं, संस्कृति के संरक्षण, स्थानीय लोगों को रोजगार के अवसर में वृद्धि के रुप में देखा जा सकता है।

10.6 भारतीय राजनीति में क्षेत्रवाद का नकारात्मक प्रभाव

क्षेत्रवाद के परिणामस्वरुप राज्यों के मध्य या राज्यों के अन्दर तनाव और संघर्ष को देखा जा सकता है। हाल ही में मणिपुर में इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। यह क्षेत्रों के बीच अविश्वास, शत्रुता, कटुता, दुर्भावना के रुप में प्रकट हो सकता है।

राजनीतिक दल और राजनेता क्षेत्रीय पहचान के आधार पर अपनी राजनीतिक महत्वाकांक्षा को पूरा करते हैं। कई बार राजनीतिक दल पहचान आधारित राजनीति भी करते हैं। क्षेत्रवाद राष्ट्रीय के साथ

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को भी प्रभावित करता है। म्यांमार, बांग्लादेश, श्रीलंका आदि के साथ सम्बन्धों में क्षेत्रवाद के नकारात्मक प्रभाव को देखा जा सकता है। श्रीलंका में तमिल लोगों के साथ व्यवहार भारत की क्षेत्रीय राजनीति को प्रभावित करता है।

सभी इस बात से अवगत है कि भारत राज्यों का संघ है। भारत की संविधान के अनुसूची पाँच और छः अनुसूचित क्षेत्रों और जनजातियों के क्षेत्रों से सम्बन्धित हैं। संविधान के भाग 21 में अस्थायी, संक्रमणकालीन एवं विशेष उपबन्ध वर्णित है। इस भाग में अनुच्छेद 371 के अन्तर्गत महाराष्ट्र और गुजरात राज्यों के सम्बन्ध में विशेष उपबन्ध, 371क नागालैण्ड के सम्बन्ध में, 371ख असम राज्य के सम्बन्ध में, 371ग मणिपुर, 371घ आंध्रप्रदेश, 371ङ, 371च, 371छ, 371ज, 371झ अनुच्छेद में विभिन्न राज्यों के सम्बन्ध में विशेष उपबन्ध किए गए हैं। इस प्रकार संविधान में क्षेत्रीय मुद्दों को ध्यान में रखकर विशेष उपबन्ध किया गया है। जिससे क्षेत्रवाद जैसे कारकों के नकारात्मक प्रभाव को रोका जा सके। इस प्रकार देश की सम्प्रभुता, एकता, अखण्डता को अक्षुण्य रखने में सहायता मिलेगी।

भारत में क्षेत्रवाद के नकारात्मक प्रभाव को कम करने के लिए संवैधानिक उपाय के साथ कानूनी उपाय एवं नीतिगत उपाय भी अपनाए गए। राज्य पुनगर्ठन अधिनियम 1956 के द्वारा राज्यों को भाषायी आधार पर निर्मित किया गया परन्तु एक राज्य एक भाषा को अस्वीकार कर दिया गया। क्षेत्रवाद भारतीय राजनीति में गहराई से समाया हुआ है। पृथक राज्य की मांग क्षेत्रवाद की सबसे भयानक समस्या है। देश विविधताओं से भरा हुआ है ऐसे में लोगों का अलग पहनावा, भाषा, खान–पान होना स्वाभाविक है। इस परिस्थिति में राजनीतिक दलों एवं राजनीतिज्ञों को अपनी संकीर्ण महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए क्षेत्रवाद की विचारधारा के माध्यम से पृथक राज्य या अधिक स्वायत्ता की मांग किए जाने की संभावना रहती है। ऐसे में संवैधानिक, कानूनी, नीतिगत उपायों के साथ लोगों को राष्ट्र की एकता और अखण्डता के लिए निरन्तर प्रयत्न करना चाहिए।

10.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. जैन, पुखराज, 'भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन और भारत का संविधान', आगरा, 2002
2. सुभाष कश्यप, 'संवैधानिक–राजनीतिक व्यवस्था' राजमहल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2020
3. ओम प्रकाश गाबा, 'राजनीति–सिद्धान्त की रुपरेखा', नेशनल पेपर बैक्स, 2022
4. डॉ. वर्षा मिलिन सागोस्कर, खत्री, हरीश कुमार, 'भारत में राज्यों की राजनीति' कैलाश पुस्तक सदन, भोपाल, 2024।
5. भारतीय राजनीतिक व्यवस्था, प्रो0 एस0 एम0 सईद।

10.8 बोध प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. भारत में क्षेत्रवाद बढ़ती राजनीतिक मुखरता का परिणाम है। चर्चा कीजिए।
2. क्षेत्रवाद की बढ़ती भावना राज्य की स्वायत्ता की मांग को जन्म देती है। चर्चा कीजिए।
3. भारतीय राजनीति के समक्ष प्रमुख चुनौतियों में क्षेत्रवाद की भूमिका को स्पष्ट करें।

लघुउत्तरीय प्रश्न

1. क्षेत्रवाद क्या है? क्षेत्रवाद के कारण लिखिए।
2. भारतीय राजनीति में क्षेत्रवाद के नकारात्मक प्रभाव क्या हैं?
3. भारतीय राजनीति में क्षेत्रवाद के विविध रुपों की चर्चा करें।

इकाई–11 भारतीय राजनीति में भाषा

इकाई की रूपरेखा

11.0 उद्देश्य
11.1 परिचय
11.2 भारत में भाषा की राजनीति
11.3 भाषा एवं राजनीति के मध्य अन्तः क्रिया
11.4 भाषायी राजनीति और भारतीय समाज
11.5 भाषावाद के दुष्परिणाम एवं प्रमुख सुझाव
11.6 सारांश
11.7 अभ्यासार्थ प्रश्न
11.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

11.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरांत आप,

- भारतीय राजनीति में भाषा की भूमिका को समझने में सक्षम होंगे।
- भाषा एवं राजनीति के मध्य अन्तः क्रिया को स्पष्ट कर सकेंगे।
- भाषायी राजनीति और भारतीय समाज की विवेचना कर पाएंगे।
- भाषावाद के दुष्परिणामों को समझ पाएँगे।

11.1 परिचय

भाषा मानवीय चेतना का निर्माण करती है। भाषा लोकतंत्र, व्यवहार और संस्कृति की आवाज है। जीवन का कोई भी पहलू ऐसा नहीं है जो भाषा से अछूता हो। जाग्रत हो या स्वप्न, हम भाषा की दुनिया में जीते हैं। भाषा हमारी भावनाओं, पीड़ा की अभिव्यक्ति और संवाद को संभव बनाकर सामाजिक जीवन को एकीकृत करती है। भाषा के माध्यम से ही हम दुनिया को देखते हैं और उसका निर्माण भी करते हैं। भाषा की अप्रतिम रचनात्मक शक्ति साहित्य, कला और संस्कृति के विभिन्न पहलुओं में परिलक्षित होती है। विभिन्न प्रकार के ज्ञान–विज्ञान के संग्रह, संचार और प्रसार के लिए भाषा अपरिहार्य हो गई है। आचार्य चाणक्य कहते हैं कि भाषा, भवन, वेश–भूषा और भोजन संस्कृति के निर्माणकारी तत्व हैं। भाषा और संस्कृति दोनों साथ–साथ चलते हैं। अगर हम एक भाषा में सोच–विचार करें और शेष जीवन दूसरी भाषा में जिएं तो भाषा और जीवन दोनों की प्रामाणिकता को नुकसान पहुंचेगा। दुर्भाग्यवश वर्तमान में यही हो रहा है। भारतीय भाषाएं इतनी सक्षम हैं कि उनके माध्यम से ज्ञान का सृजन और हस्तांतरण किया जा सकता है। बहुलता भारतीय समाज की मुख्य विशेषता है। भारत में अनेक धर्म, जातियाँ और उपजातियाँ हैं, असंख्य भाषाएँ हैं, विभिन्न संस्कृतियाँ हैं और क्षेत्रीय विषमताएँ हैं। ये विभिन्नताएँ स्वाभाविक रूप से पारस्परिक सामंजस्य की समस्या को जन्म देती हैं और समाज को परस्पर विरोधी समूहों में विभाजित कर देती हैं। ऐसा ही एक विवादास्पद मुद्दा भाषा का प्रश्न है, जिसके नाम पर देश के विभिन्न भागों में हिंसक आंदोलन होते रहे हैं।

11.2 भारत में भाषा की राजनीति

भारत में भाषा और राजनीति का बहुत गहरा सम्बन्ध रहा है। भाषा ने राजनीति को दिशा दी है, राज्यों का निर्माण किया है, संघीय व्यवस्था के स्वरूप को प्रभावित किया है, राजनीतिक दलों को जन्म दिया है, चुनावों

में हार–जीत का कारण बनी है, इसके नाम पर आंदोलन हुये हैं, हिंसा की घटनाएं हुई हैं, कई लोगों की जान गयी है और कई लोगों ने अपनी जान दी है। देश की आजादी के समय भी भाषा एक ज्वलंत मुद्दा था और आज भी यह राजनीति के लिए एक गंभीर समस्या बनी हुयी है। भारत एक बहुसांस्कृतिक देश है, इसलिए भाषा का राजनीतिक महत्व और भी बढ़ जाता है। भाषा मानवीय अभिव्यक्ति का सबसे सशक्त माध्यम है। इसलिए सभी देशों की अपनी–अपनी राष्ट्रीय भाषा होती है। जब किसी देश की राजनीति का विश्लेषण किया जाता है, तो राजनीति पर भाषा के प्रभावों की चर्चा किए बिना विश्लेषण पूरा नहीं होता। जहां तक भारतीय राजनीति का सवाल है, तो यहां उत्तर भारत और दक्षिण भारत के बीच राजनीतिक संस्कृति के निर्माण के संदर्भ में मतदान व्यवहार में जो भिन्नता पायी जाती है, उसके मूल में दोनों क्षेत्रों के बीच भाषा की भिन्नता है।

भारत में भाषा की राजनीति और राजनीति की भाषा एक दूसरे के पर्याय बन गए हैं। हालाँकि भाषा की राजनीति से छुटकारा पाने के लिए आजादी से पहले ही कांग्रेस ने भाषा के आधार पर प्रांतों के पुनर्गठन को स्वीकार कर लिया था और देवनागरी हिंदी को राजभाषा घोषित कर दिया था और 15 साल तक अंग्रेजी को राजभाषा के तौर पर इस्तेमाल करने की अनुमति भी दे दी थी। भारतीय संविधान के निर्माण के दौरान भी भाषा एक अहम मुद्दा था। जब संविधान में हिंदी को राष्ट्रभाषा घोषित करने की बात कही गयी तो दक्षिण भारतीयों ने हिंदी भाषा का जमकर विरोध करना शुरू कर दिया। दक्षिण भारतीय हिंदी को भारत की राष्ट्रभाषा मानने को तैयार नहीं थे। स्वतंत्र भारत में भाषा के आधार पर राज्यों के निर्माण और पुनर्गठन की प्रक्रिया शुरू हुई। एक क्षेत्र विशेष के भारतीयों द्वारा भाषा को राजनीतिक हथियार के रूप में प्रयोग करने की प्रवृत्ति धीरे–धीरे बढ़ती गई। राष्ट्रभाषा के सवाल पर दक्षिण भारत और उत्तर भारत के राज्यों में आंदोलन हुए, जो धीरे–धीरे हिंसक रूप लेने लगे। भाषा आंदोलन राष्ट्रीय एकता और अखंडता को बनाए रखने की राह में एक मजबूत बाधा के रूप में खड़ा हो गया। इस कठिनाई के कारण संविधान में राष्ट्रभाषा के स्थान पर राजभाषा शब्द का प्रयोग किया गया है। राजभाषा का अर्थ है वह भाषा जिसमें सरकारी काम–काज होता है। संविधान के अनुच्छेद 343 में कहा गया है कि संघ की राजभाषा हिन्दी तथा लिपि देवनागरी होगी, किन्तु राज्यों की राजभाषा का निर्धारण राज्य विधानमंडल स्वयं करेंगे। संभवतः भारत विश्व का एकमात्र संघ है, जहाँ इकाई राज्यों को स्वयं अपनी राजभाषा चुनने की स्वतंत्रता दी गई है, जबकि केंद्र की राजभाषा का निर्धारण संविधान द्वारा किया गया है। यह भी उल्लेखनीय है कि राज्य किसी भी ऐसी भाषा को राजभाषा बना सकते हैं, जो संविधान की आठवीं सूची में उल्लिखित भाषाओं में से न हो, किन्तु उस राज्य विशेष में बोली जाती हो।

संविधान के अनुच्छेद 345 में कहा गया है कि "किसी राज्य का विधानमंडल, विधि द्वारा, उस राज्य में प्रयुक्त किसी एक या अधिक भाषाओं को अथवा हिन्दी को उस राज्य के सभी या किसी राजकीय प्रयोजन के लिए प्रयुक्त की जाने वाली भाषा या भाषाओं के रूप में अपना सकता है।" इस अनुच्छेद से स्पष्ट है कि कोई राज्य हिन्दी के अतिरिक्त एक या अधिक भाषाओं को राजभाषा बना सकता है। यह भाषा आठवीं अनुसूची में उल्लिखित भाषाओं के अतिरिक्त भी हो सकती है। स्वाभाविक है कि राज्य उसी भाषा को राजभाषा बनाएगा जिसके बोलने वालों की उस राज्य में बहुसंख्यक संख्या हो या जिसके बोलने वालों की संख्या अधिक हो। उदाहरण के लिए उत्तर प्रदेश में हिन्दी को राजभाषा के रूप में माना गया है साथ ही उर्दू को भी दूसरी सरकारी भाषा का दर्जा दिया गया है। भारतीय संविधान की अनुसूची 8 में 14 भाषाएँ शामिल थीं, जिनमें 21वें संशोधन, 1967 द्वारा सिंधी को जोड़ा गया, 71वें संशोधन, 1992 में नेपाली, कोंकणी और मणिपुरी को आठवीं अनुसूची में जोड़ा गया तथा 92वें संशोधन, 2003 द्वारा बोडो, डोगरी, मैथिली और संथाली भाषाओं को आठवीं अनुसूची में शामिल किया गया। भारत में अब तक कुल 22 भाषाओं को संवैधानिक मान्यता दी जा चुकी है। संविधान के भाग 17 की धारा 343 के अंतर्गत यह स्पष्ट किया गया है कि संघ की राजभाषा हिंदी तथा लिपि देवनागरी होगी। विशेष निर्देश के रूप में संविधान की धारा 351 में हिंदी भाषा के विकास के लिए आवश्यक निर्देशों की बात कही गई है। इसके अनुसार संघ का यह कर्तव्य होगा कि वह हिंदी भाषा का प्रसार बढ़ाए तथा उसका विकास करे, जिससे वह भारत की सामाजिक संस्कृति के सभी तत्वों और आयामों की अभिव्यक्ति का माध्यम बन सके तथा क्षेत्रीय भाषाओं की प्रकृति में हस्तक्षेप किए बिना आठवीं अनुसूची में विनिर्दिष्ट अन्य भारतीय भाषाओं में प्रयुक्त रूपों, शैलियों और अभिव्यक्तियों को आत्मसात करके उसकी समृद्धि सुनिश्चित करे।

शिक्षा का माध्यम : त्रिभाषी फार्मूला

1961 में दिल्ली में आयोजित राष्ट्रीय एकता सम्मेलन में भाषा की समस्या पर गहराई से चर्चा की गई। इसमें

पूरे देश में माध्यमिक स्तर की शिक्षा के लिए त्रिभाषी फार्मूला प्रतिपादित किया गया। इस फार्मूले में यह व्यवस्था की गई कि गैर–हिंदी भाषी राज्यों में विद्यार्थियों को एक क्षेत्रीय भाषा, अंग्रेजी और हिंदी पढ़ाई जाए। इसी प्रकार हिंदी भाषी राज्यों में हिंदी, अंग्रेजी और एक आधुनिक भारतीय भाषा अनिवार्य रूप से पढ़ाई जाएगी। सम्मेलन में यह भी सिफारिश की गई कि विश्वविद्यालयों में अंग्रेजी के स्थान पर क्षेत्रीय भाषाओं को शिक्षण का माध्यम बनाया जाए और पूरे देश के विश्वविद्यालयों की संपर्क भाषा अंग्रेजी हो जिसे धीरे–धीरे हिंदी द्वारा प्रतिस्थापित किया जाएगा। 1964 में भारत सरकार ने डॉ. डी.एस. कोठारी की अध्यक्षता में एक आयोग गठित किया जिसका उद्देश्य भारत में शिक्षा के विभिन्न पहलुओं की जांच करना और शिक्षा के राष्ट्रीय स्वरूप के संबंध में सुझाव देना था। कोठारी आयोग ने त्रिभाषी फार्मूले में कुछ संशोधन किए। इसने यह भी सिफारिश की कि 10 वर्षों के भीतर विश्वविद्यालयों में क्षेत्रीय भाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाया जाना चाहिए, लेकिन अखिल भारतीय शैक्षणिक संस्थानों में अंग्रेजी का उपयोग जारी रहेगा। बाद में, धीरे–धीरे हिंदी को अपनाया जाएगा। कोठारी आयोग की सिफारिशों पर सांसदों की एक समिति और राज्यों के शिक्षा मंत्रियों के सम्मेलन में चर्चा की गई। किन्तु उनके बीच कोई आम सहमति नहीं बन सकी। 19 जुलाई 1967 को तत्कालीन शिक्षा मंत्री त्रिगुण सेन ने लोकसभा में घोषणा की कि सरकार ने सैद्धांतिक रूप से स्वीकार कर लिया है कि क्षेत्रीय भाषा को शिक्षा के सभी स्तरों पर और सभी विषयों में शिक्षा का माध्यम बनाया जाना चाहिए। इस घोषणा ने पूरे देश में एक नया विवाद पैदा कर दिया। इस परिप्रेक्ष्य में, भारत सरकार ने दिसंबर 1967 में राजभाषा अधिनियम 1963 में संशोधन किया और यह प्रावधान किया कि अंग्रेजी का उपयोग सभी सरकारी कामों में सह–भाषा के रूप में किया जाता रहेगा। इस निर्णय के विरोध में उत्तरी भारत में अंग्रेजी विरोधी और मद्रास, आन्ध्र प्रदेश तथा कर्नाटक में हिन्दी विरोधी आन्दोलन शुरू हो गए। इन आन्दोलनों के बाद भी भारत सरकार ने त्रि–भाषी फार्मूले को लागू किये जाने पर जोर दिया।

11.3 भाषा एवं राजनीति के मध्य अन्तःक्रिया

आगे बढ़ने से पहले, आइए भाषा एवं राजनीति की अंतः क्रिया को समझते हैं। भारतीय सामाजिक संरचना के अन्तर्गत भाषा विविधता में एकता का एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है, इसलिए भाषा और राजनीति की अन्योन्यक्रिया का राजनीतिक संस्कृति के निर्माण एवं निरूपण की दृष्टि से काफी महत्त्व है। भारतीय राजनीति में भाषा के प्रश्न का केंद्रीय बिंदु राजभाषा और क्षेत्रीय भाषा के बीच संघर्ष तथा अंग्रेजी का अस्तित्व है। हिंदी देश की बहुसंख्यक आबादी द्वारा बोली जाने वाली भाषा है। त्रिभाषा फार्मूले का विरोध करते हुए भाषायी आधार पर राजनीतिक आंदोलन चलाए गए। एक ओर उत्तर भारत के राज्यों में अंग्रेजी विरोधी प्रदर्शन और दंगे हुए, तो दूसरी ओर दक्षिणी राज्यों में तमिलनाडु से शुरू हुआ हिंदी विरोधी आंदोलन आंध्र और मैसूर तक फैल गया। भाषायी आधार पर राज्यों के पुनर्गठन के मुद्दे ने भाषायी विवाद और तनाव को जन्म दिया। भारत में ब्रिटिश शासन के दौरान भी भाषायी आधार पर राज्यों का गठन किया गया था। सबसे पहले 1912 में भाषायी आधार पर तीन राज्य बिहार, उड़ीसा (वर्तमान में उड़ीसा) और असम का गठन किया गया था। आजादी के बाद से ही भाषा के आधार पर राज्यों का सीमांकन करने की मांग होती रही है। 1 अक्टूबर 1953 को भाषा के आधार पर गठित प्रथम राज्य आंध्र प्रदेश के गठन के कारण भारत के अन्य भाषा–भाषियों की मांगों को देखते हुए 1953 में न्यायमूर्ति फजल अली की अध्यक्षता में राज्य पुनर्गठन आयोग का गठन किया गया। इस आयोग की सिफारिशों के आधार पर 1956 में भाषा के आधार पर राज्यों का पुनर्गठन किए जाने के बावजूद भाषा के प्रश्न पर तनाव बना रहा। भाषा के आधार पर नए राज्यों के गठन के लिए प्रतिदिन नई मांगें की जाती रहीं। भाषा के मुद्दे पर असंतोष के कारण 1960 में बम्बई को गुजरात और महाराष्ट्र में तथा 1966 में पंजाब को हरियाणा और पंजाब में विभाजित करना पड़ा। भाषा के आधार पर राज्यों के पुनर्गठन के दौरान राज्यों के बीच आंतरिक विवादों ने हिंसक रूप ले लिया। मास्टर तारा सिंह के नेतृत्व में पंजाबी भाषा के आधार पर पंजाब को अलग प्रांत बनाने की मांग को लेकर आंदोलन और असम में बंगाली और असमिया भाषा को लेकर आंदोलन ने राष्ट्रीय एकता को ठेस पहुंचाई। नए भाषायी राज्यों के निर्माण के बाद इन राज्यों में भाषायी अल्पसंख्यकों की सुरक्षा की समस्या भी उत्पन्न हो गई। आज भी भाषा के आधार पर अलग राज्यों की मांग विद्यमान है।

भाषा के आधार पर राजनीतिक दलों की राजनीति ने स्थानीयता की संकीर्ण मानसिकता को बढ़ावा दिया है। उदाहरण के लिए, तमिलनाडु में द्रविड़ मुनेत्र कड़गम ने 1965 में एक बड़े भाषा आंदोलन को प्रायोजित किया। यह आंदोलन दक्षिण भारत के राजनीतिक दलों का आंदोलन बन गया। 1967 के चुनावों में

डीएमके ने भाषा आंदोलन की पृष्ठभूमि में लड़कर अपने राजनीतिक हितों को सिद्ध करने की कोशिश की। असम में गैर–असमिया के विरूद्ध असम गण परिषद का आंदोलन इसी प्रवृत्ति का प्रतिबिंब है। भाषा के आधार पर राजनीति में नए दबाव समूह उभरे हैं। भाषाई राज्यों में विवाद न केवल स्थानीय स्तर पर मतभेदों और संघर्षों को जन्म देते हैं बल्कि राष्ट्रीय एकता को भी चोट पहुंचाते हैं। असम में वर्षों से चले आ रहे बंगाली और असमिया भाषा विवाद ने राज्य में उग्रवाद को बढ़ावा देने में बडा योगदान दिया है। भाषा के आधार पर अस्तित्व में आए दबाव समूहों ने समय के साथ राजनीतिक दलों का रूप ले लिया और सत्ता की राजनीति में अपनी हिस्सेदारी का दावा किया, उदाहरण के लिए, भाषा के आधार पर बने दबाव समूह– संयुक्त महाराष्ट्र समिति और महागुजरात जनता परिषद।

11.4 भाषायी राजनीति और भारतीय समाज

अब तक आप यह तो समझ ही गए होंगे कि भारतीय राजनीति में भाषा की महत्त्वपूर्ण भूमिका है एवं उसकी अवहेलना नहीं की जा सकती है। भारतीय भाषाएँ इतनी सक्षम हैं कि उनके माध्यम से ज्ञान का सृजन और हस्तांतरण किया जा सकता है। साथ ही, औपचारिक शिक्षा, अर्थव्यवस्था और अन्य सामाजिक–राजनीतिक कार्यों के लिए भी उनका उपयोग आसानी से किया जा सकता है। हिंदी हो या अंग्रेजी या तमिल, बंगाली, उड़िया, सिंधी, ये विभिन्न भाषाएँ भारत में नदियों की तरह एक स्थान से दूसरे स्थान पर बहती रही हैं और अपने साथ अपने उद्‌गम स्थान की विशेषताएँ लेकर चलती रही हैं। इन भाषाओं ने भारत को बहुरंगी देश बनाने में प्रमुख भूमिका निभाई है। परन्तु दुर्भाग्य से, विभिन्न राजनीतिक दल अपने स्वार्थ के लिए लोगों को भाषाओं के नाम पर लड़ा रहे हैं। भाषा के नाम पर राजनीति करने वालों को यह संदेश देना होगा कि हम सब एक हैं। अब हमें भाषा के नाम पर लड़ना बंद करना होगा। भाषा कभी नहीं तोड़ती, जोड़ती है। भाषा के नाम पर राजनीति करने वाले कुछ कुटिल राजनेताओं की विकृत चालों को कुचलना होगा।

प्राथमिक स्तर पर मातृभाषा में शिक्षण अनिवार्य करना बेहतर है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 में इस बात पर विशेष जोर दिया गया है कि बच्चे की प्राथमिक शिक्षा मात्रा भाषा में ही हो। बच्चों में पढ़ने की आदत विकसित करने के लिए चित्र वाली पुस्तकों और अन्य भाषा शिक्षण सहायक सामग्री विकसित करना आवश्यक होगा। उच्च स्तरीय शोध भी भारतीय भाषाओं में होना चाहिए। व्यावसायिक शिक्षा में भारतीय भाषाओं को उचित स्थान दिया जाना चाहिए। प्रशासन में भारतीय भाषाओं के प्रयोग पर भी ध्यान देना आवश्यक है क्योंकि जो भी नीति बनती है, उसे लागू करना प्रशासन की जिम्मेदारी होती है, उन्हें भाषाओं के प्रति भी अपनी जिम्मेदारी ठीक से निभानी होगी। प्रत्येक भारतीय व्यक्ति को अपनी मानसिकता बदलनी होगी एवं भाषा को भाषा के रूप में देखना होगा।

11.5 भाषावाद के दुष्परिणाम एवं प्रमुख सुझाव

स्वतंत्रता के 7 दशक बाद भी भारत में भाषावाद के दुष्परिणाम दिखाई दे रहे हैं, जिसके कारण निम्नलिखित संकट उत्पन्न हुए हैं:

1. भाषा के आधार पर नए राज्यों की मांग करने वाले तथा भारतीय शासन को चुनौती देने वाले आंदोलनों ने देश की एकता और अखंडता को चोट पहुंचाई है। असम में असमिया लोगों के संघर्ष, महाराष्ट्र में मराठियों के अधिकार, पंजाब में पंजाबी भाषियों द्वारा राजभाषा हिंदी का विरोध – दुर्भाग्य से, इस तरह के भाषायी संघर्ष भारत के अधिकांश राज्यों में विद्यमान हैं।

2. भाषायी राजनीति में भाषा और क्षेत्रवाद के कारण, क्षेत्रीय भाषा भाषियों के पक्ष में राज्य के संसाधनों और रोजगार के अवसरों का आवंटन तथा अन्य भाषा भाषियों के प्रति असहिष्णुता की प्रवृत्ति, देश के विभिन्न राज्यों में विभिन्न भाषा भाषियों के बीच संघर्ष आदि स्थानीयता की संकीर्ण भावना के द्योतक हैं। भाषायी द्वेष के कारण विगत वर्षों में आधुनिक और विकसित माने जाने वाले शहरों में भी अन्य राज्यों के छात्रों पर हमले और अपराध की घटनाएं सामने आई हैं।

3. भाषावाद के कारण ही कुछ राजनीतिक दलों ने हिंदी भाषा के विरोध की राजनीति के आधार पर अपना अस्तित्व बनाए रखा है। दरअसल, हिंदी भाषा का किसी अन्य क्षेत्रीय भाषा से कोई विरोध नहीं है, किन्तु आजादी के सात दशक बाद यह चिंताजनक है कि क्षेत्रीय भाषाओं के विरोध और अंग्रेजी के

वर्चस्व के कारण हमारे देश की मातृभाषा का अस्तित्व खतरे में है। हमारे प्रशासनिक संस्थान, सुप्रीम कोर्ट, संसद समेत उच्च शिक्षा का कार्य हिंदी के बजाय अंग्रेजी में होता है। भाषा को लेकर सदियों पुराना असंतोष हर दिन नए रूप में सामने आ रहा है और इनमें हिंदी का विरोध सबसे प्रबल है।

यह स्पष्ट है कि भारतीय राजनीति में भाषा के प्रश्न को राजनीतिक स्वार्थों से प्रेरित कारकों और तत्वों ने बढ़ावा दिया है। राजभाषा का प्रश्न या क्षेत्रीय भाषाओं की राजभाषा को चुनौती तथा भाषायी आधार पर राज्यों का पुनर्गठन ने देश की राजनीति में मुद्दों के रूप में का कार्य किया है।

महत्वपूर्ण सुझाव

भाषा के आधार पर हिंसक आंदोलन राष्ट्रीय एकता और अखंडता के लिए चुनौती है, इसलिए इसका शांतिपूर्ण समाधान खोजने के लिए निम्नलिखित सुझाव दिए गए हैं –

1. भाषायी द्वेष और आंदोलन अक्षम्य होना चाहिए। भाषायी द्वेष देशद्रोह से कम नहीं है। इसलिए यह आवश्यक है कि भाषा और प्रांत के आधार पर भारतीयों के बीच दूरियां पैदा करने के प्रयासों को सिरे से खारिज किया जाए।
2. भारत में संस्कृति और भाषाओं की विविधता इसकी विलक्षणता और विशेष पहचान है। भाषा के आधार पर राजनीतिक दलों का बहिष्कार किया जाना चाहिए और प्रशासनिक संस्थाओं के माध्यम से ऐसे सभी तत्वों को हतोत्साहित किया जाना चाहिए।
3. भाषायी आदान–प्रदान के लिए सांस्कृतिक और शैक्षिक गतिविधियों का विस्तार किया जाना चाहिए।
4. पर्यटन को बढ़ावा देकर हिंदी की आवश्यकता को व्यावहारिक बनाया जाना चाहिए।
5. त्रिभाषा फार्मूले को केन्द्र और राज्य स्तर पर व्यवस्थित ढंग से लागू किया जाना चाहिए।
6. क्षेत्रीय भाषाएँ भी हिन्दी के प्रसार में सहायक हो सकती हैं, उनका भी उसी दिशा में विस्तार किया जाना चाहिए।
7. राजनीतिक संकीर्णता को समाप्त किया जाना चाहिए और भाषावाद की समस्या का राष्ट्रीय हित में समाधान निकाला जाना चाहिए।
8. अंग्रेजी का प्रयोग केवल प्रशासनिक उद्देश्यों और अनुवाद की सीमा तक ही किया जाना चाहिए।
9. भाषाएँ संचार का साधन हैं, वे लोगों को जोड़ती हैं, तोड़ती नहीं – यह भावना देशवासियों के मन में जागृत करनी होगी।

11.6 सारांश

संपूर्ण इकाई का अध्ययन करने के पश्चात सारांश के तौर पर यह कहा जा सकता है कि भारतीय राजनीति को नया आयाम और नयी मजबूती प्रदान करने में समाज के सभी पक्षों की भूमिका काफी प्रासंगिक है। राष्ट्रभाषा को गरिमा के स्तर पर स्थापित करने के लिए बातचीत और कामकाज के स्तर पर अंग्रेजी के प्रयोग को विद्वता का सूचक और हिंदी के प्रयोग को हीन मानने की प्रवृत्ति से बाहर निकलने की जरूरत है। सरकारी और गैर–सरकारी स्तर पर हिंदी के प्रयोग को बढ़ावा देने की दृढ़ इच्छाशक्ति, प्राथमिक और उच्च शिक्षा में हिंदी को प्रोत्साहन, विभिन्न विषयों में हिंदी में शोध को बढ़ावा आदि अनेक उपाय अपनाए जा सकते हैं, जिनसे न केवल हिंदी को सही मायने में राष्ट्रभाषा का दर्जा मिलेगा, बल्कि भाषा के आधार पर अस्मिता और भाषावाद पर आधारित राष्ट्रविरोधी अलगाववाद के तत्वों पर भी नियंत्रण किया जा सकेगा। यदि हिंदी भाषी लोग अन्य भारतीय भाषाओं को सीखना आरम्भ कर दें, तो हिंदी पूरे राष्ट्र की कण्ठहार बन जाएगी। अतरू भाषा के प्रश्न पर तर्कसंगत और उदार दृष्टिकोण अपनाकर भारतीय राजनीति में भाषावाद को नियंत्रित किया जा सकता है।

11.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. भारतीय राजनीति में भाषा की भूमिका को स्पष्ट कीजिए।

2. भाषा एवं राजनीति के मध्य अन्तः क्रिया को विस्तार से समझाइए।

3. भारतीय समाज और भाषायी राजनीति पर प्रकाश डालिए।

4. भाषावाद के दुष्प्रभावों की चर्चा कीजिए एवं इसके समाधान हेतु उपाय बताइये।

बहुविकल्पीय प्रश्न

प्रश्न 1: भारतीय संविधान में राजभाषा शब्द का प्रयोग किस अनुच्छेद में किया गया है?

A- अनुच्छेद 341

B- अनुच्छेद 343

C- अनुच्छेद 346

D- अनुच्छेद 363

प्रश्न 2: भारतीय मूल संविधान की 8वों अनुसूची में कुल कितनी भाषाएँ शामिल थीं?

A- 14 भाषाएँ

B- 18 भाषाएँ

C- 16 भाषाएँ

D- 22 भाषाएँ

प्रश्न 3: कोठारी आयोग किस वर्ष गठित किया गया था?

A- 1962 में

B- 1964 में

C- 1966 में

D- 1974 में

बहुविकल्पीय प्रश्नों के उत्तर

1: B

2: A

3: B

11.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. सईद, एस. एम. (2019), भारतीय राजनीतिक व्यवस्था, भारत बुक सेंटर, लखनऊ

2. कोठारी, रजनी (2005), भारत में राजनीति : कल और आज', वाणी प्रकाशन, दिल्ली

3. चन्द्र, बिपिन (2009), आधुनिक भारत का इतिहास, ओरियंट ब्लैकस्वॉन, दिल्ली

4. रविकांत (2018), आज के आइने में राष्ट्रवाद, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली

शर्मा, जी. एल (2015), सामाजिक मुद्दे, रावत पब्लिकेशंस, जयपुर

इकाई–12 राज्य राजनीति में राज्यपाल की भूमिका

इकाई की रूपरेखा

12.0 उद्देश्य

12.1 प्रस्तावना

12.2 राज्यपाल की नियुक्ति के संबंध में कुछ परम्पराएँ एवं संवैधानिक प्रावधान

12.3 राज्यपाल की नियुक्ति के सम्बन्ध में सरकारिया आयोग के सुझाव

12.4 राज्यपाल की शक्तियाँ

12.5 राज्यपाल संवैधानिक प्रधान के रूप में

12.6 निष्कर्ष

12.7 सारांश

12.8 उपयोगी पुस्तकें

12.9 बोध प्रश्न

12.0 उद्देश्य

- इस इकाई में भारतीय शासन व्यवस्था में राज्यपाल के पद की गरिमा और संवैधानिकता का परीक्षण किया गया है।
- इस इकाई में राज्यपाल पद के महत्व को दर्शाया गया है।
- इस इकाई के अध्ययन के पश्चात भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में राज्यपाल के पद के प्रभाव का वर्णन है।
- इस इकाई में राज्यपाल के पद की संवैधानिक प्रावधानों का विस्तृत विवेचन है। अतः यह इकाई राजनीतिक व्यवस्था की समझ बढाने में सहायक होगा।

12.1 प्रस्तावना

अध्ययन के दृष्टिकोण से राज्यपाल का पद भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में महत्वपूर्ण धुरी है। इस गरिमामयी पद का वर्णन भारत के संविधान के अनु. 153 के अनुसार प्रत्येक राज्य के लिए एक राज्यपाल होता है और आवश्यकतानुसार किसी एक राज्यपाल को एक से अधिक राज्य के लिए राज्यपाल नियुक्त किया जा सकता है। राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा केन्द्रीय मन्त्रिमंडल की सलाह से की जाती है। वस्तुतः राज्यपाल की नियुक्ति और बर्खास्तगी केन्द्र सरकार द्वारा की जाती है। राज्यपाल की नियुक्ति 5 वर्ष के लिए की जाती है। वह अपने उत्तराधिकारी के पद–ग्रहण करने तक पद पर बना रहता है।

12.2 राज्यपाल की नियुक्ति के संबंध में कुछ परम्पराएँ एवं संवैधानिक प्रावधान

संविधान लागू किये जाने के बाद से लेकर अब तक राज्यपाल की नियुक्ति के सम्बन्ध में कुछ परम्पराएँ बन गयी है। यह निम्न प्रकार है–

1. एक राज्य में किसी अन्य राज्य के निवासी को ही राज्यपाल नियुक्त किया जाता है उस राज्य के निवासी को नहीं। इस परम्परा में केवल दो अपवाद रहे हैं। एच.सी. मुखर्जी को अपने ही राज्य पश्चिम बंगाल में और मैसूर के महाराजा को मैसूर में राज्यपाल के पद पर नियुक्त किया गया।
2. केन्द्रीय सरकार के द्वारा साधारणतः राज्यपाल के रूप में ऐसे व्यक्ति को नियुक्त किया जाता था। यह

सम्बन्धित राज्य के मंत्रिमण्डल को मान्य हो। इसके अनुसार राज्यपाल की नियुक्ति के पूर्व संघ सरकार संबंधित राज्य के मुख्यमंत्री से परामर्श ले लेती थी, लेकिन इस परम्परा का सदैव पालन नहीं किया गया।

3. एक अस्वस्थ परम्परा यह बन रही है कि, निर्वाचन में पराजित और अन्य प्रकार से अस्वीकार्य सत्तारूढ़ दल के राजनीतिज्ञों को राज्यपाल के पद पर नियुक्त कर दिया जाता है।

4. प्रशासनिक सुधार आयोग ने अपनी रिपोर्ट में सुझाव दिया था कि, किसी भी व्यक्ति को एक ही बार राज्यपाल के पद पर नियुक्त किया जाना चाहिए। मंत्रिमण्डलीय सचिवालय ने इस सुझाव को स्वीकार कर लिया और मार्च 1976 के राज्यपाल सम्मेलन में तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी ने कहा कि, ''किसी राज्यपाल को उसका कार्यकाल समाप्त हो जाने के बाद सामान्यतः फिर से नियुक्त नहीं किया जायेगा।'' अब ऐसी कोई परम्परा नहीं रही है, लेकिन यदि इसे वर्तमान समय में भी अपनाया जाता है तो वह राज्यपाल की स्वतन्त्रता और निष्पक्षता को बनाये रखने में सहायक होगी।

अब तक राज्यपाल पद पर जिन व्यक्तियों द्वारा कार्य किया जा चुका है, उसके आधार पर निम्नलिखित तथ्य उभकर सामने आये हैं– प्रथम, निर्वाचन में पराजित या अन्य प्रकार से वरिष्ठ राजनीतिज्ञ इस पद पर नियुक्त किये गये। 'द्वितीय, केन्द्रीय मंत्रियों को इस पद पर नियुक्त किया गया। तृतीय, अवकाश प्राप्त लोक सेवकों को राज्यपाल नियुक्त किया गया। चतुर्थ, विशिष्ट राजनीतिज्ञ या ख्यातिप्राप्त व्यक्तियों को राज्यपाल नियुक्त किया गया। पंचम्, मुख्यमंत्री और लोकसभा के सदस्यों को राज्यपाल नियुक्त किया गया।

12.3 राज्यपाल की नियुक्ति के सम्बन्ध में सरकारिया आयोग के सुझाव

सरकारी अयोग ने अपने प्रतिवेदन में निम्नलिखित सुझाव दिये हैं–

आयोग का सुझाव है कि केन्द्र में सत्तारूढ़ पार्टी के अलावा किसी दूसरी पार्टी के द्वारा शासित राज्य में केन्द्र में सत्तारूढ़ पार्टी के किसी व्यक्ति को राज्यपाल नियुक्त नहीं करना चाहिए। राज्यपाल पद से निवृत्त होने के बाद किसी व्यक्ति को लाभ का कोई पद नहीं देना चाहिए। वह राष्ट्रपति या उपराष्ट्रपति का चुनाव तो लड़ सकता है किन्तु दलगत राजनीति में सक्रिय भाग नहीं ले सकता। सरकारिया आयोग का सुझाव है कि, संविधान के अनुच्छेद 155 में संशोधन कर राज्यपाल की नियुक्ति के बारे में राज्य के मुख्यमंत्री से विचार विमर्श की व्यवस्था करना चाहिए।

राज्यपाल के पद पर नियुक्त होने वाले व्यक्ति की योग्यता के बारे में आयोग ने कहा है कि, उसे महास्त एवं सर्वाजनिक क्षेत्र में अनुभव होना चाहिए। राज्य की राजनीति में उसे सक्रिय भाग नहीं लेना चाहिए और उसे तटस्थ होना चाहिए। आयोग के अनुसार वह ऐसा व्यक्ति होना चाहिए जिसने राजनीति में सक्रिय भाग और खासकर नियुक्ति के तत्काल पहले सक्रिय भाग और खासकर नियुक्ति के तत्काल पहले सक्रिय भाग नहीं लिया हो।

राज्यपाल नियुक्त होने के लिए विशेषताएँ

संविधान के अनुच्छेद 157 के अनुसार, कोई व्यक्ति राज्यपाल नियुक्त होने का पात्र नहीं होगा जब तक वह भारत का नागरिक न हो तथा 35 वर्ष की आयु पूरी न कर चुका हो। अनुच्छेद 158 में राज्य के राज्यपाल पद के लिए कुछ शर्तों का भी उल्लेख है। यह निम्नलिखित है :

1. राज्यपाल संसद अथवा किसी राज्य के विधानमण्डल के किसी सदन का सदस्य नहीं हो सकता। यदि कोई ऐसा व्यक्ति जो संसद अथवा राज्य विधानमण्डल का सदस्य हो तो उसके राज्यपाल नियुक्त हो जाने पर यह समझा जायेगा कि जिस दिन से उसने राज्यपाल का पद ग्रहण किया, उस दिन से संसद अथवा राज्य के विधानमण्डल में उसका पद रिक्त हो गया है।

2. राज्यपाल कोई अन्य लाभ का पद धारण नहीं करेगा।

3. राज्यपाल को निःशुल्क निवास स्थान मिलेगा तथा उसे वे सब वेतन, भत्ते, उपलब्धियों तथा विशेषाधिकारी प्राप्त होंगे, जिन्हें संसद विधि द्वारा निर्धारित करे। वर्तमान समय में राज्यपाल को 3 रूपये मासिक वेतन मिलता है।

अपना पद ग्रहण करने से पूर्व राज्यपाल को उस राज्य के उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश के सामने शपथ लेनी होती है। जिसमें वह प्रतिज्ञा करता है कि वह राज्यपाल का कार्यपालन श्रद्धापूर्वक करेगा तथा अपनी पूरी योग्यता से संविधान तथा विधि का परीक्षण, संरक्षण एवं प्रतिरक्षण करेगा तथा राज्य की जनता की सेवा और कल्याण में लगा रहेगा।

12.4 राज्यपाल की शक्तियाँ

संविधान के द्वारा राज्यपाल को पर्याप्त व्यापक शक्तियाँ प्रदान की गयी हैं। राज्यों में राज्यपाल की वही स्थिति है जो केन्द्र में राष्ट्रपति की है। अतः दोनों की शक्तियों में कुछ क्षेत्रों को छोड़कर काफी समानता है। श्री दुर्गा दास बसु के शब्दों में, ''राज्यपाल की शक्तियाँ राष्ट्रपति के समान हैं।'' राज्यपाल की शक्तियाँ इस प्रकार हैं–

1. राज्य के मुख्यमंत्री तथा उसके परामर्श से अन्य मंत्रियों को नियुक्त करता है।
2. राज्य के महाधिवक्ता की नियुक्ति राज्यपाल करता हैं।
3. राज्य लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष और सदस्यों की नियुक्त करता है किन्तु उन्हें पदच्युत नहीं कर सकता है।
4. राज्य के विश्वविद्यालयों का कुलाधिपति राज्यपाल ही होता है। इस रूप में राज्य के कुलपतियों की नियुक्त करके विश्वविद्यालयों का कार्य संचालित करवाता है।
5. राज्य के उच्च न्यायालय के न्यायाधीशें की नियुक्त के विषय में राष्ट्रपति को परामर्श प्रदान करता है।
6. राज्य प्रशासन से संबंधित महत्वपूर्ण नियम, विनियम तथा अध्यादेश जारी करता है।
7. विभिन्न मंत्रालयों के मंत्रियों के कार्य बँटवारे के लिए राज्यपाल ही निर्माण करता है।
8. मुख्यमंत्री से किसी भी प्रकार की प्रशासन और विधान संबंधी सूचना मांगने का अधिकार राज्यपाल को प्राप्त है।
9. लोकायुक्त की नियुक्ति तथा शपथ ग्रहण राज्यपाल ही कराता है।

मुख्यमंत्री का यह कर्त्तव्य है कि वह राज्यपाल को मंत्रिमण्डल के निर्णयों, कार्यकलापों से अवगत कराते रहे।

विधायी शक्तियाँ–

राज्यपाल राज्य की व्यवस्थापिका का अभिन्न अंग होता है तथा उसकी विधायी शक्तियाँ इस प्रकार है–

1. राज्य विधानमण्डल के सत्र को आहूत, सत्रावसान करने और विघटित करने का अधिकार है।
2. विधानमंडल को सम्बोधित करता हैं।
3. विधानमंडल के पास विचार के लिए संदेश भेज सकता हैं।
4. राज्यपाल को संविधान के अनु. 213 के अंतर्गत आवश्यकता पड़ने का विधानमण्डल की बैठकों के अन्तराल की अवधि में अध्यादेश जारी करने की शक्ति प्राप्त है। इन अध्यादेशों का वही प्रासंगिकता होता है, जो राज्य विधानमण्डल द्वारा पारित अधिनियमों का होता है। यह अध्यादेश विधानमण्डल की बैठक प्रारम्भ होने के छः माह तक क्रियाशील रहता है।
5. विधानमण्डल के विधेयकों का अनुमोदन तथा स्वीकृति प्रदान करता है। राज्यपाल की स्वीकृति के बाद ही कोई विधेयक अधिनियम बनता है। विधेयक से संबंधित निम्न प्रावधान उल्लेखनीय है–
   - (क) सम्पत्ति के अनिवार्य अधिग्रहण तथा उच्च न्यायालय की शक्तियों में कमी करने वाला विधेयक राष्ट्रपति को भेजता है।
   - (ख) राज्यपाल द्वारा लौटाया गया कोई विधेयक यदि पुनः विधानमण्डल द्वारा राज्यपाल को स्वीकृति हेतु भेजा गया है तो उसे स्वीकृति देनी ही पड़ती है।

राज्यपाल धन विधेयक को बिना स्वीकृति विधानमण्डल के पास नहीं लौटा सकता है। अनु. 207 के अनुसार वित विधेयक राज्यपाल की अनुमति से ही विधानसभा में प्रस्तुत होता है। जिन राज्यों में द्विसदनीय विधानमण्डल की व्यवस्था है वहां उच्च सदन के 1/6 सदस्यों को राज्यपाल मनोनीत करता है। ये सदस्य विधान, शिक्षा, साहित्य, समाजसेवा आदि क्षेत्रों में प्रसिद्धि प्राप्त व्यक्ति होते हैं। इसी प्रकार राज्यपाल विधान मण्डल में एक एंग्लो–इण्डियन (न होने पर) समुदाय को भी मनोनीत कर सकता है।

वित्तीय शक्तियाँ : राज्यपाल को कुछ वित्तीय शक्तियाँ भी प्राप्त हैं। राज्य विधानसभा में राज्यपाल की पूर्व स्वीकृति के बिना कोई भी धन विधेयक प्रस्तुत नहीं किया जा सकता है। राज्य की संचित निधि राज्यपाल के ही अधिकार में रहती है तथा विधानमण्डल से स्वीकृत की अपेक्षा में वह इस निधि में से किसी भी प्रकार के व्यय की अनुमति दे सकता है।

न्यायिक शक्तियाँ : संविधान के अनुच्छेद 161 के अनुसार जिन विषयों पर राज्य की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार होता है। उन विषयों से संबंधित किसी विधि के विरुद्ध अपराध करने वाले व्यक्तियों के दण्ड को राज्यपाल कम कर सकता है, स्थगित कर सकता है, बदल सकता है तथा क्षमा भी कर सकता है।

विविध शक्तियाँ

उपर्युक्त के अतिरिक्त राज्यपाल को अन्य अनेक शक्तियाँ प्राप्त हैं–

1. यह राज्य लोक सेवा आयोग का वार्षिक प्रतिवेदन तथा राज्य की आय व्यय के सम्बन्ध में महालेखा परीक्षक का प्रतिवेदन प्राप्त करता है और उन्हें विधानमण्डल के समक्ष रखता है।
2. अगर वह देखता है कि राज्य का प्रशासन संविधान के अनुसार चलना संभव नहीं है तो वह राष्ट्रपति को राज्य में संवैधानिक तंत्र की विफलता के संबंध में सूचना देता है और उसके प्रतिवेदन पर राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू होता है। संकटकालीन स्थिति में वह राज्य में राष्ट्रपति के अभिकर्ता के रूप में कार्य करता है।

राज्यपाल की स्थिति या भूमिका

राज्यपाल की स्थिति या भूमिका के संबंध में सामान्यतः दो परस्पर विरोधी दृष्टिकोण प्रचलित रहे हैं। इनमें से प्रथम में राज्यपाल को राज्य का केवल संवैधानिक अध्यक्ष माना गया है, लेकिन द्वितीय में इस बात पर बल दिया गया है कि राज्य के प्रशासन में राज्यपाल की भूमिका एक संवैधानिक अध्यक्ष की अपेक्षा कुछ अधिक महत्वपूर्ण है।

12.5 राज्यपाल संवैधानिक प्रधान के रूप में

संविधान द्वारा राज्यों में भी संघीय क्षेत्र के समान संसदीय शासन की स्थापना की गयी है। यह सर्वविदित है कि, संसदीय व्यवस्था में शासन की शक्तियाँ ऐसी मंत्रिपरिषद् में निहित होती है जो व्यवस्थापिका के निम्न सदन के प्रति उतरदायी होती है। अतः मंत्रिपरिषद् राज्य का वास्तविक प्रधान है और राज्यपाल केवल संवैधानिक प्रधान। संविधान के अनुच्छेद 63(1) के अनुसार जिन बातों में संविधान द्वारा या संविधान के अधीन राज्यपाल से यह अपेक्षा की जाती है कि वह अपने कार्यों को स्वविवेक से करे, उन्हें छोड़कर राज्यपाल को अपने कार्यों का निर्वहन करने में सहायता और मंत्रणा देने के लिए एक मंत्रिपरिषद् होगी। संविधान राज्यपाल की स्वविवेकी शक्तियों का विशेष रूप से उल्लेख नहीं करता। केवल *असम और नागालैण्ड* के राज्यपाल को ही इस प्रकार की कुछ स्वविवेकी शक्तियाँ प्राप्त हैं। साधारणतया राज्यपाल राज्य शासन का संवैधानिक अध्यक्ष ही है और उसकी शक्तियाँ वास्तविक नहीं है।

डॉ0 अम्बेडकर ने संविधान सभा में कहा था कि उन सिद्धान्तों के अनुसार, जिन पर राज्यों का शासन आधारित है, राज्यपाल को प्रत्येक कार्य में मंत्रिपरिषद् की सलाह आवश्यक रूप से माननी होगी और ऐसा कोई भी कार्य नहीं करना होगा, जिसके करने से उसे स्वविवेक या व्यक्तिगत निर्णय का प्रयोग करना पड़े।

संवैधानिक अध्यक्ष से अधिक

प्रथम दृष्टिकोण में राज्यपाल को केवल एक संवैधानिक प्रधान बताया गया है, लेकिन यदि राज्यपाल

की स्थिति का विस्तृत अध्ययन किया जाए तो यह धारणा असत्य हो जाती है। राज्यपाल को एक संवैधानिक अध्यक्ष मात्र मानना भूल होगी। इस दृष्टि से हमारे द्वारा राज्यपाल पद का अध्ययन दो रूपों में किया जाना चाहिए। प्रथम, संविधान निर्माता राज्यपाल को क्या भूमिका देना चाहते थे? द्वितीय, राज्यपाल पदधारी व्यक्तियों ने विविध परिस्थितियों में क्या भूमिका निभायी है?

संविधान निर्माताओं की धारणा के अनुसार सामान्य परिस्थितियों में राज्यपाल एक संवैधानिक अध्यक्ष के रूप में कार्य करेगा, लेकिन विशेष परिस्थितियों में उसकी भूमिका अधिक महत्वपूर्ण हो सकती है।

राज्य शासन में उसकी शक्तियाँ वास्तविक न होते हुए भी राज्य शासन में उसका स्थान सबसे अधिक सम्मानित और प्रतिष्ठित होता है। वह दलगत राजनीति से ऊपर होने के कारण निष्पक्ष होता है और राज्य के वास्तविक शासन (मंत्रिगण) सदैव ही, आवश्यकता के अनुसार उससे मंत्रणा कर सकते हैं। अपने निर्दलीय व्यक्तित्व के आधार पर राज्यपाल राज्य शासन के ढुलमुल और अस्थायी राजनीति में स्थायित्व और स्थिरता लाने की स्थिति में होता है। यदि राज्यपाल प्रभावशाली व्यक्तित्व वाला और कार्यशील व्यक्ति हो तो वह विरोधी पथ और मंत्रिमण्डल के बीच अनेक मतभेदों को दूर कराने में सहायक सिद्ध हो सकता है। राज्य शासन को सुगम, सुचारू और कार्यकुशल बनाने में राज्यपाल का बहुत अधिक महत्व होता है।

केन्द्र के प्रतिनिधि के रूप में

संविधान के अनु. 200 (विधेयकों को राष्ट्रपति तक भेजना), अनु. 167 (मुख्यमंत्री से सूचना प्राप्ति), अनु. 356 (राज्य में राष्ट्रपति शासन), अनु. 160 (राष्ट्रपति द्वारा राज्यपाल का कार्य करना) तथा अनु. 257 (राज्य द्वारा संघ शक्तियों का ध्यान रखना) आदि ऐसे प्रावधान है। यह राज्यपाल की भूमिका, राज्य के केन्द्र को अभिकर्ता या प्रतिनिधि के समान बनाते हैं।

वास्तविक कार्यपालक के रूप में

संविधान के अनु. 200 तथा अन्य विविध प्रावधानों से यह स्पष्ट है कि राज्य प्रशासन से संबंधित समस्त कानून तथा नियम राज्यपाल की स्वीकृति से निर्मित होंगे, साथ ही राज्य का मंत्रिमण्डल अपने निर्णय राज्यपाल को सूचित करेगा। मुख्यमंत्री की नियुक्ति तथा अन्य महत्वपूर्ण पदों पर राज्यपाल द्वारा नियुक्तियाँ, विधानसभा के सत्र बुलाने तथा उन्हें स्थगित करने विधानसभा को भंग करने तथा मंत्रिमण्डल को अपदस्थ करने की शक्तियाँ, राज्यपाल को सुदृढ़ बनाती है। राज्य के शासन संचालन से संबंधित रिपोर्ट राष्ट्रपति को भेजना तथा आपातकाल की अनुशंसा करने के प्रावधान राज्यपाल को सर्वोच्च स्थिति प्रदान करते हैं।

अनेक संविधानविदों ने अपनी रचनाओं में राज्य के स्वविवेकी कार्यों का उल्लेख किया है, जो इस प्रकार है–

1. **मुख्यमंत्री की नियुक्ति**– राज्यपाल का पहला कार्य मुख्यमंत्री की नियुक्त करना है। राज्य की विधानसभा में यदि किसी एक राजनीतिक दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त है और बहुमत वाले राजनीतिक दल ने अपना नेता चुन लिया है, तो राज्यपाल के लिए यह जरूरी हो जाता है कि वह उसी व्यक्ति को मुख्यमंत्री पद पर नियुक्त करे। लेकिन यदि राज्य की विधान सभा में दलीय स्थिति स्पष्ट नहीं है या बहुमत वाले दल में नेता पद के लिए एक से अधिक दावेदार है, तो इस संबंध में राज्यपाल स्वविवेक का प्रयोग कर सकता है। ऐसी स्थिति में स्वयं राज्यपाल के द्वारा ही निर्णय किया जायेगा कि व्यक्ति के नेतृत्व में स्थायी सरकार का गठन हो सकता है।

2. **मंत्रीमण्डल को भंग करना**– राज्यपाल को यह स्वविवेकी शक्ति भी प्राप्त है कि वह मंत्रिपरिषद् को अपदस्थ कर राष्ट्रपति से सिफारिश करे कि संबंधित राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया जाए। राज्यपाल के द्वारा प्रमुखतः अग्रलिखित परिस्थितियों में मंत्रिमण्डल को भंग किया जा सकता है–

    1. राज्यपाल को यदि यह विश्वास हो जाए कि मंत्रीमण्डल को विधानसभा के बहुमत का समर्थन प्राप्त नहीं रहा है तो उसे भंग कर सकता है।

    2. मंत्रिमण्डल के प्रति विधानसभा में अविश्वास का प्रस्ताव पारित हो जाने पर यदि मंत्रिमण्डल त्यागपत्र नहीं देता है तो राज्यपाल उसे पदच्युत कर सकत है।

3. यदि मंत्रिमण्डल संविधान के अनुसार कार्य न कर रहा हो या उसकी नीतियों से राज्य या देश को खतरा हो या उसके द्वारा केन्द्र और राज्य में संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो रही हो, तब भी मंत्रिमण्डल को पदच्युत किया जा सकता है।
4. यदि स्वतंत्र ट्रिब्यूनल द्वारा मुख्यमंत्री को भ्रष्टाचार के आरोप में दोषी घोषित किया गया हो तो राज्यपाल उसे पदच्युत कर सकता है।
5. यदि शासन में भागीदार सबसे बड़ा दल सरकार को समर्थन देना बन्द कर देता है तब राज्यपाल अल्पमत सरकार को पदच्युत कर सकता है। उत्तर प्रदेश में सुश्री मायावती मंत्रिमण्डल को 1993 में इसी आधार पर राज्यपाल ने पदच्युत कर दिया था। इसके अलावा किसी बाहर से समर्थित दल द्वारा अपना समर्थन वापस लेने पर राज्यपाल अल्पमत मंत्रिमण्डल को पदच्युत कर सकता है।

3. **विधानसभा का अधिवेशन बुलाना**—सामान्य रूप से राज्यपाल मुख्यमंत्री के परामर्श पर विधानसभा का अधिवेशन बुलाता है, किन्तु असाधारण परिस्थितियों में राज्यपाल स्वविवेक से भी विधानसभा का अधिवेशन बुला सकता है। यदि राज्यपाल के अनुसार कुछ ऐसे महत्वपूर्ण मामले हैं जिन पर तुरन्त विचार किया जाना चाहिए, तो अनुच्छेद 174 के अंतर्गत वह विधानमण्डल का अधिवेशन बुलाने हेतु कोई भी तिथि निश्चित कर सकता है। इस संबंध में वह मुख्यमंत्री के परामर्श को मानने के लिए बाध्य नहीं है, चाहे मुख्यमंत्री को विधानसभा के बहुमत का समर्थन ही क्यों न प्राप्त हो। श्री संथानम और अन्य कुछ विद्वानों के द्वारा ऐसा ही विचार व्यक्त किया गया है।

   इसके अलावा यदि राज्यपाल को मुख्यमंत्री के बहुमत में सन्देह हो जाय कि वह मुख्यमंत्री से शीघ्र अधिवेशन बुलाने के लिए कह सकता है और मुख्यमंत्री द्वारा उसके परामर्श को स्वीकार न किये जाने पर वह स्वयं अधिवेशन बुला सकता है।

4. **विधानसभा को भंग करना**— उत्तरदायी शासन की धारणा के अनुसार सामान्यतः यह माना जाता है कि विधानसभा को भंग करने का कार्य राज्यपाल तभी करेगा, जबकि मुख्यमंत्री उसे ऐसा करने के लिए परामर्श दे, लेकिन विशेष परिस्थितियों में राज्यपाल विधानसभा को भंग करने के विषय में मुख्यमंत्री के परामर्श को मानने से इन्कार कर सकता है या मुख्यमंत्री के परामर्श के बिना ही विधानसभा को भंग कर सकता है।

   इसके अलावा भी राज्यपाल द्वारा स्वविवेक से कुछ कार्य किये जा सकते हैं। वह मुख्यमंत्री से किसी भी विषय में सूचना मांग सकता है, वह मुख्यमंत्री को निर्देश दे सकता है कि वह किसी ऐसे मामले को, जिस पर किसी मंत्री ने निर्णय ले लिया हो, सम्पूर्ण मंत्रिपरिषद् के सामने रखे। विधानमण्डल द्वारा पारित विधेयक को वह पुनर्विचार के लिए वापस भेज सकता है या राष्ट्रपति के पास उसके विचारार्थ भेज सकता है। सन् 1957 में केरल के राज्यपाल द्वारा केरल शिक्षा विधेयक राष्ट्रपति के पास स्वीकृति के लिए भेजा गया था और तत्संबंध में मुख्यमंत्री से कोई परामर्श नहीं लिया गया था।

   केन्द्रीय सरकार के प्रतिनिध के रूप में भारतीय संविधान के अंतर्गत राज्यपाल की दोहरी भूमिका है। प्रथमतः वह राज्य का प्रधान है और द्वितीयतः वह राज्य में संघ सरकार का अभिकर्ता या प्रतिनिधि है। संविधान निर्माता भारत में एक ऐसी संघीय व्यवस्था स्थापित करना चाहते थे जिसमें सहयोगी संघवाद की धारणा के आधार पर केन्द्र और राज्य में सद्भावपूर्ण संबंध स्थापित हो सके और प्रशासनिक एकरूपता तथा राष्ट्रीय एकता के लक्ष्य को प्राप्त किया जा सके।

केन्द्रीय सरकार के प्रतिनिध के रूप में राज्यपाल के द्वारा निम्नलिखित कार्य किये जाते हैं—

1. भारतीय संविधान के अंतर्गत केन्द्रीय सरकार और राज्य सरकार के बीच सद्भावनापूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने की आवश्यकता पर बल दिया गया है और अनुच्छेद 256 व 257 में कहा गया है कि इस दृष्टि से केन्द्रीय सरकार राज्यों की कार्यपालिकाओं को आवश्यक निर्देश दे सकती है। केन्द्रीय सरकार द्वारा राज्य सरकारों को राष्ट्रीय महत्व की सड़कों तथा संचार साधनों की रक्षा का भार सौंपा जा सकता है। अनुच्छेद 258 के अंतर्गत केन्द्र सरकार अपने कुछ प्रशासनिक कार्य भी राज्य सरकार को हस्तान्तरित कर सकती है। केन्द्रीय सरकार द्वारा राज्य सरकारों को इस प्रकार के निर्देश/आदेश राज्यपाल के माध्यम से ही

दिये जाते हैं और राज्यपाल का कर्त्तव्य है कि वह यह देखे कि राज्य सरकार इन निर्देशों/आदेशों का पालन कर रही है अथवा नहीं। यदि राज्य का मंत्रिमण्डल राज्यपाल को राष्ट्रपति के निर्देशों के विरुद्ध कार्य करने की सलाह देता है तो वह इस प्रकार की सलाह को अस्वीकार कर सकता है। यदि राज्य मंत्रिमण्डल केन्द्रीय सरकार के निर्देश के अनुसार कार्य नहीं करता है तो राज्यपाल मंत्रिमण्डल को चेतावनी दे सकता है तथा इसे संविधान के विरुद्ध कार्य मानकर अनुच्छेद 356 के अंतर्गत राष्ट्रपति को संवैधानिक संकट की रिपोर्ट दे सकता है। जब कभी केन्द्रीय सरकार द्वारा राष्ट्रीय दृष्टि से महत्वपूर्ण किसी कार्यक्रम को अपनाया जाता है तो राज्यपाल पर यह भार आ जाता है कि वह यह देखे कि राज्य सरकार इस कार्यक्रम को पूरा करने की दिशा में आगे बढ़ रही है अथवा नहीं।

2. केन्द्रीय सरकार के प्रतिनिधि के रूप में राज्यपाल का एक महत्वपूर्ण कार्य राज्य के प्रशासन के संबंध में समय–समय पर राष्ट्रपति को रिपोर्ट भेजना हे, जिसमें उसके द्वारा अपनी ओर से सुझाव भी दिये जाते हैं। राज्यपाल अपना पद ग्रहण करते समय संविधान की रक्षा करने की शपथ लेता है और इस दृष्टि से उसका सबसे प्रमुख कार्य यह देखना है कि राज्य सरकार संविधान के अनुसार कार्य कर रही है अथवा नहीं। यदि राज्य में संविधान के अनुसार कार्य नहीं हो रहा है तो राज्यपाल इस संबंध में राष्ट्रति को रिपोर्ट देता है और इस प्रकार की रिपोर्ट के आधार पर राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू किया जा सकता है। राज्यपाल राष्ट्रपति को इस प्रकार की रिपोर्ट स्वविवेक से ही भेजता है और इस संबंध में वह राज्य मंत्रिमण्डल की सलाह मानने के लिए बाध्य नहीं है। राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू होने पर राष्ट्रपति राज्यपाल को जो भी प्रशासनिक, विधायी और वित्तीय कार्य सौंपता है, राज्यपाल उन सबको पूरा करता है और केन्द्रीय सरकार के प्रतिनिधि के रूप में राज्य के शासन का संचालन करता है।

3. अनुच्छेद 200 के अनुसार राज्य विधानमण्डल द्वारा पारित किसी भी विधेयक की राज्यपाल राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए सुरक्षित रख सकता है। उदाहरण के लिए सम्पत्ति के अनिवार्य अधिग्रहण या उच्च्व न्यायालय की शक्तियों में कमी करने से संबंधित विधेयक राज्यपाल के द्वारा राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए सुरक्षित रखे जा सकते हैं। राज्यपाल इस संबंध में स्वविवेक से कार्य करता है।

4. अनुच्छेद 213 के अनुसार, राज्यपाल को अध्यादेश जारी करने का अधिकार दिया गया है किन्तु उसे कुछ विषयों के संबंध में अध्यादेश जारी करने के पूर्व राष्ट्रपति से स्वीकृति लेनी होती है।

इन सबके अलावा राज्यपाल को केन्द्रीय सरकार के प्रतिनिधि के रूप में यह देखना है कि, राज्य सरकार संकीर्ण प्रान्तीयवाद एवं क्षेत्रीयवाद को न अपनाकर संघ के समस्त हितों को ध्यान में रखे।

संविधान निर्माताओं के द्वारा तो संभवतः यह सोचा गया था कि राज्यपाल की प्रथम भूमिका राज्य के संवैधानिक अध्यक्ष के रूप में तथा द्वितीय भूमिका राज्य में केन्द्रीय शासन के प्रतिनिधि के रूप में होगी लेकिन व्यवहार के अंतर्गत अनेक बार राज्यपाल की दूसरी भूमिका अधिक महत्वपूर्ण हो जाती है। ऐसा विशेष रूप से उस समय होता है जब केन्द्र में एक राजनीतक दल की सरकार हो और राज्य में किसी विरोधी राजनीतिक दल की या कुछ विरोधी दलों की संयुक्त सरकार हो। व्यवहार के अंतर्गत जब कभी राज्यपाल की इन दोनों भूमिकाओं में परस्पर विरोध की स्थिति उत्पन्न हुई है तब राज्यपाल ने केन्द्रीय शासन के प्रतिनिधि के रूप में अपनी भूमिका को अधिक महत्व दिया है।

यह सर्वविदित है कि, विरोधी दल सामान्य रूप से यह शिकायत करते रहे हैं कि केन्द्र सरकार राज्यपाल पद का उपयोग अपने राजनीतिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए करती है। वास्तव में ऐसा नहीं होना चाहिए। आवश्यकता इस बात की है कि राज्यपाल की केन्द्र के प्रतिनिधि के रूप में भूमिका और राज्य के संवैधानिक अध्यक्ष के रूप में भूमिका में सामंजस्य स्थापित होना चाहिए।

12.6 निष्कर्ष

पिछले 78 वर्षों की दलीय, क्षेत्रीय और जातीय राजनीति के द्रुष्चक्र ने वे मूल्य एवं मान्यताओं के सेतु ही तोड़ दिये हैं जिन पर देश को अभिमान था। यहाँ के राजनीतिक दल जनमानस की आकांक्षाओं को अभिव्यक्त करने में सफल नहीं हुए हैं। दूसरी ओर राष्ट्रीय दलों द्वारा की गयी क्षेत्रीय अपेक्षाओं के कारण राष्ट्रीय राजनीति क्षेत्रीयता की आश्रित हो गयी। लेकिन क्षेत्रीय संकीर्णता यह भूल गयी कि कमजोर केन्द्र

राष्ट्रीय हित में नहीं है। केन्द्र और राज्यों के संबंध सूत्र बनाये रखने का अभिकरण राज्यपाल का संस्थान है।

वस्तुतः केन्द्र राज संबंधों के विकास में राज्यपाल की सार्थक उपयोगिता है। राष्ट्रीय एकीकरण में राज्यपाल एक महती और उपयोगी भूमिका का निर्वाह कर सकते हैं। राज्य के संवैधानिक प्रधान के रूप में राज्यपाल राज्य मंत्रि परिषद् के मार्गदर्शन, परामर्शदाता, मित्र, अभिभावक और दार्शनिक की भूमिका के दायित्व का निर्वाह कर सकते है। वे राज्य की रचनात्मक और जनकल्याणकारी प्रवृत्तियों में सक्रिय रूप में भाग लेकर जन साधारण का विश्वास अर्जित कर सकते हैं। यदि इस पद को समाप्त कर दिया जाता है तो संवैधानिक संकट उत्पन्न हो सकता है।

राज्यपाल केवल राज्य का संवैधानिक अध्यक्ष ही नहीं बल्कि संविधान और विधि के परीक्षण, संरक्षण, प्रतिरक्षता और जनता की सेवा और कल्याण की महत्वपूर्ण दायित्व भी उसी का है। इन दायित्वों को सम्पन्न करने के लिए संविधान द्वारा उसे मंत्रिपरिषद की सलाह के बिना स्वविवेकीय शक्तियाँ प्रदान की गयी हैं। *संविधान के अनुच्छेद 163, 371–क(1), (ख), 371क(1) घ, 371–क(2), ख 371–क (2), च, 239, 200 और 365* के अंतर्गत राज्यपालों को जो अधिकार दिये गये हैं वे भारत की संघात्मक व्यवस्था के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि, राज्यपाल के कार्यों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम वर्ग में वे कार्य आते हैं जिनका पालन मंत्रिपरिषद् की सलाह पर अपने आप किया जाता है। दूसरा वर्ग परमाधिकारों से संबंधित है। इन कार्यों के पालन में राज्यपाल की वैयक्तिक रूप से सक्रिय भूमिका होती हैं यही वे कार्य हैं जिनके कारण राज्यपाल पद को बनाये रखने का औचित्य है।

सरकारिया आयोग के अनुसार राज्यपाल का पद अपरिहार्य है। आयोग ने कहा है कि संविधान द्वारा राज्य स्तर पर जो मंत्रिमण्डल संसदीय पद्धति स्वीकार की गयी है। वह इंग्लैण्ड की पद्धति से सभी मामलों में एकदम समान नहीं है। यह अपने प्रकार की अनोखी पद्धति है। राज्यपाल इस पद्धति के अंतर्गत अपने दायित्वों के सम्पूर्ण क्षेत्र में संवैधानिक प्रमुख के रूप में ही कार्य नहीं करता। कुछ ऐसे महत्वपूर्ण क्षेत्र भी हैं जिनमें वह विवेक का प्रयोग करता है। यद्यपि ये क्षेत्र सीमित है फिर भी यह कहा जाता है कि राज्यपाल की भूमिका के एक से अधिक पहलू हैं। संघ तथा राज्य के बीच एक पुल के रूप में वह उनमें अच्छी समझ उत्पन्न कर सकता है। वह संविधान का प्रहरी है, वह संघ तथा राज्यों के बीच एक जीवित सम्पर्क सूत्र है। सम्पर्क सूत्र के रूप में उसका यह कर्तव्य है कि वह जब कभी यह महसूस करे कि संविधान के अनुसार काम नहीं हो रहा है या ऐसी घटनाएं घटित हो रही हैं जो राष्ट्र की सुरक्षा एवं एकता के लिए खतरनाक हैं तो वह राज्य प्रशासन के क्रियाकलापों की जानकारी केन्द्र सरकार को दे। ऐसा करके राज्यपाल राज्य के प्रति संघ के दायित्वों के निर्वहन में उसकी सहायता करता है। संविधान के अनुसार सरकार के लोकतांत्रिक स्वरूप को बनाये रखने के संबंध में राज्यपाल की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

12.7 सारांश

उपरोक्त के अध्ययन एवं विवेचन के उपरांत यह कहा जा सकता है कि, राज्यपाल हमारी संवैधानिक पद्धति तथा उसके कार्यपालन में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करता है। राज्य सरकार के सभी कार्यपालिका कार्य उसी के नाम से अभिव्यक्त होते हैं। यह मुख्यमंत्री को अपने विवेकानुसार नियुक्त करता है। उसकी अनुमति के बिना कोई विधेयक कानून नहीं बन सकता। उसकी पूर्वानुमति के बिना धन–विधेयक राज्य विधानमण्डल में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। उसकी पूर्वानुमति के बिना धन–विधेयक राज्य विधानमण्डल में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। उसके आदेशों के बिना सदन के अधिवेशन न तो आहूत और नही उनका सत्रावसान किया जा सकता है। विधानमण्डल के विघटन का आदेश राज्यपाल ही दे सकता है। अतः राज्यपाल का पद गरिमामयी है।

12.8 उपयोगी पुस्तकें

1. बसु, दुर्गादास, भारत का संविधान, लेक्सिस नोक्सिस, नई दिल्ली, वर्ष 2009,
2. काश्यप, सुभाष, हमारा संविधान, एन.बी.टी. 1995, 2005,
3. सिंह अभय प्रसाद : समकालीन भारत में विकास की प्रक्रिया और सामाजिक आंदोलन, ओरियंट

ब्लैकस्वॉन, नई दिल्ली, वर्ष 2015,

4. नारंग, अमरजीत सिंह : भारत शासन एवं राजनीति : गीतान्जली पब्लिशिंग हाउस, 2009–10, नई दिल्ली,

5. नारायण, इकबाल :स्टेट पॉलिटिक्स इन इंडिया, मेरठ, मीनाक्षी प्रकाशन, 1967,

6. पायली, एव.बी. भारतीय संविधान का परिचय, विकास पब्लिकेशन हाऊस प्रा0 लि. नई दिल्ली, 1996

12.9 बोध प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1– भारत के राज्यों में राज्यपाल की भूमिका को स्पष्ट कीजिए।

2– क्या राज्यपाल मात्र संवैधानिक प्रधान बनकर रह गये हैं?

3– राज्यपाल के कार्यो की समीक्षा कीजिए।

4– राज्यपाल की वास्तविक स्थिति पर प्रकाश डालिए। संवैधानिक प्रधान से ऊपर उठकर उसके द्वारा किये गये कार्यो की समीक्षा कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1– राज्यपाल की नियुक्ति पर प्रकाश डालिए।

2– क्या राज्यपाल मन्त्रिपरिषद के निर्णयों को मानने के लिए बाध्य है? स्पष्ट कीजिए।

3– राज्यपाल द्वारा मुख्यमंत्री की नियुक्ति किस प्रकार की जाती हैं?

4– राज्यपाल द्वारा राज्य मन्त्रिपरिषद् को किस आधार पर हटाया जा सकता है?

इकाई–13 राज्य मंत्रिपरिषद् तथा राज्य और राजनीति में मुख्यमंत्री

इकाई की रूपरेखा

13.0 उद्देश्य

13.1 प्रस्तावना

13.2 योग्यताएं

13.3 कार्य एवं शक्तियां

13.4 मुख्यमंत्री की भूमिका

13.6 मुख्यमंत्री : वास्तविक प्रधान

13.7 शक्ति के आधार

13.8 निष्कर्ष

13.9 सारांश

13.10 कुछ उपयोगी पुस्तके

13.11 बोध प्रश्न

13.0 उद्देश्य

इस इकाई में राज्यों के शासनतंत्र में मुख्यमंत्री की भूमिका एवं शक्तियों के बारे में विस्तार से बताया गया है। इतना ही नही इस इकाई में मुख्यमंत्री पद की महत्ता एवं गरिमा के बारे में भी सविस्तार बताया गया है।

13.1 प्रस्तावना

हमारे देश में संघीय एवं संसदीय व्यवस्था को अपनाया गया है। इसलिए केन्द्र और राज्यों के लिए एक समान व्यवस्था है। चूंकि प्रधानमंत्रियों के स्वयं के व्यक्तित्व,राजनीतिक पृष्ठभूमि एवं परिस्थितियों का प्रभाव उनके निर्वाचन की प्रक्रिया पर दिखायी देता है, उसी प्रकार राज्यों के विभिन्न मुख्यमंत्रियों पर उनके स्वयं के व्यक्तित्व, सम्बद्ध प्रदेश की राजनीतिक पृष्ठभूमि प्रत्यक्ष प्रभाव मुख्यमंत्रियों के चयन पर पड़ा है। यह भी सत्य है कि, मुख्यमंत्री का निर्वाचन राजनीतिक परिस्थितियों के मध्य जिस तरीके द्वारा किया जायेगा, उसकी भूमिका व्यवहार में उसी प्रकार की होगी। जनाधार वाला नेता ज्यादा सशक्त एवं प्रभावी तरीके से कार्य करेगा।

13.2 योग्यताएं

संविधान मुख्यमंत्री की योग्यता के संबंध में मौन है। व्यवहारतः मुख्यमंत्री के लिए कुछ प्रशासनिक योग्यताओं एवं व्यक्तिगत गुणों का होना आवश्यक है। उसमें विवेक कौशल, शासन करने की क्षमता, दूरदर्शिता, विश्वसनीय व्यक्तियों की पहचान, प्रभावशाली व्यक्तित्व, संयमी, गम्भीर तत्कालीन निर्णय लेने की क्षमता, व्यवहार कुशल, चरित्रवान ये सब ऐसे गुण हैं। जिनके बिना मुख्यमंत्री का काम नहीं चल सकता।

सामान्यतः यह कहा जा सकता है कि, मुख्यमंत्री पद के लिए न्यूनतम योग्यताएं वही हैं जो एक विधायक के लिए आवश्यक है। यह सत्य है कि मुख्यमंत्री के चयन में संवैधानिक, व्यावहारिक एवं निर्णायक भूमिका निभाने वाले कुछ तत्व होते हैं। यह तत्व हैंः राज्यपाल की भूमिका, विधायक दल की भूमिका, प्रदेशाध्यक्ष का प्रभाव, प्रधानमंत्री के दबाव, जातीयता एवं क्षेत्रीयता का प्रभाव।

संविधान के अनुच्छेद 163(1) के अनुसार उन कार्यों को छोड़कर जिनमें राज्यपाल अपने विवेक का प्रयोग करता है। राज्यपाल को परामर्श देने के लिए एक मंत्रिपरिषद् होगी जिसका नेतृत्व मुख्यमंत्री करेगा। अनुच्छेद 164 (1) के अनुसार मुख्यमंत्री की नियुक्ति राज्यपाल द्वारा की जायेगी तथा अन्य मंत्रियों की नियुक्ति

राज्यपाल मुख्यमंत्री के परामर्श से करेगा तथा मंत्री राज्यपाल के प्रसादपर्यन्त अपने पद पर रहेंगे। यहां पर स्मरणीय है कि मुख्यमंत्री की नियुक्ति के लिए विधानसभा का सदस्य होना आवश्यक नहीं है। छः माह के लिए किसी भी व्यक्ति को मुख्यमंत्री बनाया जा सकता है चाहे वह विधानसभा का सदस्य ही न हो। ऐसे मुख्यमंत्री को छः माह के भीतर विधानमण्डल की सदस्यता प्राप्त करना आवश्यक है। जैसे 2017 में उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री श्री योगी आदित्यनाथ को छः माह के भीतर चुनाव जीतकर विधानसभा की सदस्यता प्राप्त की।

13.3 कार्य एवं शक्तियां

भारतीय संविधान में मुख्यमंत्री के कार्य एवं शक्तियों का सीमित उल्लेख मिलता है। अनु. 167 में केवल तीन प्रकार के कार्यों का वर्णन देखने को मिलता है, जो निम्न प्रकार है–

1. राज्य प्रशासन तथा विधान के प्रस्तावों से संबंधित जो निर्णय मंत्रिपरिषद द्वारा लिये गये हैं, की सूचना राज्यपाल को पहुंचाना।
2. राज्य प्रशासन तथा विधान के प्रस्तावों के क्रम में भी जो जानकारी राज्यपाल द्वारा मांगी जाए, उसे राज्यपाल तक पहुंचाना।
3. किसी ऐसे विषय पर राज्यपाल के निर्देशों पर मंत्रिपरिषद में विचार करना, जिस विषय पर मंत्री ने निर्णय ले लिया हो, किन्तु मंत्रिपरिषद ने सामूहिक निर्णय न किया हो।

उपर्युक्त कार्यों को देखकर ऐसा लगता है कि मुख्यमंत्री का पद वास्तव में शक्तिशाली नहीं है। वस्तुतः मुख्यमंत्री राज्य का सर्वाधिक शक्तिशाली व्यक्ति है। यह वास्तविक कार्यपालिका है। उसके कार्य निम्नलिखित है–

1. राज्य के विकास तथा शान्ति व्यवस्था के लिए योजनाएं एवं कार्यक्रम तैयार करना।
2. केन्द्र, विदेश तथा अन्य राज्य सरकारों से सम्पर्क एवं समन्वय करना।
3. जन सम्पर्क करना।
4. राज्य में कुशल प्रशासन की व्यवस्था करना।
5. राज्य के विकास के लिए नीति एवं योजनाए बनाना।
6. राज्य के विकास के लिए समस्त प्रकार के संसाधनों का समुचित उपयोग करना।
7. मंत्रिपरिषद की बैठकों के माध्यम से राज्य के चहुंमुखी विकास के लिए नीतिया बनाना।
8. बजट निर्माण, स्वीकृति तथा उसकी क्रियान्विति सुनिश्चित करना।
9. केन्द्र तथा विभिन्न अभिकरणों से संधियां एवं समझौते करना।
10. राजस्व एकत्रण तथा राज्य की वित्तीय स्थिति को सुदृढ़ करना।
11. मंत्रिपरिषद तथा राज्यपाल के बीच सम्पर्क सूत्र का कार्य करना।
12. विभिन्न मुद्दों पर राज्य का हित तथा पक्ष स्पष्ट करना।
13. राज्य के प्रशासन से सम्पर्क तथा नेतृत्व करना।
14. राज्य कर्मचारियों के लिए कार्मिक नीतियां तैयार करना।
15. कमजोर, पिछड़े तथा जनजाति के कल्याण एवं विकास के कार्यों पर विशेष ध्यान देना।
16. राज्य की जनता से सम्पर्क करना।
17. जन शिकायतों को सुनना एवं निराकरण करना।
18. राज्य विधानसभा का सत्र बुलवाना, राज्यपाल का भाषण तैयार करवाना, आदि।

13.4 मुख्यमंत्री की भूमिका

राज्य का मुख्यमंत्री उस राज्य की जनता, राजनेताओं तथा प्रशासको की आशाओं और आकांक्षाओं का प्रतीक होता है। राज्य प्रशासन के शीर्ष पर कार्यरत मुख्यमंत्री को अनेक प्रकार की भूमिका निभानी पड़ती है, जो निम्नलिखित है–

1. **मंत्रिमण्डल के निर्माण और उसके कार्य संचालन का केन्द्र स्थल**– मुख्यमंत्री मंत्रिमण्डल के निर्माण और उसके कार्यसंचालन का केन्द्र है। मुख्यमंत्री बनने के बाद उसका प्रथम कार्य मंत्रिमण्डल का निर्माण करना है। इस कार्य में वह स्वतंत्र होता है। फिर भी उसके हाथ बंधे हुए हें। उसे दल के प्रभावशाली व्यक्तियों को मंत्रिमण्डल में रखना ही पड़ता है। इसके अतिरिक्त वह भिन्न वर्गों, अल्पसंख्यक, भौगोलिक क्षेत्रों तथा केन्द्रीय नेताओं की इच्छा आदि को ध्यान में रखता है। मुख्यमंत्री मंत्रिमण्डल का निर्माण करता है तथा उसे गति प्रदान करता है। मंत्रियों के बीच विभागों का बंटवारा करना उसका विशेषाधिकार होता है। वह मंत्रिमण्डल की बैठको का सभापतित्व करता है। समस्त विभाग ठीक से कार्य रहे हैं या नहीं, यह देखना उसका कार्य है। राज्य की महत्वपूर्ण नीतियों के निर्माण में उसकी भूमिका अहम् होती है। मंत्रिमण्डल के निर्णयों में उसका प्रमुख हाथ होता है। मुख्यमंत्री राज्य का नेता होने के साथ मंत्रिमण्डल का पथ प्रदर्शक भी होता है। सभी मंत्रालयों में समन्वय स्थापित करना उसका अन्य महत्वपूर्ण कार्य है। संक्षेप में, मुख्यमंत्री का यह कर्तव्य है कि वह देखे कि प्रत्येक विभाग सुचारू रूप से कार्य कर रहा है और राज्य निरन्तर प्रगति कर रहा है।

   मुख्यमंत्री मंत्रिमण्डल का निर्माण ही नहीं बल्कि उसे भंग भी कर सकता है, मंत्रिमण्डल के किसी भी सदस्य को हटा सकता है, उनके विभागों में फेरबदल कर सकता है। मुख्यमंत्री साथ अन्य मंत्री भी तैरते और डूबते हैं। मुख्यमंत्री के त्याग का अर्थ है–सम्पूर्ण मंत्रिपरिषद का त्यागपत्र। वह किसी भी मंत्री के विभाग में परिवर्तन कर सकता है और उसक बर्खास्त कर सकता है। संक्षेप में, मुख्यमंत्री की विशिष्टि स्थिति होती है।

2. **दल के नेता के रूप में**– बहुमत दल का नेता होने के कारण मुख्यमंत्री शासन का प्रमुख होता है। दल का सर्वमान्य नेता होने के कारण उसका दल में विशिष्ट स्थान होता है। इस कारण यह पूर्ण विश्वास के साथ राज्य का नेतृत्व करता है ओर राज्य को स्थायी सरकार तथा राजनीतिक स्थिरता प्रदान कता है। वह विधानसभा का भी नेता होता है। विधानसभा में व्यवस्था तथा गरिमा बनाये रखने में वह अध्यक्ष की सहायता करता है।

3. **राज्यपाल एवं मंत्रिमण्डल के बीच कड़ी के रूप में**– संविधान के अनु. 167 के अनुसार मुख्यमंत्री का प्रमुख कर्तव्य है कि वह राज्य के प्रशासन से संबंधित मंत्रिपरिषद के निर्णयों और व्यवस्थापन के प्रस्तावों की सूचना समय समय पर राज्यपाल को दे। इस प्रकार मुख्यमंत्री राज्यपाल और मंत्रिपरिषद के मध्य महत्वपूर्ण जोड़ने वाली कड़ी है। मुख्यमंत्री शासन को सुचारू रूप से चलने का राज्यपाल का परामर्शदाता है। राज्यपाल मुख्यमंत्री से सरकार के कार्य संबंधी जानकारी मांग सकता है। तात्पर्य यह है कि राज्यपाल एक संवैधानिक प्रमुख है और उसकी शक्तियों को व्यवहार में मुख्यमंत्री (मंत्रिपरिषद) ही प्रयोग करता है।

4. **नियुक्ति का अधिकार**– शासन का प्रमुख होने के नाते उसे प्रदेश के उच्च प्रशासनिक अधिकारियों की नियुक्ति का अधिकार प्राप्त होता है। राज्य के महाधिवक्ता, राज्य लोक सेवा आयोग के सदस्यों आदि की नियुक्ति राज्यपाल मुख्यमंत्री की सलाह पर ही करता है।

5. **विधानसभा भंग करने का अधिकार**– विधानसभा का सत्र बुलाने तथा सत्रावसान के अतिरिक्त राज्यपाल को संविधान के अनुच्छेद 174(2)(बी) के अंतर्गत विधानसभा को भंग करने का अधिकार है। परन्तु व्यवहार में राज्यपाल मुख्यमंत्री के परामर्श पर ही विधानसभा को भंग करता है। आमतौर पर राज्यपाल मुख्यमंत्री की सलाह पर ही कार्य करता है, लेकिन कुछ अवसरों पर वह अपने विवेक का भी प्रयोग करता है। विधानसभा भंग करने तथा राष्ट्रपति शासन की सिफारिश करते समय राज्यपाल अपने विवके का प्रयोग करता है। ऐसे अवसरों पर मंत्रिमण्डल के परामर्श पर कार्य नहीं कर सकता।

6. **राज्य के प्रशासन का नियंत्रक, समायोजक व निर्देशक**— राज्य प्रशासन मुख्यमंत्री के सर्वोच्च निद्रेशन में कार्य करता है। वह राज्य सरकार के विभिन्न विभागों के बीच समायोजन व समन्वय स्थापित करता है। यह राज्य प्रशासन का सबसे शक्तिशाली एवं महत्वपूर्ण व्यक्ति होता है। राज्य प्रशासन की कार्यकुशलता मुख्यमंत्री के नेतृत्व, चरित्र, प्रशासनिक कुशलता, समायोजक, निर्देशक पर निर्भर है।

7. **राज्यपाल के परामर्शदाता के रूप में**— जैसा कि सर्वविदित है कि, राज्यपाल अपनी शक्तियों का प्रयोग मंत्रिपरिषद के परामर्श के अनुसार ही करता है। अतः राज्यपाल को परामर्श देने या अपनी सरकार की मंशा बताने वाला मुख्यमंत्री होता है। मंत्रिमण्डल के विभिन्न निर्णयों से राज्यपाल को अवगत कराने, विधानसभा का सत्र बुलवाने, विधेयकों को राज्यपाल से स्वीकृत करवाने तथा राज्यपाल द्वारा चाही गयी कोई सूचना उपलब्ध करवाने आदि में मुख्यमंत्री अपनी कुशलता तथा दृढ़ता का परिचय देता है मुख्यमंत्री राज्य प्रशासन की धुरी है।

8. **राज्य के प्रतिनिधि के रूप में**— हमारे संविधान में, मुख्यमंत्री, राष्ट्रपति एवं प्रधानमंत्री के बीच औपचारिक संबंधों की कोई व्याख्या नहीं की गयी है। इसके बावजूद मुख्यमंत्री का यह नैतिक दायित्व बनता है कि वह देश के राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति तथा अन्य मंत्रियों से सीधे एवं व्यावहारिक संबंध स्थापित करे। हमारे यहां राज्य सरकारों को निरन्तर प्रधानमंत्री कार्यालय योजना आयोग, केन्द्रीय सचिवालय तथा राष्ट्रीय प्रशासनिक अभिकरणों से दिशा—निर्देश प्राप्त होते रहते है। मुख्यमंत्री को सीधे सम्बोधित इन पत्रों या दिशा निर्देशों के अनुरूप कार्यवाही करना अथवा राज्य के पक्ष को प्रतिनिधि के रूप में मुख्यमंत्री, राष्ट्रीय विकास परिषद, अंतर्राज्यीय परिषद, क्षेत्रीय परिषद तथा अन्य मुद्दों पर राज्य की सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक प्रशासनिक समस्याओं और जनाकांक्षाओं को स्पष्ट करता है। पिछले अनुभवों से यह सिद्ध होता है कि किसी भी राज्य का योजनागत विकास, उस राज्य के मुख्यमंत्री की दूरदर्शिता तथा उन तार्किक क्षमताओं पर निर्भर करता रहा है। यह किसी राज्य के केन्द्र सरकार से सहायता अनुदान, ऋण तथा अन्य सुविधाएँ प्राप्त करने के लिए आवश्यक है। सन् 1990 में लागू उदारीकरण के पश्चात् मुख्यमंत्रियों की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण हो गयी है। यह मुख्यमंत्री की इच्छा शक्ति तथा नेतृत्व पर निर्भर करता है कि वह अपने राज्य के विकास के लिए किस प्रकार की नीतियां निरूपित करता है।

9. **राज्य के प्रशासक के रूप में**— मुख्यमंत्री राज्य का सबसे सशक्त वास्तविक शासन संचालनकर्ता होता है। वास्तव में वह राज्य के प्रशासन का केन्द्र बिन्दु होता है। राज्य में कानून, शान्ति और व्यवस्था को बनाये रखने, विकास कार्यों को गति प्रदान करने, जनसाधारण की कठिनाइयों का निवारण करने तथा नौकरशाही को राज्य के सामाजिक आर्थिक विकास के प्रति प्रतिबद्ध करने के लिए मुख्यमंत्री प्रशासकीय योजनाओं का निर्माण तथा केन्द्र से उसकी स्वीकृति करवाना और राजकोषीय संतुलन को बनाये रखने के लिए कर, शुल्क तथा अन्य विधियों से जनता से राजस्व एकत्र करने में मुख्यमंत्री की कार्यशैली प्रशासन तंत्र को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करती है। इस प्रकार मुख्यमंत्री राज्य का न केवल मुख्य प्रशासक बल्कि मार्गदर्शक होता है।

मुख्यमंत्री लोक सेवकों के नियंत्रणकर्ता, राज्य सरकार का प्रवक्ता, जनमत के निर्माता आदि के रूप में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। संक्षेप में, मुख्यमंत्री का पद राज्य में वास्तविक, प्रभावशाली तथा यथार्थपरक सत्ता का प्रतीक है जिस पर राज्य की सुख्या, शान्ति, प्रतिष्ठा तथा विकास और उसकी दिशा निर्भर होती है।

13.6 मुख्यमंत्री : वास्तविक प्रधान

राज्य के प्रशासन में मुख्यमंत्री का वही स्थान है, जो संघ में प्रधानमंत्री का है। मुख्यमंत्री की शक्तियां अपार तथा असीमित है। समय, स्थिति तथा व्यक्तित्व के अनुसार उसकी शक्तियां घटती—बढ़ती रहती है। सच तो यह है कि जब तक विधानसभा में बहुमत उसके साथ है और शीर्ष नेतृत्व का आशीर्वाद उसे प्राप्त है। तब तक वह एक तानाशाह के समान कार्य कर सकता है। यह सर्वविविदत है कि, एक तानाशाह मनमाने तरीके से अपनी शक्तियों एवं अधिकारों का प्रयोग करता है, परन्तु मुख्यमंत्री स्थापित नियमों एवं अभिसमयों के अनुसार ही

राज्य में शासन करता है। दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि, मुख्यमंत्री की शक्तियां विधि की देन है। अतः ये समस्त शक्तियों एवं अधिकार उसके व्यक्तित्व पर निर्भर करते हैं। मुख्यमंत्री का पद वैसा ही बन जाता है, जैसा उस पद का अधिकारी उसे बनाना चाहता है। भारत में मुख्यमंत्रियों की भूमिका का वर्गीकरण निम्न चार श्रेणियों के आधार पर किया जा सकता है। प्रथम श्रेणी में शक्तिशाली मुख्यमंत्री आते हैं। ऐसे मुख्यमंत्रियों का केन्द्रीय सरकार, राज्य की जनता तथा प्रशासन में पर्याप्त प्रभाव था। उन्हें 'किंग मेकर्स' कहा जा सकता है। द्वितीय श्रेणी में ऐसे मुख्यमंत्री आते हैं इनका व्यक्तित्व विवादास्पद कहा जा सकता है जिन पर भ्रष्टाचार के आरोप लगयो गये। तीसरे घटकों को शक्ति का आधार उनके घटक दलों की संख्या बल था। चौथे, वे मुख्यमंत्री जो केन्द्रीय सरकार के दूत की भूमिका निभाने वाले थे। इनकी जड़े, राजनीति में न होकर शीर्ष नेतृत्व के विश्वास और सहानुभूति पर टिकी हुई थी।

13.7 शक्ति के आधार

किसी राज्य के मुख्यमंत्री की शक्ति का आधार उसकी संवैधानिक स्थिति को माना जाता है। लेकिन, व्यवहार में मात्र, संवैधानिक आधारों पर ही मुख्यमंत्री की शक्ति का आकलन नहीं किया जा सकता है। उसकी संवैधानिक और संस्थागत स्थिति के साथ–साथ निम्नलिखित पहलू भी उसकी शक्ति को प्रभावित करते हें–

प्रथम– किसी मुख्यमंत्री की स्थिति इस बात पर निर्भर करती है कि उसका दलीय स्वरूप कैसा है? अगर वह एक दलीय मुख्यमंत्री है तो उसकी स्थिति और शक्ति सुदृढ़ होगी जैसे उत्तर प्रदेश के वर्तमान मुख्यमंत्री योगी आदित्यनाथ। अगर वह द्वि–दलीय या बहुदलीय संविद सरकार का मुख्यमंत्री है तो उसकी स्थिति कमजोर रहेगी। ऐसी स्थिति में उसे अपने सहयोगी दलों के साथ सामंजस्य स्थापित करने के लिए प्रत्येक दबावों का सामना करते हुए उचित अनुचित समझौते करने पड़ेंगे जैसे – श्री नीतिश कुमार।

द्वितीय– मुख्यमंत्री की स्थिति इस बात पर भी निर्भर करती है कि उसके दल को राज्य विधानसभा में कितना बहुमत प्राप्त है। यदि उसके दल को विशाल बहुमत का समर्थन प्राप्त है तो उसकी स्थिति प्रभावशाली होगी। इसके विपरीत यदि किसी मुख्यमंत्री के दल का बहुत कम या क्षीण बहुमत है तो ऐसी स्थिति में उसकी स्थिति कमजोर होगी।

तृतीय– अल्पमतीय अथवा अन्य दलों के समर्थन पर आश्रित मुख्यमंत्री की स्थिति बहुत कमजोर होती है। ऐसे 'पराश्रित' या 'परजीवी' मुख्यमंत्री खुलकर कोई भी निर्णय नहीं ले सकते हैं।

चतुर्थ– मुख्यमंत्री की चयन प्रक्रिया भी उनकी स्थिति को प्रभावित करती है। अगर किसी मुख्यमंत्री को राज्य विधानमण्डलीय दल द्वारा स्वतंत्र रूप से नेता निर्वाचित किया है, तो उसकी भूमिका शक्तिशाली होती है। दूसरी तरफ यदि मुख्यमंत्री का चयन करते समय विधायकों की राय की उपेक्षा की गयी है; अथवा उनको दल के उच्च कमान द्वारा अपनी पसन्द के व्यक्ति को स्वीकार करने के लिए बाध्य किया गया है, अथवा किसी केन्द्रीय मंत्री अथवा संसद सदस्य को उनके नेता के रूपमें थोपा गया है, तो ऐसे मुख्यमंत्री की शक्ति पर सदैव प्रश्न चिन्ह लगा रहेगा। ऐसे मुख्यमंत्री को राज्य विधानमण्डलीय दल में अपने बहुमत के अभाव के कारण विषम परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है। ऐसी स्थिति में उसके विरूद्ध असन्तुष्ट गतिविधयों को प्रोत्साहन मिलता है। मुख्यमंत्री की अधिकांश शक्ति इन असंतुष्ट गतिविधयों का सामना करने में क्षीण हो जाती है।

पंचम– मुख्यमंत्री की भूमिका इस बात पर निर्भर करती है कि राज्य विधानसभाध्यक्ष के साथ उसके संबंध कैसे हैं? यदि राज्य विधानसभाध्यक्ष के साथ उसके संबंध मधुर नहीं हैं तो उसक अवांछनीय कठिनाइयों और समस्याओं का सामना करना पड़ेगा। परिणामस्वरूप अनेक संवैधानिक और राजनीतिक प्रश्न उठ खड़े होंगे। विधानसभाध्यक्ष की प्रतिकूल भूमिका से ऐसी स्थिति भी उत्पन्न हो सकती है जबकि राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू करने के अलावा अन्य कोई इसका विकल्प ही नहीं रह जाये। पंजाब, पश्चिम बंगाल और तमिलनाडु में यह ही हुआ। दलबदल विधेयक से राज्य विधानसभाध्यक्ष की भूमिका को शक्तिशाली बना दिया है। दलबदल के संबंध में राज्य विधानसभाध्यक्षा कें निर्णय राज्य में रानीतिक तूफान खड़ा कर देते हैं।

षष्ठम्– मुख्यमंत्री की स्थिति इस बात पर निर्भर करती है कि वह कन्द्र में सत्तररूढ़ दल का सदस्य है अथवा नहीं? अगर वह केन्द्र में सत्तारूढ़ दल का है तो उसकी स्थिति मजबूत रहेगी। उसे केन्द्रीय सहायता प्राप्त करने में आर्थिक कठिनाई नहीं होती। इसके अतिरिक्त वह राज्य के लिए केन्द्र से नयी परियोजनाओं को भी

स्वीकृत करा सकेगा साथ ही उसे केन्द्र की अवांछनीय दबाव और भृकुटि दिखाने की राजनीति का भी सामना नहीं करना रहेगा। वह बर्खास्तगी और राष्ट्रपति शासन लागू करने की राजनीति के भय मुक्त रहेगा। दूसरी ओर केन्द्र में सत्तारूढ़ दल के विरोधी दल के मुख्यमंत्री को अनेक संवैधानिक और राजनीतिक समस्याओं का सामना करना पड़ सकता है। उसके सिर पर केन्द्र द्वारा राज्य सरकार की बर्खास्तगी की तलवार लटकती रहती है।

किन्तु उड़ीसा एवं आंध्र प्रदेश के वर्तमान मुख्यमंत्री इसके अपवाद हैं। इन मुख्यमंत्रियों ने अपने राज्यों के विकास के व्यापक हित में केन्द्र राज्य संबंध की मधुर बनाये रखते हुए अपने स्वयं के राजनीतिक दल नीतियों तथा मूल प्रतिबद्धताओं का ध्यान रखा है। केन्द्रीय प्रतिनिधि के रूप में राज्यपाल भी उसकी सरकार के मार्ग में अनेक कठिनाइयां उपस्थित कर सकता है। प्रधानमंत्री और ऐसे मुख्यमंत्री के बीच तनाव का वातावरण चलता रहता है। ऐसे मुख्यमंत्री को केन्द्रीय सहायता प्राप्त करने अपने राज्य की योजना को योजना आयोग से स्वीकृति दिलाने तथा राज्य की नई परियोजनाओं को स्वीकृत कराने में भी अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। केन्द्र की सत्तारूढ़ सरकार के दबाव से मुख्यमंत्री को अपने स्वयं के ही दल के सदस्यों को भी एकजुट रखने की जटिल समस्या का भी सामना करना पड़ता है। ऐसी स्थिति में विपक्ष के वे ही मुख्यमंत्री सक्षमता से कार्य कर पाते हैं, जिनको राज्य विधानसभा में विशाल बहुमत का समर्थन प्राप्त होता है, अथवा जिनका व्यक्तित्व प्रभावशाली होता है।

सप्तम्— किसी राज्य के मुख्यमंत्री की स्थिति इस बात पर भी निर्भर करती है कि प्रधानमंत्री के साथ उसके सम्बन्ध कैसे हैं? प्रधानमंत्री के साथ दलीय और व्यक्तिगत स्तर पर मधुर संबंध किसी भी मुख्यमंत्री को सशक्त बना सकते हैं इसके विपरीत यदि किसी मुख्यमंत्री के प्रधानमंत्री के साथ संबंध मधुर नहीं हैं, तब भी उसे अनेक विषम परिस्थितियों का सामना करना पड़ सकता है।

अष्टम्— किसी मुख्यमंत्री की सुदृढ़ता इस बात पर निर्भर करती है कि दल के उच्च कमान का उसे किस सीमा का समर्थन प्राप्त है। यदि दल के उच्च कमान का उसे पूर्ण समर्थन प्राप्त है तो वह अपने दल के असन्तुष्टों के विरोध के बावजूद भी निर्भीकता और दृढ़ता से कार्य करेगा। अगर वह दल के उच्च कमान के विरोध अथवा नाराजगी प्रदर्शित करने के बावजूद भी राज्य विधानमण्डल में अपने समर्थन के कारण मुख्यमंत्री निर्वाचित हुआ है, तो उसे सदैव का दल के उच्च कमान की नाराजगी का सामना करना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में राज्य में असुन्तष्ट गतिविधियों को प्रोत्साहन मिल सकता है। दल के उच्च कमकान से प्रोत्साहन पाकर असन्तुष्टों द्वारा नेतृत्व परिवर्तन की मांग भी दोहरायी जा सकती है। इससे राज्य में अस्थिरता और अनिश्चिचता का वातावरण बनता है।

नवम्— किसी राज्य के मुख्यमंत्री की शक्ति इस बात पर निर्भर करती है कि उसे अपने मंत्रिमण्डल का निर्माण करने और उसमें परिवर्तन करने की कितनी स्वतंत्रता प्राप्त है। यदि उसे इस दिशा में पूरी स्वतंत्रता है, तो ऐसी स्थिति में वह अपनी अनुकूलता से अपने मंत्रिमण्डलीय सहयोगियों का चयन करेगा। ऐसी मंत्रिपरिषद पर मुख्यमंत्री का पूर्ण नियंत्रण और वर्चस्व रहेगा। अगर वह मंत्रिमण्डल का निर्माण करने और उसमें परिवर्तन करने के लिए पूरी तरह से दल के उच्च कमाल की ही इच्छा पर निर्भर करता है तो उसकी संस्थागत स्थिति अत्यन्त कमजोर हो जायेगी। ऐसी स्थिति में मुख्यमंत्री का दायित्व उच्च कमान द्वारा स्वीकृत नामों को राज्यपाल के पास मंत्रियों के रूप में शपथ दिलाने हेतु सिफारिश करने मात्र तक ही रह जायेगा। इतना ही नहीं, दल के उच्च कमान द्वारा स्वीकृति की जाने वाली मंत्रिपरिषद की इस सूची में ऐसे लोगों को भी स्थान दिया जा सकता है जो कि उसके घोर राजनीतिक विरोधी हों।

13.8 निष्कर्ष :

अतः कहा जा सकता है कि, मंत्रिपरिषद बेमेल अथवा *भानूमती का कुनबा* समूह बनकर रह जायेगी। मुख्यमंत्री के ये विरोधी मंत्री, उसकी इच्छाओं की अवहेलना करके सामानान्तर सरकार चला करके उसकी स्थिति को कमजोर कर सकते हैं। ऐसी स्थिति में मुख्यमंत्री न तो उनके विभागीय मामलों में ही हस्तक्षेप कर सकेगा और न ही दल के उच्च कमान की स्वीकृति से बने ऐसे मंत्री ही मुख्यमंत्री के विरुद्ध असन्तुष्ट गतिविधियों का संचालन करने तथा असन्तुष्टों की सहायता करके उसकी स्थिति को कमजोर बना सकते हैं।

13.9 सारांश :

अतः हम कह सकते है कि फलतः इस दिशा में मुख्यमंत्री का न तो मंत्रिपरिषरद पर सुदृढ़ नियंत्रण रहेगा और न ही वह उससे एक सुसंगठित इकाई के रूप में कार्य ले सकेगा। दूसरी ओर, यदि किसी राज्य के मुख्यमंत्री को अपने मंत्रिमण्डलीय सहयोगियों के चयन करने की पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त हो, तो वह अपनी पसन्द के व्यक्तियों को मंत्रिपरिषद में स्थान देगा। ऐसी मंत्रिपरिषद एक सुसंगठित इकाई की तरह कार्य करेगी। साथ ही मुख्यमंत्री ऐसी मंत्रिपरिषद को सशक्त नेतृत्व प्रदान करेगा। इतना ही नहीं, समय आने पर वह सभी मंत्रियों से त्यागपत्र लेकर अपनी मंत्रिपरिषद् का पुनर्गठन भी कर सकेगा। ऐसा मुख्यमंत्री ही शक्तिशाली ढ़ंग से कार्य कर सकता है। जैसे राजस्थान के मुख्यमंत्री श्री अशोक गहलोत।

13.10 कुछ उपयोगी पुस्तके

1. बसु, दुर्गादास, भारत का संविधान, लेक्सिस नोक्सिस, नई दिल्ली, वर्ष 2009,
2. काश्यप, सुभाष, हमारा संविधान, एन.बी.टी. 1995, 2005,
3. सिंह अभय प्रसाद : समकालीन भारत में विकास की प्रक्रिया और सामाजिक आंदोलन, ओरियंट ब्लैकस्वॉन, नई दिल्ली, वर्ष 2015,
4. नारंग, अमरजीत सिंह : भारत शासन एवं राजनीति : गीतान्जली पब्लिशिंग हाउस, 2009–10, नई दिल्ली,
5. नारायण, इकबाल :स्टेट पॉलिटिक्स इन इंडिया, मेरठ, मीनाक्षी प्रकाशन, 1967,
6. पायली, एव.बी. भारतीय संविधान का परिचय, विकास पब्लिकेशन हाऊस प्रा0 लि. नई दिल्ली, 1996

13.11 बोध प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1– मुख्यमंत्री के चयन की प्रक्रिया का वर्णन कीजिए।

2– मुख्यमंत्री और राज्य मन्त्रिपरिषद को किस प्रकार हटाया जा सकता है?

3– मुख्यमंत्री के कार्यो और भूमिका का वर्णन कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1– संविद सरकार में मुख्यमंत्री का चयन किस प्रकार होता है?

2– क्षेत्रीय पार्टियों में क्या नेता का निर्धारण चुनाव से पूर्व होता है? स्पष्ट कीजिए।

3– मुख्यमन्त्री के कार्यो का वर्णन कीजिए।

इकाई–14 राज्य विधानमंडल और उसकी प्रणाली

इकाई की रूपरेखा

14.0 उद्देश्य

14.1 प्रस्तावना

14.2 विधानमण्डल की शक्तियाँ एवं कार्य

14.3 विधानसभा और विधानपरिषद में सम्बन्ध

14.4 निष्कर्ष

14.5 सारांश

14.6 बोध प्रश्न

14.7 कुछ उपयोगी पुस्तके

14.0 उद्देश्य

इस इकाई में भारतीय शासन व्यवस्था में विधानमण्डल के बारे में तथ्यात्मक एवं गूढ जानकारी दी गयी है। इस इकाई के अध्ययन उपरान्त छात्रों को भारतीय राजनीतिक व्यवस्था के बारे में ज्ञान का परिवर्धन एवं परिमार्जन होगा।

14.2 प्रस्तावना

संविधान के अनुच्छेद 168 के अनुसार प्रत्येक राज्य में एक विधानमण्डल होगा, जिसमें एक राज्यपाल और एक या दो सदन होंगे। जिस राज्य में एक सदन होगा उसे विधान सभा और जिस राज्य में दो सदन होंगे, उसे विधानसभा और विधान परिषद कहेंगे। वर्तमान समय में 6 राज्यों उत्तर प्रदेश, बिहार, महाराष्ट्र, आन्ध्रप्रदेश, कर्नाटक और तेलंगाना में दो सदनात्मक व्यवस्था है। संसद ने पंजाब में भी विधान परिषद के गठन की अपनी अनुमति दे दी है। उत्तर प्रदेश में 1861 के अधिनियम के अन्तर्गत 1886 ई0 में विधान परिषद का गठन किया गया है। 8 जनवरी 1987 ई0 को विधान परिषद की प्रथम बैठक हुयी थी। प्रारम्भ में विधान परिषद के 9 सदस्य थे, लेकिन समय–समय पर इसकी सदस्य संख्या में वृद्धि होती रही। सन् 1935 ई0 में गवर्नमेन्ट इण्डिया ऐक्ट पारित हुआ, जिसमें द्विसदनीय व्यवस्था का प्रारम्भ किया गया। प्रथम सदन का नाम विधान सभा और दूसरे सदन का नाम विधानपरिषद रखा गया। उस समय विधानसभा के 228 सदस्य और विधानपरिषद में 60 सदस्य थे।

प्रारम्भ में प्रत्यक्ष निर्वाचन के अन्तर्गत महिलाओं, अनुसूचित जातियाँ, अनुसूचित जनजातियों और मुसलमानों के लिए अलग–अलग निर्वाचन की व्यवस्था थीं। सन् 1935 ई0 में इसमें संशोधन किया गया और एकल संक्रमणीय मत प्रणाली की व्यवस्था की गयी। इसमें 4 उम्मीदवार खड़े होते थे और एक के निर्वाचित होने की व्यवस्था थी। उस समय मतदान का आधार सम्पत्ति थी। सन् 1947 ई0 के पूर्व हमारे प्रान्त का नाम संयुक्त प्रान्त था और संविधान में उत्तर प्रदेश शब्द का प्रयोग किया गया। संविधान में आरक्षित सीट को भी व्यवस्था की गयी हैं। वर्तमान समय में उत्तर प्रदेश में विधानमण्डल के दो सदन हैं – विधानसभा और विधान परिषद। विधानसभा में 93 स्थान आरक्षित हैं।'

14.3 विधानमण्डल की शक्तियाँ एवं कार्य

राज्य विधानमण्डल के प्रमुख कार्य निम्न है –

1. **विधायी शक्तियाँ** – साधारण विधेयक विधानमण्डल के किसी भी सदन में प्रस्तुत किये जा सकते हैं, लेकिन दोनों सदनों द्वारा उसे पारित होना चाहिए। यदि विधानसभा द्वारा कोई विधेयक पारित होने के पश्चात विधानपरिषद द्वारा अस्वीकार कर दिया जाता है या विधान परिषद के समक्ष विधेयक रखे जाने

की तिथि से तीन मास तक विधेयक पारित नहीं किया जाता या विधान परिषद ऐसे संशोधन पेश करे जिन्हें विधानसभा स्वीकार न करें, तो विधानसभा उस विधेयक को पुनः पारित करके विधानपरिषद को भेजती है। यदि विधानपरिषद पुनः उसको अस्वीकार कर दे और इस बीच एक माह का समय व्यतीत हो जाये, तो विधेयक विधान परिषद की असहमति के बाद भी दोनों सदनों द्वारा पारित मान लिया जायेगा और हस्ताक्षर के लिए विधेयक को राज्यपाल के पास भेज दिया जाता है। इस प्रकार विधापरिषद विधानसभा द्वारा पारित विधेयक को केवल 4 मास तक रोक सकती है। इसके अतिरिक्त उसे कोई अधिकार नहीं है।

2. **कार्यपालिका शक्तियाँ** – मंत्रिमण्डल राज्य की विधानसभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी होता है। मंत्रिमण्डल तभी तक कार्य कर सकता है, जब तक विधानसभा में उसका बहुमत हो। विधानसभा के सदस्य अविश्वास प्रस्ताव द्वारा मंत्रिमंडल को हटा सकते हैं।

3. **वित्तीय शक्तियाँ** – वित्त विधेयक केवल विधानसभा में ही प्रस्तुत किये जा सकते हैं, विधान परिषद में नहीं। विधानसभा द्वारा पारित वित्त विधेयक को विधान परिषद केवल 14 दिवस तक रोक सकती है। संविधान में लिखा गया है कि सदन प्रत्येक वर्ष आय–व्यय से सम्बन्धित बजट पारित करेगा। संविधान निर्माताओं ने इस बात की व्यवस्था की है कि कुछ विशेष परिस्थितियों में बजट पारित न हो सके तो लेखानुदान कुछ महीनों के लिए पारित कर दिया जाये।

4. **अन्य कार्य** – विधानसभा के निर्वाचित सदस्य राष्ट्रपति के निर्वाचन में भाग लेते हैं। संविधान में कुछ संशोधनों के लिए विधानसभा के सहयोग की आवश्यकता होती है। यदि राज्य में विधान परिषद है तो उसके एक तिहाई सदस्यों का निर्वाचन विधानसभा करती हैं।

कानून का निर्माण :–

राज्य में विधियों के निर्माण का अधिकार राज्य विधानमण्डल को प्राप्त है। विधानमण्डल द्वारा विधेयक पारित होने के बाद हस्ताक्षर के लिए राज्यपाल के पास भेजा जाता है। उसके हस्ताक्षर के बाद वह कानून का रूप धारण कर लेता है।

विधेय के प्रकार – विधेयक दो प्रकार के होते हैं –

1. सरकारी विधेयक

2. गैरसरकारी विधेयक

सरकारी विधेयक वह होता है, जिसे मंत्रिपरिषद का कोई सदस्य प्रस्तुत करता है। मंत्रिपरिषद के अतिरिक्त विधानमण्डल का कोई सदस्य जब किसी विधेयक को प्रस्तुत करता है, तो उसे गैर सरकारी विधेयक कहते हैं। विधेयकों के संदर्भ में तीन निर्णय हो सकती हैं –

1. विचार कर लिया जाय,

2. समिति को दे दिया जाय,

3. जनमत कराया जाय।

उत्तर प्रदेश में 5 प्रतिशत विधेयक समिति को सौंपे जाते हैं शेष विधेयकों पर विचार कर लिया जाता है। समिति दो प्रकार की होती है –

1 प्रवर समिति – इसमें केवल एक सदन के सदस्य अर्थात् विधानसभा के सदस्य होते हैं।

2 **संयुक्त समिति** – इसमें दोनों सदनों के सदस्य होते हैं।

14.4 विधानसभा और विधानपरिषद में सम्बन्ध

उत्तर प्रदेश में विधान मण्डल के दोनों सदनों में कोई विशेष गतिरोध नहीं रहा। 5वीं विधानसभा तक कोई ऐसा विधेयक नहीं था, जिसे विधानसभा ने पारित कर दिया हो और उसे विधानपरिषद ने पारित न किया हो। कुछ गतिरोध सन 1977 ई0 में आया जब विधानसभा में जनता पार्टी की सरकार थी और विधानपरिषद में

कांग्रेस का बहुमत था। सन 1979 ई0 में विधानसभा ने विश्वविद्यालय संशोधन बिल पारित कर दिया, लेकिन विधान परिषद ने उसे पारित नहीं किया। श्री मुलायम सिंह के समय सन 1991 ई0 में उस समय गतिरोध की स्थिति आ गयी जब विधानसभा द्वारा वित्त विधेयक को पारित होने के बाद दोनों सदन अनिश्चितकाल तक स्थगित कर दिया गया। सभापति द्वारा जब विरोध जताया गया तो श्री मुलायम सिंह विधान परिषद को अनावश्यक समझने लगे। लेकिन गतिरोध वहीं पर समाप्त हो गया। इसके बाद दोनों सदनों में कोई गतिरोध नहीं हुआ है।

मंत्रिपरिषद और विधानमण्डल में सम्बन्ध

कार्यपालिका और व्यवस्थापिका के मध्य सम्बन्ध – कार्यपालिका, व्यवस्थापिका (विधानसभा) के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी है और व्यवस्थापिका का नियंत्रण कार्यपालिका पर होता है। व्यवस्थापिका, कार्यपालिका पर निम्न प्रकार से नियंत्रण करती है –

1. **प्रश्न पूछकर** – विधानमण्डल के सदस्य मंत्री से प्रश्न पूछकर कार्यपालिका पर नियंत्रण करते हैं। प्रश्न तीन प्रकार के पूछे जाते हैं –

अ) अल्पसूचित प्रश्न – ऐसे प्रश्न कम सूचना पर पूछे जा सकते हैं। सदस्य प्रश्न पूछने की सूचना अध्यक्ष को देता है। अध्यक्ष उसकी सूचना मंत्री को देता है। इसके बाद मंत्री अपने विभाग को सूचित करता है। ऐसी सूचना सदस्य अध्यक्ष को तीन दिन पूर्व देते हैं।

ब) तारांकित प्रश्न– तारांकित प्रश्न पूछने के लिए 20 दिन पूर्व सदस्य द्वारा अध्यक्ष को नोटिस दी जाती है। अध्यक्ष को सूचित करता है। इसमें मंत्री प्रश्नों का उत्तर मौखिक रूप से देता है।

स) अतारांकित प्रश्न – इसमें लिखित जवाब दिया जाता है। प्रश्न पूछने के लिए सदस्य अध्यक्ष को नोटिस देता है। इसके बाद अध्यक्ष सम्बन्धित विभाग के मंत्री को देता है। प्रश्नों का उत्तर लिखित रूप में मंत्री अध्यक्ष को देता है और अध्यक्ष सदस्य को देता है।

इस तरह प्रश्न पूछकर सदन ने कार्यपालिका को नियन्त्रित करने का काफी प्रयास किया है।

2. कार्य स्थगन प्रस्ताव – जैसा कि शब्द से ही स्पष्ट है कि जिस पर सदन की कार्यवाही चल रही है, उसे स्थगित कर किसी महत्वपूर्ण विषय पर विचार किया जाये। कोई सदस्य किसी महत्वपूर्ण विषय पर विचार करने के लिए सदन में आवाज उठा सकता है। इसे पारित होने पर मंत्रिपरिषद अल्पमत में मानी जाती है और उसे अपने पद से त्यागपत्र देना पड़ता है।

3. ध्यानाकर्षण प्रस्ताव – अगर कोई सदस्य चाहता है तो सदन का ध्यान किसी कार्यवाही की तरफ आकर्षित करा सकता है। यदि कोई अध्यक्ष आवश्यक समझे तो थोड़ी–सी चर्चा उस विषय पर करा सकता है।

4. अविश्वास प्रस्ताव – विधानसभा का कोई सदस्य सरकार के विरुद्ध अविश्वास की नोटिस अध्यक्ष को दे सकता है, लेकिन सदन में विचार के लिए तभी स्वीकार होगा जब 1/5 सदस्यों के उस पर हस्ताक्षर होंगे। इसके बाद सदन में वाद–विवाद होता हैं और अन्त में मतदान होता है। इसके पारित होने पर सरकार को अपने पद से त्यागपत्र देना पड़ता है।

5. धन्यवाद प्रस्ताव – राज्यपाल के अभिभाषण के बाद धन्यवाद प्रस्ताव रखा जाता है। इसके पारित नहीं होने पर मंत्रिपरिषद को अपने पद से त्यागपत्र देना होता है। उत्तर प्रदेश में अब तक दो बार ऐसा प्रस्ताव पारित हुआ हे–

अ) 3 अप्रैल 1967 ई0 को चन्द्रभानु गुप्त के विरुद्ध

ब) 30 मार्च 1971 ई0 को त्रिभुवन नारायण सिंह के विरुद्ध।

6. सरकार को सलाह देना – कभी–कभी सदस्य सरकार को राय देकर उसके पक्ष में प्रस्ताव पारित करते हैं। जैसे– बांग्लादेश को लेकर भारत–पाक युद्ध के बाद एन.डी. तिवारी ने कहा हम अपने सैनिकों को बधाई देते हैं, तो सदन ने उसे पारित कर दिया। इस प्रकार विधानसभा के सदस्यों ने सरकार को नियंत्रित करने का प्रयास किया है।

विधायी व्यवहार

विगत कुछ वर्षों से विधान मण्डल के सदस्यों द्वारा अध्यक्ष के प्रति अच्छे व्यवहार नहीं किये जा रहे हैं। हांलाकिसदन में शिक्षित सदस्य आ रहे हैं। लेकिन उनके द्वारा जो व्यवहार किया जा रहा है उसे हम अच्छा नहीं कह सकते हैं। इसके निम्न कारण हैं –

1. **वाद–विवाद का स्तर उच्च नहीं कहा जा सकता** – अध्यक्ष द्वारा अधिकांश प्रश्नों को सदन की कार्यवाही से इसलिए निकाल दिया जाता है कि सदस्य द्वारा गलत भाषा का प्रयोग किया जाता है।

2. **सीमित सदस्यों द्वारा सदन की विधायी गतिविधियों में भाग लेना** – कुछ सदस्य ऐसे हैं, जिन्होंने हमेशा सदन की कार्यवाही में भाग लिया है। लेकिन अधिकांश सदस्यों ने पूरे समय तक सदन में प्रश्न ही नहीं किया। 90 प्रतिशत सदस्य केवल रजिस्टर पर हस्ताक्षर करने के लिए आते हैं। कुछ सदस्य ऐसे होते हैं, जो सदन में प्रत्येक विषय पर बोलते हैं।

3. **नियमों का ज्ञान नहीं** – सदस्यों द्वारा काफी प्रश्न नियमों के अन्तर्गत नहीं पूछे जाते है। इसीलिए अधिकांश प्रश्न रद्द कर दिये जाते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि, हमारे सदस्यों को विधायी ज्ञान नहीं हैं। एक सर्वेक्षण के अनुसार विधायकों के अध्ययन के लिए जिस पुस्तकालय की व्यवस्था सचिवालय में की गयी उसमें विगत 7 वर्षों में मात्र एक दर्जन विधायक ही अध्ययन करने के लिए गये हैं। इसमें यह स्पष्ट होता कि, हमारे विधायक शिक्षा में रूचि नहीं ले रहे हैं। जहाँ पर कभी सम्पूर्णानन्द, चरण सिंह, पुरुषोत्तमदास टंडन जैसे महापुरुष आये दिन पुस्तकालय आया करते थे। वर्तमान समय में अधिकांश विधायक सदन नहीं आते हैं।

4. **सदस्यों द्वारा प्रायः सदन बर्हिगमन** – उत्तर प्रदेश में सदस्यों द्वारा सदन का ज्यादा से ज्यादा वाक–आउट किया गया है। अध्यक्ष ने किसी सदस्य को बोलने की अनुमति नहीं दी तो वे सदन से बाहर चले गये। मंत्री सम्बन्धित प्रश्न के उत्तर से असन्तुष्ट होकर भी कभी–कभी सदस्य सदन का बहिर्गमन करते हैं। यह प्रवृत्ति संसदीय परंपरा के लिए शुभकर नहीं है।

5. **आचरण के नियमों का पालन नहीं** – हमारे सदस्यों द्वारा कभी–कभी गलत आचरण का प्रयोग किया गया है। सदस्यों के आचरण के यह नियम 286 से 294 तक विस्तार से बताया गया है, जैसे –

अ) यदि अध्यक्ष बोलने की अनुमति नहीं देते हैं, तो सदस्य को नहीं बोलना चाहिए।

ब) अध्यक्ष और बोलने वाले सदस्य के बीच से किसी को हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए।

स) परिमार्जित एवं संसदीय भाषा का प्रयोग करना चाहिए।

द) किसी सदस्य पर व्यक्तिगत आक्षेप नहीं लगाना चाहिए।

य) जब एक सदस्य बोल रहा है, तब उसकी बात समाप्त हुए बिना दूसरे सदस्य को नहीं बोलना चाहिए।

र) सदस्य के बाहर जाने के लिए यदि अध्यक्ष कहता है तो बाहर चले जाना चाहिए।

14.5 निष्कर्ष

यह गम्भीर चिन्ता का विषय है कि, इस प्रकार सदस्यों द्वारा सदन में अनुचित व्यवहार नहीं करना चाहिए। यदि सदस्य अध्यक्ष की बातों को नहीं मानता है तो उसके द्वारा वह सदन की कार्यवाही से शेष अवधि के लिए निलम्बित कर दिया जाता है। जैसे – वर्तमान लोकसभा में आप सांसद संजय सिंहै इतना ही नहीं राज्य विधान सभाओं में भी विधायकों द्वारा अमर्यादित आचरण किया जा रहा है। जैसे– उत्तर प्रदेश में विधानसभा के अन्दर सदस्यों द्वारा जो व्यवहार किया जा रहा है, उसकी कल्पना हम नहीं कर सकते है, जैसे– दिसम्बर, 1993 में सदस्यों ने आपस में ही मार–पीट कर लिया क्या हम इसे उचित कह सकते हैं? इसके बाद अनेक राज्यों के विधानसभा सदस्य आपस में सदन में मारपीट करते हैं तथा लड़ते–झगड़ते देखते गये। यदि सदस्य जो जनता के प्रतिनिधि होते हैं ऐसा करते हैं तो 1. इसके लोकतंत्र के विपरीत कहा जा सकता है।

14.6 सारांश

उपरोक्त अध्ययन के उपरान्त यह कहा जा सकता है कि, जिस प्रकार संसद संसदीय व्यवस्था की रीढ़ है, उसी प्रकार राज्यों के विधानमण्डल राज्यो की राजनीतिक व्यवस्था के केन्द्र विन्दु होगे। विधानमण्डल

कार्यपालिका की स्वेच्छाचारिता, निरंकुशता पर प्रतिबंध लगाता है। अतः विधानमण्डल के सदस्यों का आचरण भी आदर्श होना चाहिए क्योकि विधानमण्डल के सदस्य जनता का प्रतिनिधित्व करते है। अतः सदस्यों को रचनात्मक, सहयोगात्मक और विकास पूर्ण रवैया अपनाना चाहिए। ताकि आम जनता लाभान्वित हो सके।

14.7 बोध प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1– विधानसभा के गठन एवं कार्यो की समीक्षा कीजिए।

2– विधानसभा राज्य मन्त्रिपरिषद को किस प्रकार नियन्त्रित कराती है?

3– विधानपरिषद की रचना तथा शक्तियों का वर्णन कीजिए।

4– विधानसभा अध्यक्ष की शक्तियों का वर्णन कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1– विधानसभा और विधान परिषद में सम्बन्ध बताइये

2– विधानपरिषद के सभापति को कौन से अधिकार प्राप्त है?

3– विधानमण्डल के सदस्यों के विधायी व्यवहार एवं आचरण पर प्रकाश डालिए।

14.8 कुछ उपयोगी पुस्तके

1. अग्रवाल आर.रसी. : भारतीय संविधान का विकास तथा राष्ट्रीय आंदोलन, एस. चन्द्र एंड कम्पनी लि. नई दिल्ली, 2001,
2. लक्ष्मीकांत, एम : भारत की राज्यव्यवस्था, टाटा मैक्ग्रा हिल पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 2007,
3. नारंग, अमरजीत सिंह : भारतीय शासन एवं राजनीति, गीतांज्जली पब्लिसिंग हाऊस, नई दिल्ली, 2009–10,
4. शर्मा, ब्रजकिशोर : भारत का संविधान, पी.एच.आई प्राइवेट लि0 दिल्ली, अप्रैल 2017,
5. बसु, दुर्गादास, भारत का संविधान, लेक्सिस नोक्सिस, नई दिल्ली, वर्ष 2009,
6. काश्यप, सुभाष, हमारा संविधान, एन.बी.टी. 1995, 2005,
7. सिंह अभय प्रसाद : समकालीन भारत में विकास की प्रक्रिया और सामाजिक आंदोलन, ओरियंट ब्लैकस्वॉन, नई दिल्ली, वर्ष 2015,
8. नारंग, अमरजीत सिंह : भारत शासन एवं राजनीति : गीतान्जली पब्लिशिंग हाउस, 2009–10, नई दिल्ली,
9. नारायण, इकबाल :स्टेट पॉलिटिक्स इन इंडिया, मेरठ, मीनाक्षी प्रकाशन, 1967,
10. पायली, एव.बी. भारतीय संविधान का परिचय, विकास पब्लिकेशन हाऊस प्रा0 लि. नई दिल्ली, 1996
11. सिंह, महेंद्र प्रसाद, राय, हिमांशु : भारतीय राजनीतिक प्रणाली संरचना, नीति और विकास, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली, 2013,
12. चंद्र, विपिन : समकालीन भारत, अनामिका पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 2015,
13. चंद्र विपिन : आजादी के बाद का भारत, हिन्दी माध्यम कार्यनवय निदेशालय, दिल्ली वि.वि. दिल्ली, 2010,
14. कोठारी, रजनी : कास्ट इन इंडियन पॉलिटिक्स, ओरिएंट लॉगमैन, नई दिल्ली, 1970,
15. रूडोल्फ एंड रूडोल्फ, द मॉडर्निटी ऑफ ट्रेडिशन, पोलिटिकल डेवलपमेंट इन इंडिया, ओरिएंट लांग

मैन, हैदराबाद 1967 पृष्ठ 79

16. दुबे अभय कुमार : सेक्युलर साम्प्रदायिक, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली,

17. सईद, एस.एम. : भारतीय राजनीतिक व्यवस्था, भारत बुक सेन्टर लखनऊ 2013

इकाई–15 भारत में राज्यों की राजनीति की पृष्ठभूमि

इकाई की रूपरेखा

15.0 उद्देश्य

15.1 प्रस्तावना

15.2 भारत में राज्यों की राजनीति की पृष्ठभूमि

15.3 सामाजिक–सांस्कृतिक एवं आर्थिक कारक

15.4 धार्मिक एवं राजनीतिक कारक

15.5 भारत की राजनीतिक संस्कृति

15.6 सारांश

15.7 अभ्यास प्रश्न

15.8 उपयोगी पुस्तकें

15.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप–

- भारत में राज्यों की राजनीति की पृष्ठभूमि को समझ सकेंगें।
- सामाजिक आर्थिक सांस्कृतिक तत्वों को समझ सकेंगे।
- धार्मिक एवं राजनीतिक तत्वों को समझ सकेंगे।
- भारत की राजनीतिक संस्कृति को जान सकेंगे।

15.1 प्रस्तावना

भारतीय राज्यों के सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, धार्मिक एवं राजनीतिक परिवेश में भिन्नता पाई जाती है। यद्यपि एक ही शासन व्यवस्था से देश के समस्त राज्यों के राज्य शासित होते हैं। एक ही राजनीतिक व्यवस्था सम्पूर्ण राष्ट्र में एक समान लागू है तथा देश से समस्त राज्य संविधान से निर्देशित होते हैं। फिर भी राज्यों की सामाजिक ऐतिहासिक, भौगोलिक भाषा आदि की परिस्थितियों में भिन्नता पाई जाती है।

भारत में क्रमशः प्राचीनकाल मध्यकाल एवं आधुनिक काल में कंबीलाई गणतंत्रीय, राजतंत्रीय एवं लोकतंत्रीय शासन व्यवस्था के रूप में शासन व्यवस्था उभर कर सामने आई। स्वतंत्रता पश्चात देश के सभी क्षेत्रों को एक राष्ट्रीय राज्य मे सम्मिलित कर उसे एक रुपता प्रदान की गई है किन्तु सदियों से चली आ रही क्षेत्रों की विभिन्नता समाप्त नहीं हो सकी है इसलिए भारतीय संविधान में विविधता में एकता को प्रमुखता प्रदान की गई है। जिससे राष्ट्रीय एकता को बल मिला है।

15.2. भारत में राज्यों की राजनीति की पृष्ठभूमि

भारतीय राज्यों के सामाजिक आर्थिक, सांस्कृतिक, धार्मिक राजनीतिक परिवेश में भिनता पाई जाती है यद्यपि राजनीतिक व्यवस्था सम्पूर्ण राष्ट्र में एक समान व्याप्त है तथा एक ही संविधान से राज्य निर्देशित होते हैं। फिर भी राज्य की सामाजिक ऐतिहासिक, भौगोलिक भाषा आदि की परिस्थितियों में भिन्नता पाई जाती है भारतीय राज्यों की राजनीति के निर्धारण कई कारको का योगदान है। जैसे– ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, भौगोलिक कारक, संवैधानिक कारक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक कारक आर्थिक कारक, राजनीतिक कारक राजनीतिक संस्कृति आदि। प्रत्येक राज्य का राजनीतिक विकास एक दूसरे से भिन्न है भारतीय सामाजिक रीति–रीवाज शासन की संरचनाओं को प्रभावित करते है।

1. ऐतिहासिक पृष्ठभूमि–

भारत में राज्यों की राजनीति की विशेषताएं विभिन्न राज्यो मे भिन्न–भिन्न है। जबकि पूरे देश मे एक ही शासन व्यवस्था है। आजादी से पूर्व भारत एक विशाल भौगोलिक एवं

राजनीतिक क्षेत्र में फैला हुआ था। प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक क्रमशः कवीलाई शासन व्यवस्था, गणतंत्रीय शासन व्यवस्था, राजतंत्रीय शासन व्यवस्था तथा लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था उभर कर सामने आयी।

अलग–अलग क्षेत्रों की आर्थिक, राजनीतिक सामाजिक एवं वैचारिक मूल्य एवं परिस्थितियाँ भिन्न थीं। प्रसिद्ध राजनीतिक विद्वान माइरन वीरन के अनुसार स्वतंत्रता के पश्चात देश के सभी क्षेत्रों को एक राष्ट्रीय राज्य में सम्मिलित करके उसे एक रुपता प्रदान की गई। परन्तु सदियों से चली आ रही राज्यों की विभिन्नता समाप्त नहीं हो सकी क्योंकि देश के अलग राज्यों में भौगोलिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक दशाएं भिन्न है। राज्यों के शासन व्यवस्था को सुविधाजनक बनाने के लिये अनेक विभागो की रचनाएं की गई है जैसे– वन विभाग, निरीक्षण विभाग, संरक्षण विभाग आदि। राज्य सरकार और प्रशासन के माध्यम से कार्य करता है। राज्य के उद्देश्य और नीतियाँ कितनी प्रभावशाली आकर्षक उपयोगी क्यों न हो, परन्तु उनसे उस समय तक कोई लाभ नहीं हो सकता जब तक कि उनको प्रशासन के द्वारा कार्यरूप मे परिवर्तित न कर दिया जाये।

2. भौगोलिक कारक

भारत देश में का अधिकांश भाग दक्षिणी एशिया में एक प्रायद्वीप पर स्थित है। जो हिन्द महासागर से जुड़ा हुआ है। दक्षिण पश्चिम में अरब सागर भारत की सीमा बनाता है और दक्षिण–पूर्व में बंगाल की खाड़ी इसकी सीमा बनाती है। देश मे भौगोलिक अवस्थित तथा उच्चावच, पहाड़ पठार तथा नदियो क मैदानी भाग पूरे देश में एक समान नही हैं। भौगोलिक दृष्टि से पूर्वोत्तर भारत भी सांस्कृतिक साहित्यिक तथा राजनीतिक परिवर्तनों से भिन्न रहा है। दूसरी तरक विशाल जनसंख्या वाले राज्य भी हैं। भौगोलिक विविधता के कारण ही विविध राज्यो की भौगोलिक स्थिति में विविधता को प्रभाव उस समय की आर्थिक स्थिति तथा अपरोक्ष रूप से राजनीतिक स्थिति को प्रभावित करती है।

3. संवैधानिक कारक

संविधान द्वारा जिस प्रकार के संघात्मक शासन की व्यवस्था की गई है। इसमें केन्द्रीय सरकार को राज्यों की अपेक्षा उच्च और राज्यों पर नियंत्रण की स्थिति प्राप्त है। अतः केन्द्रीय शासन से राज्य राजनीति प्रभावित रहती है। भारतीय संघीय ढांचे के रूप को निर्धारित करने वाले संविधान के प्रावधान से निर्धारीत केन्द्र एवं राज्यों के मध्य विधायी, प्रशासनिक एवं वित्तीय सम्बन्धों ने इसके अतिरिक्त अन्य प्रावधान जैसे अनुच्छेद 370 जो कि अब समाप्त कर दिया गया है। तथा अन्तर्राष्ट्रीय सीमा से सटे राज्यो को विशेष दर्जा

कुछ अन्य राज्यों के लिये विशेष प्रावधान। राज्यपाल के केन्द्र के प्रतिनिधि के रूप में उसकी भूमिकों ने राज्यों की राजनीति को प्रभावित किया है।

4. सामाजिक एवं सांस्कृतिक कारक

सामाजिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से भारत के विभिन्न राज्यों सामाजिक संरचना भिन्न–भिन्न है। जैसे किसी राज्य में जति तो कही सम्प्रदाय, कही जनजाति, तो ही भाषा प्रबल होते हैं। जातीय संरचना में अगडे, पिछणे अनुसूचित जातियाँ, अनुसूचित जनजातियों आदि राज्य को प्रभावित करती है। देश में विभिन्न क्षेत्रो की जातियों ने जन समुदाय को संगठित करने जनचेतना के प्रसार तथा दबाव समूहों का कार्य किया है। लेकिन जाति व्यवस्था भारतीय राजनीति का महत्वपूर्ण तत्व होते हुये भी देश के सभी भागों मे जाति व्यवस्था की भूमिका समान नहीं है। विभिन्न राज्यों में जाति समूहों की भूमिका अलग–अलग है। उत्तर भारत के राज्यो में उच्च जातियो एवं पिछली जातियों के हितो के संघर्ष महाराष्ट्र एवं पंजाब के मध्य कृषक जातियों के बीच वर्चस्व का संघर्ष, वही दक्षिण भारत में ब्रह्मण एवं निचली जातियो के बीच संघर्ष आदि राज्य राजनीति को प्रभावित करते हैं, तथा राज्यों की चुनावी राजनीति को भी प्रभावित करते हैं। सांस्कृतिक कुछ राज्य वर्तमान में भी परम्पराजन्य मूल्यों को जारी रखे हुए हैं। जबकि अन्य राज्यों ने आधुनिक प्रवृत्तियों को आत्मसात किया है।प्रत्येक राज्य की राजनीति वहाँ की सामाजिक, सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के सन्दर्भ में विशिष्ट स्वरूप लिये होती

है।

5. केन्द्रराज्य दलीय सम्बध एवं प्रभावशाली नेतृत्व

केन्द्र एवं राज्यों में सत्तासीन राजनीतिक दलों की स्थिति ने भी राजनीति को प्रभावित किया है। केन्द्र और राज्य में विपरीत दलों के सत्ता मे आने के बाद राज्यों की राजनीति बदल जाती है। जैसे– बिहार में 1990 से 2004 के दौरान केन्द्र के साथ संघर्ष की स्थिति रही पुनः 2004 में राज्य यू.पी.ए. शासन का महत्वपूर्ण अंग रहा जिसके कारण केन्द्र एवं विहार राज्य में राजनीति के अच्छे सम्बन्ध बन गये। यदि केन्द्र में किसी राजनीतिक दल को बहुमत नहीं प्राप्त होता है, तथा गठबंधन की सरकार होती है तो केन्द्र की सरकार राज्य की राजनीति को प्रभावित करने की भूमिका सीमित हो जाती है।

राज्य राजनीति को प्रभावित करने वाले कारकों में प्रभावशाली नेतृत्व की भूमिका महत्वपूर्ण रही है। प्रारम्भ प्रधानमंत्री के रूप में जवाहर लाल नेहरू की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। प्रधानमंत्री के पद पर रहते हुये ये पं0 जवाहरलाल नेहरू के करिश्माई तथा शक्तिशाली नेतृत्व इसके बाद इन्दिरा गाँधी तथा वर्तमान में नरेन्द्र मोदी का करिश्माई नेतृत्व इसके उदाहरण है। राज्यों मे भी करिश्माई नेतृत्व ने राज्य राजनीति के स्वरूप को आकार दिया जैसे– पश्चिम बंगाल मे बीसी.राय ज्योति बसु एवं ममता बनजी, उत्तर प्रदेश में गोविन्द बल्लभ पंत एवं मुलायम सिंह यादव।

दक्षिण के कामराज, तमिलनाडु के एम करुणानिधि एवं जयललिता पंजाब के प्रतापसिंह कैरो, आंध्र प्रदेश के एन. टी. रामाराव एवं चन्द्रबाबू नायडू बिहार के कर्पूरी ठाकुर एवं लालू प्रसाद यादव उड़ीसा के बीजू पटनायक आदि ने राज्यों की राजनीति को प्रभावित किया है। इसके अलावा राज्यों में संसदीय संस्थाओं के कार्यकरण दबाव समूहो की भूमिका, सरकारो की कार्यक्षमता तथा जनता की विकास प्रक्रिया में भागीदारी ने राज्य राजनीति को प्रभावित किया है।

15.3 सामाजिक सांस्कृतिक एवं आर्थिक कारक

(क) सामाजिक कारक

सामाजिक सांस्कृतिक एवं आर्थिक दृष्टि से भारत के विभिन्न राज्यों में सम्बन्धित संरचनाएं भिन्न –भिन्न है। भारतीय समाज व संस्कृति अति प्राचीन व गौरवपूर्ण है। वास्तव में किसी भी समाज की संस्थाओं का स्वरूप और उसका संगठन उस समाज की संस्कृति द्वारा निर्धारीत और संगठित होता है। भारतीय समाज की मुख्य विशेषता विविधता मे एकता निहित है। एक राष्ट्र के रूप में भारत इसका उत्कृष्ट उदाहरण है। क्योंकि अनेक भौगोलिक धार्मिक भाषाई सांस्कृतिक और नस्लीय विविधताओं के बावजूद भारत सदैव एकीकृत शब्द के रूप मे पड़ा रहा है। भारतीय समाज एक बहुलवादी समाज है जिसमें जटिल सामाजिक व्यवस्था है जो जातीय भाषाई धार्मिक और जातिगत विभाजनों की बहुलता है। इसमें ग्रामीण शहरी, आदिवासी समाज और भारतीयता लोकाचार वाले सभी वर्गों मे रहने वाले लोग सामिल है।

जातीय संरचना में अगड़े पिछड़े अनुसूचित जातियाँ अनुसूचित जन जातियाँ आदि राज्य राजनीति को प्रभावित करती है। देश के अनेक क्षेत्रों में जातियों के जनसमुदाय को संगठित करने जनचेतना को प्रसार तथा दबाव समूहों का कार्य किया है। किन्तु जाति व्यवस्था भारतीय राजनीति का महत्वपूर्ण तत्व होते हुये भी देश के सभी क्षेत्रों में जाति व्यवस्था की भूमिका समान नही है। विविध राज्यों में जाति समूहों की भूमिका अलग–अलग है। उत्तर भारत के राज्यों में उच्च जातियों एवं पिछड़ी जातियों के हितों के संघर्ष महाराष्ट्र कौर पंजाब मे मध्यम कृषक जातियों के बीच वर्चस्व का संघर्ष, वहीं दक्षिणी भारत में उच्च जातियो (ब्राह्मण) तथा निचली जातियों के बीच संघर्ष राजनीति को आधिक प्रभावित करते हैं। विविध राज्यो मे जातीय समीका भिन्न हैं। उस राज्य श्री चुनावी राजनीति को प्रभावित करते हैं। इस प्रकार विविध राज्यों में जातियों की भूमिका समान नही है।

भारतीय सामाजिक संरचना की निम्न लिखित विशेषताएं है जैसे–

1. भारतीय समाज बहुजातीय है।
2. बहुभाषी समाज
3. ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि वर्ण है।

4. बहुल वर्ग, बहुल सम्प्रदाय

5. समानता या विविधता में एकता

6. आध्यात्म और भौतिकवाद के बीच संतुलन

7. परम्परावाद और आधुनिकता का सह अस्तित्व।

भारत देश में सामाजिक विविधता पाई जाती है जैसे बहुजातीय, बहुत वर्ग, बहुल सम्प्रदाय आदि। किन्तु भारतीय संविधान में विविधता में एकता का प्रावधान किया गया है। विभिन्न, जातियों, धर्मों, ग्रन्थों एवं सम्प्रदायों के लोग एक साथ खुशी एवं आपसी सामंजस्य से रहते हैं। इस प्रकार भारतीय समाज की प्रमुख विशेषता विविधता में एकता ही भारतीय संविधान में समानता और धर्म निरपेक्षता के आदर्शो को अपनाया गया है। किन्तु हमारे दैनिक जीवन में धर्म, जाति, साम्प्रदायिकता जैसे तत्वो का गहरा प्रभाव दिखाई देता है। एक ओर हम जनतंत्र और धर्मनिरपेक्षता में आस्था रखते है। दूसरी ओर अपने स्वार्थो को पूरा करने के अलोकतांत्रिक तरीके कापनाने से गुरेज नहीं करते हैं।

(ख) सांस्कृतिक कारक–

भारत सांस्कृतिक दृष्टि से परपम्परागत मूल्यो को बनाये रखे हुये है। भारतीय संस्कृति में आश्रम व्यवस्था के साथ धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष जैसे चार पुरुषार्थों का विशिष्ट स्थान रहा है। भारतीय संस्कृति में आध्यात्मिकता के साथ भौतिकता का अद्Hkqr समन्वय कर दिया गया है। हमारी संस्कृति में जीवन को कर्म अर्थ, काम, मोक्ष, आदि सिद्धान्तों से सम्बद्ध किया गया है। भारतीय संस्कृति में आध्यात्मिकता और भौतिकता की विशिष्ट अवधारणा परिलक्षित होती है।

भारतीय संस्कृति की विशेषताएं निम्नलिखित है।

1. भाषा एवं विज्ञान

2. विचार एवं शिष्टाचार

3. विश्वास एवं मूल्य

4. रीति–रिवाज

5. कोड

6. संस्थाएं

7. उपकरण

8. तकनीतिक एवं कला

9. अनुष्ठान और समारोह

भौगोलिक दृष्टि से भारत विविधताओं का देश है फिर भी सांस्कृतिक रूप से इकाई के रूप में इसका अस्तित्व प्राचीन काल से बना हुआ है। भौगोलिक विविधता सांस्कृतिक विविधता के बावजूद भारत की एक अलग सांस्कृतिक पहचान रही है। हिमालय सम्पूर्ण देश का गौरव का प्रतीक रहा है तो गंगा, यमुना और नर्मदा जैसी नदियों की स्तुति यहाँ के लोग प्राचीन काल से करते आ रहे हैं। राम कृष्ण और शिव की आराधना यहाँ सदियों से की जाती रही है। भारत की सभी भाषाओं में देवताओं पर आधारित साहित्य का सृजन हुआ है। पूरे भारत मे तीज त्योहार, जन्म विवाह मृत्यु आदि के संस्कार एक समान है। लोग भारत में अनेक धर्म एवं संस्कृ तियों के लोग रहते है परन्तु एक दूसरे की संस्कृतियों का सम्मान करते है।

भारत में सांस्कृतिक समुच्चय और अनेकता मे एकता का स्वरूप विश्व के अन्य देशों के लिये विस्मय का विषय रहा है।

(ग) आर्थिक कारक

प्रमुख दो कारक है–

1. कृषि
2. उद्योग धन्धे

(1) कृषि

किसी भी राज्य के आर्थिक संसाधनों विकास की प्रवृतियाँ कृषि की स्थिति से वहाँ की राजनीति प्रभावित होती है। देश के विविध राज्यों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि एवं संसाधनों की भिन्नता के कारण विकास की प्रक्रिया में विविधता रही है। विभिन्न राज्यों में कृषि विकास एवं अपने हितो किसान संगठित होते रहे हैं। उत्तर भारत में स्वामी सहजानंद के नेतृव मे किसान आन्दोलन चलाया गया था। इससे राज्यों की दलीय व्यवस्था प्रभावित हुयी। भारतीय कृषि की निम्न लिखित विशेषताएं है।

(i) आजीविका का स्रोत–

भारतीय कृषि राष्ट्रीय आय में 25% अपना योगदान देती है। भारतीय अर्थव्यवस्था का मुख्य व्यवसाय कृषि है। कुल जनसंख्या के 61% लोगों को इससे रोजगार प्राप्त होता है।

(ii) मानसून पर निर्भरता–

दूसरी विशेषता है कि भारतीय कृषि मानसून पर निर्भर है। अगर अच्छी में बारीश होती है यानी मानसून अच्छा रहता है तो फसल का उत्पादन मच्छी मात्रा मे होता है अगर मानसून अच्छा नहीं रहता है तो फसलों का पर्याप्त उत्पादन नही होता है। अधिक बारीश से भी फसले खराब हो जाती है। अपर्याप्त सिंचाई सुविधाओं के कारण भारतीय कृषि मानसून पर निर्भर करती है।

(iii) श्रम प्रधान एवं अन्य रोजगार–

भारतीय कृषि तकनीक प्रधान न होकर श्रम प्रधान है। हर गुजरते दिन के साथ जनसंख्या बढ़ती जा रही है, जिससे भूमि पर दबाव बढ़ रहा है। किसानो को पूरे वर्ष में केवल कुछ महीने ही काम मिल पाता है। परिणाम भारतीय कृषि में अन्य रोजगार के साथ–साथ विशिष्ट बेरोजगारी है। इसीलिये कृषि द्वारा भी राज्यों की राजनीति एवं दलीय व्यवस्था प्रभावित होती है।

(2) औद्योगिक कारक–

औद्योगिक विकास की प्रवृत्ति एवं व्यापकता ने भी विविध राज्यों की राजनीति को प्रभावित किया है। इकबाल नारायण ने तर्क दिया है जो राज्य औद्योगिक रूप से विकसित है। यहाँ यातायात संचार के साधनों, शिक्षा एवं तकनीक ज्ञान सेवाओं की उपलब्धियों के अधिक अवसरों के परिणाम स्वरूप सामान्य जन राजनीतिक चेतना मे अग्रणी रहे हैं। महाराष्ट्र, पश्चिम बंगाल तथा दक्षिण भारत में जिन क्षेत्रों में` औद्योगीकरण का विकास हुआ है वहाँ पर ट्रेड यूनियनों का उदय हुआ तथा इनकी गतिविधियों ने राज्यों की राजनीत को प्रभावित किया है। औद्योगिक दृष्टि से पिछले राज्यों जैसे पूर्वोत्तर भारत के राज्य बिहार, उड़ीसा, राजस्थान आदि में ट्रेड यूनियनों की गतिविधियाँ बहुत कम है। स्वतंत्रता के बाद अपनायी गई आर्थिक विकास की नीति ने इन क्षेत्रीय असमानताओं को कम करने में कोई विशेष सफलता प्राप्त नहीं की है।

15.4 धार्मिक एवं राजनीतिक कारक

भारत का धर्म इसाइयत या इस्लाम की तरह पंथ नहीं है, बल्कि यह प्रकृति और मनुष्यता की आदर्श आचार संहिता है। यहाँ आदि काल से धर्म और राजनीति सहयोगी रहे हैं। समाजवादी चिंतक डॉ. राममनोहर लोहिया ने कहा था कि राजनीति अल्पकालिक धर्म है। और धर्म दीर्घ कालीन राजनीति धर्म का कार्य है। शुभ की स्थापना और अच्छाइयो की ओर प्रेरित करना। महात्मा गाँधी ने धर्म को राजनीति से कर्तव्य पालन के रूप मे जोड़ा है। उन्होने कहा है धर्म से विहीन राजनीति मात्र कूड़ा है। ह्रदय नारायण दीक्षित ने कहा है धर्म और राजनीति का सह अस्तित्व लोक मंगलदाता है। श्री राम जन्मभूमि पर भव्य मंदिर का पुनर्निर्माण राष्ट्रीय अभिलाषा है। राजनीति और धर्म के कर्तव्य पालन से करोड़ो लोगों का स्वप्न पूरा हुआ है। राजर्षि पुरुषोत्तम दास टण्डन भी धर्म से प्रेरित होकर समाज और देश की सेवा मे अपना जीवन अर्पित कर दिया था।

प्राचीन भारत में राजनीतिशास्त्र के कई नाम प्रचलित थे जैसे–दण्डनीति, अर्थशास्त्र, राजधर्म राजशास्त्र

आदि कहा जाता था नीतिशास्त्र सर्वाधिक प्रचलित था नीति का अर्थ मार्गदर्शन होता है। वैदिक काल मे सभा समितियों के संचालन के नियम धर्म से प्रेरित थे। शुक्रनीति के अनुसार धर्म की रक्षा भी राजा का कर्तव्य था। धर्म विधीन राजनीति ने मजहवी तुष्टीकरण को सेक्युलरवाद कहा है, और सेकुलर धर्म हो गया। स्वाधीनता आन्दोलन की प्रेरणा धर्म ही था। धर्मविहीन राजनीति लोक मंगल का उपकरण नही बन सकते है। हमारे देश मे विभिन्न धर्म सम्प्रदायों के लोग निवास करते है जो भारतीय राजनीति को प्रभावित करती है।

15.5 भारत की राजनीतिक संस्कृति

भारत की राजनीतिक संस्कृति के अन्तर्गत मनुष्यो के अधिकार एवं कर्तव्य निर्धारित किये जाते हैं। राजनीतिक तंत्र का संचालन इस बात पर निर्भर करता है कि समाज में रहने वाले व्यक्ति अपने अधिकार और कर्तव्यो के प्रति कहाँ तक जागरुक हैं। कहाँ तक वे अपने प्रभाव को बढ़ाने और अपनी मांगो को प्रभावकारी समूहों तथा व्यक्तियों तक पहुंचाने के इच्छुक है। राजनीतिक संस्कृति में मनुष्य स्वयं का क्या कार्यभाग समझता है यह राजनीतिक तंत्र के संचालक समझने की आवश्यकता होती है।

राजनीतिक संस्कृति शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम प्रसिद्ध राजनीतिक विचारक ग्रेबियल आमंड ने किया। उनके अनुसार प्रत्येक राजनीतिक तंत्र राजनीतिक कार्यों के एक विशिष्ट प्रकार के अभिमुखीकरण के ढांचे मे बंधा होता है। राजनीतिक अभिमुखीकरण का अभिप्राय राजनीतिक तंत्र उसके विभिन्न अंगो और उस तंत्र मे स्वयं की भूमिका के सम्बन्ध मे व्यक्तिगत अभिवृत्तियों से होता है। अतः राजनीतिक तंत्र का अर्थ समझे बिना राजनीतिक संस्कृति के वास्तविक अर्थ को समझा नही जा सकता है। कई प्रकार की राजनीतिक संस्कृति होती है, जैसे– संकुचित राजनीति, प्रजाभावी राजनीति, सहभागी राजनीति आदि।

1. संकुचित राजनीति संस्कृति–

संकुचित अथवा संकीर्ण राजनीतिक संस्कृति से उस राजनीतिक संस्कृति का बोध होता है जिसमे कही व्यक्ति या समूह राजनीतिक तंत्र के विभिन्न घटकों तथा उसके कार्य संचालन आदि के सम्बन्ध में बिल्कुल जानकारी न रखता हो। ऐसी राजनीति संस्कृति व्यक्ति केन्द्रीय सरकार की संस्थाओं से अपरिचित तथा अप्रभावित होता है। इस प्रकार की राजनीतिक संस्कृति केवल साधारण एवं परम्परावादी समाजों में पाई जाती है।

2. प्रजा–भावी राजनीतिक संस्कृति–

इस प्रकार की राजनीति में राजनीतिक संस्कृति में व्यक्ति राजनीतिक व्यवस्था के सम्बन्ध में पूर्णजानकारी रखता है। अर्थात कार्यकारिणी, नौकरशाही तथा न्यायपालिका आदि का उसे पूर्ण ज्ञान होता है। वह सरकार के माध्यम से मिलने वाले लाभों को प्राप्त करता है। इसके अलावा वह राजनीतिक तंत्र का औचित्य का उसके विभिन्न घटकों की अच्छाई–बुराई का मूल्यांकन करता है। यदि उसे यह प्रतीत हो जाता है कि वह राजनीतिक तंत्र को प्रभावशाली कर सकता है तो वह सरकार के मूल स्वरूप को स्वीकार कर लेता है तथा विरोध नही करता है।

3. सह–भागी राजनीतिक संस्कृति–

इस प्रकार की राजनीति में व्यक्ति राज्य का एक सक्रिय सदस्य होता है। उसे राजनीतिक तंत्र और सभी राजनीतिक विषयों का अभिमुखीकरण होता है। उसे राजनीतिक तंत्र के बारे में सम्पूर्ण जानकारी होती है। वह राजनीतिक प्रक्रिया में भाग भी लेता है। सहगामी राजनीति में सभी को राजनीतिक गतिविधियों के मूल्यांकन और आलोचना का पूर्ण अधिकार प्राप्त होता है। यह सामान्य रूप से स्वीकार किया जाता है कि राजनीतिक क्रियाएं जनसाधारण के निरीक्षण योग्य है।

15.6 सारांश

अतः स्पष्ट है कि भारत के विभिन्न राज्यों में सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, रूप से विविधता पाई जाती है। जबकि सम्पूर्ण देश में एक जैसी शासन व्यवस्था लागू है। आज जो वर्तमान में शासन व्यवस्था का लोकतांत्रिक आधार दिखाई पड़ता है। यह धीरे–धीरे विकास की एक प्रक्रिया के तहत सामने आया है। जैसे कवीलाई, गणतंत्रीय राजतंत्रीय इसके बाद लोकतांत्रिक शासन प्रणाली आदि। राज्यों की सामाजिक,

ऐतिहासिक, भौगोलिक भाषा आदि की की परिस्थितियों में भिन्नता पाई जाती है। भारतीय राज्यों की राजनीति में बहुत से कारको का प्रभाव दिखाई पड़ा है। राज्य सरकार और प्रशासन के माध्यम से कार्य करता है। राज्य की नीतियों पर प्रशासन द्वारा सही कार्यान्वयन का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है क्योंकि सिर्फ नीतियाँ अच्छी बनाई गई हो तथा उनका ठीक से कार्यान्वयन न हो तो प्रभावशाली नीतियाँ नहीं हो सकती है। राज्यों के प्रशासन को सुचारू रूप से संचालन करने के लिये कई विभागों की स्थापना करके उन्हें दायित्व सौंपा गया है। ताकि राज्यो की शासन व्यवस्था सुचारू रूप से चलती रहे। भारतीय संविधान ने सभी वर्गों का आपसी सामंजस्य बनाये रखने के लिए विविधता में एकता को प्रमुख स्थान दिया है। क्योंकि भारत देश में विभिन्न जाति, धर्म, सम्प्रदाय संस्कृति के लोग रहते है। उनमे सामंजस्य स्थापित करने से ही समाज और देश का विकास संभव हो सकता है।

15.7 अभ्यास प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न।

1. भारत में राज्यों की राजनीति की पृष्ठभूमि में कौन–कौन से कारक हैं?
   (A) भौगोलिक कारक
   (B) संवैधानिक कारक
   (C) दोनों
   (D) कोई नहीं।
   उत्तर– (C)
2. आर्थिक कारक में कौन कौन से कारक हैं?
   (A) कृषि
   (B) उद्योग धन्धे
   (C) दोनो
   (D) कोई नहीं।
   उत्तर– (C)

निम्नलिखित प्रश्न।

3. भारत में राज्यों की राजनीतिक पृष्ठभूमि का वर्णन कीजिए।
4. समाजिक सांस्कृतिक एवम आर्थिक कारकों की चर्चा कीजिए।
5. धार्मिक और राजनीतिक कारक पर प्रकाश डालिए।
6. भारत की राजनीतिक संस्कृति स्पष्ट कीजिए।
7. भारत की राजनीतिक संस्कृति स्पष्ट कीजिए।

15.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. निलंगना जैन, द प्रॉब्लम ऑफ जस्टिस इज पॉलिटिकल थियरी एंड स्टेट प्रैक्टिस, अनामिका पबिलसर्स, नई दिल्ली।
2. शशि मणि त्रिपाठी, द ह्यूमन फेस ऑफ सुप्रीम कोर्ट ऑफ इंडिया, गंगा कावेरी पाब्लिसिंग हाउस, वाराणसी।
3. संगीता आहूजा, पीपुल लॉ ऑफ जस्टिस, ओरियंट लंगमान, नई दिल्ली।
4. लास्की हेरोल्ड जे. पार्लियामेंट्री गवर्नमेंट इन लंदन, अलायन्स यूनियन लंदन।

5. राय एसएन. ज्यूडिशियल रिव्यू एंड फंडामेंटल राइट्स।
6. मार्कण्डन के सी, द प्रियमबल।
7. पायली एम वी, कांस्टीटयूशनल गवर्नमेंट एंड पॉलिटिक्स।

इकाई–16 राज्य राजनीति के अध्ययन के सैद्धान्तिक आधार

इकाई की रूपरेखा

16.0 उद्देश्य

16.1 प्रस्तावना

16.2 राज्य राजनीति का अर्थ एवं प्रकृति

16.3 राज्य राजनीति के अध्ययन के सैद्धान्तिक आधार

16.4 राज्य राजनीति के अध्ययन के उपागम

16.5 बदलते परिदृश्य में राज्य राजनीति का स्वरूप

16.6 सारांश

16.7 अभ्यास प्रश्न

16.8 उपयोगी पुस्तकें

16.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात आप

- राज्य राजनीति का अर्थ एवं प्रकृति समझ सकेंगें।
- राज्य राजनीति के सैद्धान्तिक आधारों को जान सकेंगे।
- राज्य राजनीति के अध्ययन के उपागम को समझ सकेंगे।
- बदलते परिदृश्य में राज्य राजनीति के स्वरूप को जान सकेंगे।

16.1 प्रस्तावना

राज्य स्तर की राजनीति केन्द्रीय या राष्ट्रीय की राजनीति से भिन्न होती है। ये भिन्नताएँ इसलिये होती है क्योंकि शक्ति के स्पर्धा करने वाले वर्गों मे मतभेद, राजनीतिक दलो की चुनाव मे भागीदारी सामाजिक आन्दोलनों की प्रकृति तथा अन्य बहुत से तत्व विद्यमान रहते है। भारतीय राजनीतिक व्यवस्था का घनिष्ट रूप से विश्लेषण करने पर पता चलता है कि प्रत्येक राज्य का राजनीतिक विकास दूसरे से अनेक प्रकार से भिन्न है उनकी राजनीतिक विशेषताएं एक दूसरे से भिन्न होती है, और ये अन्तःक्रियाओं। की भिन्नता सामाजिक रीति–रिवाजों एवं राजनीतिक विश्वास के साथ रचनाओं को प्रभावित करती है। राज्यो की प्रवृत्ति अपनी शक्ति को मजबूत करना है। अपने अधिकारो को स्थापित करना व देश की शासन नीति मे अपनी भागीदारी बढ़ाना है। जबकि इसमें कोई सन्देह नही कि अधिक संसाधनों और योजना बद्ध समन्वय के लिये उन्है केन्द्र पर निर्भर रहना पड़ता है। सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि राज्य का महत्वपूर्ण

पद मुख्यमंत्री का होता होता है राज्य की शासन व्यवस्था राज्यपाल के सहयोग से मुख्यमंत्री संभालत है। राज्य का सबसे शक्तिशाली व्यक्तित्व मुख्यमंत्री होता है तथा अन्य राज्यों से प्रतिस्पर्धा होती है।

16.2. राज्य राजनीति का अर्थ एवं प्रकृति

राज्य राजनीति एक राजनीतिक इकाई है जो एक क्षेत्र के भीतर समाज और जनसंख्या को नियंत्रित करती है। सरकार को समकालीन राज्यों का मूलतंत्र बनाने वाला माना जाता है। राज्य राजनीति

का अर्थ है राज्य का शासन एवं नीति। अर्थात राज्यों में उचित कार्य करने की कला। नीति विशेष के द्वारा शासन करना या विशेष उद्देश्य को प्राप्त करना राज्य राजनीति कहलाती है। राज्य की जनता का शासन की नीतियों द्वारा सामाजिक, आर्थिक, एवं सार्वजनिक स्तर ऊँचा करना ही राज्य राजनीति है।

व्यवस्था के सुचारू रूप रूप से संचालन के लिये राजनीतिक व्यवस्था की संरचनाओं के विभिन्न स्तर होते हैं। जैसे केन्द्रीय, राज्य एवं स्थानीय स्तर की सरकारें यें एक ही राजनीतिक व्यवस्था के अंग है। लेकिन कुछ हद तक एक दूसरे से स्वतंत्र हैं। राज्य स्तर की राजनीति केंद्रीय या राष्ट्रीय स्तर की राजनीति से अथवा स्थानीय स्तर से भिन्न होती है। ये भिन्नताएँ इसलिये होती है क्योंकि शक्ति के लिए प्रतिस्पर्धा करने वाले वर्गों मे मतभेद, राजनीतिक दलों की चुनाव मे भागीदारी, सामाजिक आन्दोलनो की प्रकृति बहुत से अन्य तत्व भी विद्यमान रहते है। प्रत्येक राज्य का राजनीतिक विकास एक दूसरे से भिन्न है।

इकवाल नारायण का कहना है— "भारत के राज्य न केवल संघ की इकाई मात्र हैं, बल्कि अपने आप मे स्वायत्त हैं। वे व्यवस्था और उप व्यवस्था दोनों हैं आत्म पहचान के मामले मे अकेले राजनीतिक व्यक्ति है। और बड़े —बड़े राजनीतिक परिवारों के सदस्य भी हैं" इस तरह राज्य स्तर की राजनीति राष्ट्र स्तर की राजनीति का हिस्सा होते हुऐ भी अपने आप में स्वायत्त है। इस कारण से राज्यों की राजनीति का महत्व बढ़ जाता है।

यह अक्सर विश्वास किया जाता है कि भारत में एक दल की प्रमुखता है लेकिन अगर हम राज्य स्तर पर देखे तो पता चलता है कि विभिन्न दलों में न सिर्फ प्रतिस्पर्धा है, बल्कि संस्थाकरण के विभिन्न प्रतिमान भी मौजूद है। साथ ही उनका हास भी हुआ है। 1967 के पहले भी कांग्रेस के स्पष्ट वर्चस्व के बावजूद कांग्रेसी व्यवस्था के तथ्य सभी राज्यो मे लागू न हो सके। यह स्वतंत्रता से पहले के समय की निरंतरता तथा स्वतंत्र भारत का परिणाम था भारत में राज्यों की राजनीति में अत्यधिक विभिन्नताएं हैं। कुछ राज्यो मे मजबूती से क्षेत्रीय राजनीतिक दल उभरे हैं जबकि किसी राज्य मे राष्ट्रीय दलों की मजबूत पकड़ है। कुछ राज्यों में मजबूत किसान आन्दोलन है तो कुछ राज्यो मे राजनीति दल स्थिर प्रतिरूप है। राजनीति संस्थाओ की तरफ लोगों का रुख अलग राज्यो मे अलग है। किसी राज्य में प्रतिभागी प्रतिमान है अर्थात राजनीतिक क्रिया का अपनी भागीदारी रखते है। और किसी राज्य में लोग राजनीतिक क्रिया—कलापो मे कोई दिलचस्पी नहीं लेते हैं।

16.3. राज्य राजनीति के सैद्धान्तिक आधार

राज्य राजनीति के सिद्धान्त उन विचारों और नीतियों को व्यवस्थित एवं रूप से प्रतिविम्बित करता है। जिनसे हमारे राजनीतिक एवं सामाजिक जीवन को सुव्यस्थित ढंग से संचालित करने के लिये संविधान में वर्णित निर्देशों के अनुसार सरकार ने अपना आकार ग्रहण किया है। यह स्वतंत्रता, समानता, न्याय लोकतंत्र और धर्म निरपेक्षता जैसी अवधारणाओं का अर्थ स्पष्ट करता है। यह कानून का राज अधिकारों का बंटवारा और न्यायिक पुनर्विलोकन जैसी नीतियों की सार्थकता की जाँच करता है। यह इस कार्य को विभिन्न विचारको के द्वारा इन अवधारणाओं के बचाव में विकसित युक्तियों की जाँच—पड़ताल के जरिये करता है। हालांकि रूसो, मार्क्स या गांधी जी राजनेता नहीं बन पाये लेकिन उनके विचारो ने हर जगह पीढ़ी दर पीढ़ी राजनेताओं को प्रभावित किया साथ ही बहुत से समकालीन विचारक है, जो अपने समय लोकतंत्र या स्वतंत्रता के बचाव के लिये उनसे प्रेरणा लेते है विभिन्न तर्कों की जाँच पड़ताल के अलावा राजनीतिक सिद्धांतकार हमारे ताजा राजनीतिक अनुभवों की छानबीन भी करते हैं।

भारत स्वायत्त और स्वतंत्र है। स्वतंत्रता समानता तथा लोकतंत्र से सम्बन्धित मुद्दे सामाजिक जीवन के अनेक मामलो मे उठते है और विभिन्न क्षेत्रो मे अलग—अलग रफ्तार से उनकी बढ़ोत्तरी हो रही है। उदाहरण के लिये राजनैतिक क्षेत्र में समानता समान अधिकारो के रूप में बनी है। लेकिन आर्थिक और सामाजिक क्षेत्रों में उसी तरह नहीं है। लोगों के पास समान राजनीतिक अधिकार हो सकते है, लेकिन मे उनके साथ गरीबी या जाति—भेद के काम अभी भी भेदभाव होता है। कुछ लोगो को समाज में विशेषाधिकार प्राप्त है तो वही पर वे बुनियादी आवश्यकताओं से वंचित है। कुछ लोग मनचाहा लक्ष्य पाने में सक्षम है। जबकि कई लोग भविष्य में अच्छा रोजगार पाने के लिये जरूरी स्कूली पढ़ाई में भी अभी अक्षम हैं। उनके लिये स्वतंत्रता एवं अधिकार दूर का सपना है। राज्य राजनीति के सिद्धांत इस प्रकार है—

1. प्राचीन भारतीय राज्य राजनीति के सिद्धांत में "दण्ड और धर्म'' दो प्रमुख रूप से अवधारणाएं भी इस सन्दर्भ में "दण्ड का तात्पर्य बल प्रयोग अनुचित कार्यो को करने से रोक—टोक तथा दण्ड से है। इस अवधारणा का प्रयोग, आमतौर पर न्यायिक प्रक्रिया में राज्य के बल प्रयोग के अधिकार के अर्थ में होता था "धर्म" शब्द की उत्पत्ति संस्कृत के ''ध्'' शब्द से हुयी है। जिसका अर्थ होता है "पकड़ना'' है। धर्म को समाज में समग्रता बनाये रखने वाली सामाजिक प्रक्रिया के रूप में परिभाषित किया गया है।

धर्म शब्द के समग्रतावादी गुण को ध्यान में रखकर एक विस्तृत नियम संहिता तैयार करने का प्रयास किया। राजनीति, अलग से उनके सारोकार का विषय नही थी राजनैतिक धर्म, चूँकि उनको मुख्य सरोकार धर्म का हिस्सा था इसलिये प्राचीन काल मे राजनीति की अपनी कोई स्वायत्तता नहीं थी।

2. 'अर्थशास्त्र' के रचयिता कौटिल्य ने दण्ड की विस्तृत और ठोस समझ विकसित करने पर विशेष ध्यान दिया। 'अर्थशात्र' में दण्ड की विधा, कार्यपद्धति और तरीको का विस्तृत वर्णन है। ताकि इसे लागू करने वाले प्रमुख संगठन, राजतंत्र को प्रभावशाली ढंग से गठित किया जा सके अर्थशास्त्र में राजतंत्र के गठन और स्वभाव तथा शक्ति की प्रकृति और कार्यविधि का गहराई से वर्णन किया गया है। राजनैतिक शक्ति की अस्थिरता और विनाश के कारणों पर भी विस्तार से विचार किया गया है। इसका मतलब यह हुआ कि 'अर्थशास्त्र' के रचयिता कौटिल्य मूलतः राजनैतिक शक्ति और राजतंत्र के राजनीतिक विचारक और विद्वान थे। अर्थशास्त्र और धर्मशास्त्र के संगम से भारतीय राजनैतिक परम्परा का निर्माण हुआ है।

3. भारतीय राजनैतिक परम्परा मुख्यतः नैतिकता और व्यवहार पर आधारित है। धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र दोनो ही मुख्य रूप से शासकों को ही सम्बोधित करती है। इसलिये ये संरचनाएं नैतिकता या प्रशासन की नियमावली बनकर रह गई है इसमे कोई सन्देह नही है कि धर्मशास्त्र महाभारत और रामायण महाकाव्यों में कोई राजनैतिक विषयों पर गंभीर दार्शनिक चर्चाएँ मिलती है। इन चर्चाओं के बावजूद भारतीय राजनीतिक चिन्तन मे क्रमबद्धता का आभाव दिखाई देता है।

4. भारतीय राजनैतिक समाज मे अनेकताओ विभिन्नताओं को सत्य मानकर सामाजिक सामजस्य बनाये रखना और स्वशासन की आदतो का विकास भारतीय राजनैतिक परम्परा की विशिष्टताएं है। **रजनी कोठारी के अनुसार**– भारतीय संस्कृति की कुछ ऐसी पर्ते भी है जिनके कारण समाज मे जनतांत्रिक और बहुलतावादी मूल्य बरकरार है। भारतीय राजनैतिक परम्परा का पहलू समाजिक बहुलता के तथ्यों पर विचारों, मूलों की खण्डित अस्मिताओं निर्धारित सिद्धांतों और अधिकारिक पुजारी पद्धति की अनुपस्थित और अस्पष्टता तथा संदेहवाद की सहनशीलता पर आधारित है।

5. वर्तमान लेकतांत्रिक राज्य राजनीतिक सिद्धांत के अन्तर्गत स्वतंत्रता, समानता, नागरिकता, न्याय, विकास, राष्ट्रवाद और धर्मनिरपेक्ष जैसे सुपरिचित राजनीतिक विचारों की उत्पत्ति लोकतांत्रिक मूल्यो।के अन्तर्गत हुयी है। समानता, स्वतंत्रता, न्याय जैसे शब्दो का सरोकार किसी वस्तु विशेष से न होकर अन्य मनुष्यों तथा शासन को सम्बन्धो से होता है। मनुष्य इन सभी सम्बन्धित मुद्दों पर अपनी राय रखता है तथा इन मेतों को समझने और इनमें तालमेल रखने की जरूर होती है। राज्य राजनीतिक अवधारणाओं का अर्थ है। व्यक्ति के राजनीतिक अधिकार, आजादी नागरिक सामाजिक अधिकार तथा राज्यों की राजव्यवस्था या शासन व्यवस्था के साथ तालमेल रखना। यें मामले सैद्धान्तिक ही नही बल्कि व्यवहारिक भी है। हालांकि हमारे संविधान मे स्वतंत्रता की गारण्टी दी गई है। फिर भी हमे हमेशा नई व्याख्याओं का सामना करना पड़ता है, जैसे– नई परिस्थितियों के मद्देनजर संविधान में दिये गये मौलिक अधिकारो की निरंतर पुनर्व्याख्या की जा रही है उदाहरण स्वरूप 'आजीविका के अधिकार' को जीवन के अधिकार मे शामिल करने के लिये अदालतों द्वारा इसकी पुनर्व्याख्या की गई सूचना के अधिकार की गारण्टी एक नये कानून द्वारा दी गई है। समाज बार–बार नई चुनौतियों का सामना करता है। इस क्रम मे नई व्यवस्थाएं पैदा होती है। समय के साथ–साथ संविधान मे दिये गये मौलिक अधिकारों मे संशोधन भी हुए हैं और इनका विस्तार भी यद्यपि न्यायिक व्याख्याएँ और सरकारी नीतियाँ नई समस्याओं का सामना करने के लिये बनाई जाती है। विभिन्न राज्यो की अलग–अलग समस्याएं होती है इसलिए प्रतिदिन नई चुनौतियों उत्पन्न होती है तथा उनके समाधान हेतु राज्यों द्वारा नई नीतियाँ बनाई जाती है।

16.4. राज्य राजनीति के अध्ययन के उपागम

राजनीतिक विश्लेषण में विभिन्न उपागमों का अपना विशेष महत्व रहा है। इन उपागमों के अध्ययन न केवल अतीत की राजनीतिक विधाओ की जानकारी मिलती है। बल्कि उनकी कमियो को दूर करके हमे नये उपागम बनाने मे भी सहायता मिलती है। उपागम को अंग्रेजी मे एप्रोच कहते हैं। उपागम का अर्थ है– ऐसी विधियों का प्रयोग जो सीखने मे मदद करता है। वह उपागम की श्रेणी मे आता है। राजनीति विज्ञान मे उपागम

का प्रयोग अंतर्राष्ट्रीय तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन में किया जाता है। किन्तु यहाँ पर उपागम का प्रयोग भारतीय राज्य राजनीति की विभिन्न प्रकार की समयानुसार बदलती हुयी राजनीतिक व्यवस्था अर्थात शासन व्यवस्था को समझने के लिये किया गया है। कई प्रकार के राज्य राजनीति के अध्ययन के उपागम हैं जैसे— ऐतिहासिक या परम्परागत उपागम, संस्थागत उपागम एवं आधुनिक उपागम।

1. ऐतिहासिक या परम्परागत उपागम—

प्राचीन काल में राज्य और शासन की संस्थाओं का विकास हुआ इन सभी संस्थाओं और विचारों का आधार धर्म था यह एक अकाट्य सत्य है कि प्राचीन भारत में राजनीति का सर्वप्रमुख आधार धर्म ही था। अतः धर्म और राजनीति एक दूसरे किसी भी क्षेत्र में अलग नहीं थे। इस दृष्टि से प्राचीन भारतीय राजनीति आधुनिक राजनीति से पूर्णतया भिन्न थी। प्राचीन राजनीति में धर्म को ही सर्वोपरि माना जाता था तथा प्रत्येक कार्य को धर्म से सुशासित रखा। प्राचीन भारत में राजा धर्म से बँधा था तथा राजा का व्यक्तिगत जीवन और उसकी दैनिक दिनचर्या धर्म से ही नियमित थे। परिजन तथा पुरजन यहाँ तक कि शत्रु के साथ भी उसका सम्बन्ध धर्म के आधार पर था और युद्ध विषयक नीति भी धर्म से ही निर्देशित होती थी। केवल राजा ही नही प्रजा भी अपने व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन मे सदा धर्म का पालन करती थी।

जब पक्षी कुल प्रातः मधुर गीत गाते थे और ईश्वर की महिमा का गुणगान करते थे तब कहा जाता था पक्षियो का यह धर्म है। 'धर्म' शब्द का स्वभावतः व्यवहारिक रूप मे प्रयोग किया जाता था 'धर्म' ऐसे नियमों को कहते है जिसे किसी भी धर्म या समाज के प्रत्येक व्यक्ति को इसका पालन अवश्य करना चाहिये। भारतीय राजव्यवस्था के अन्तर्गत धर्म का अर्थ समुदाय कदापि नहीं है धर्म का अर्थ सदाचार और कर्तव्य का पालन है। सामान्य प्रजा जन का सत्य एवं अहिंसा को अपनाते हुए राज्य और राजा के प्रति निष्ठा रखना, ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शुद्ध को अपने—अपने कर्तव्यों का निर्वहन करना चाहिये। राजा द्वारा प्रजा रंजन के साथ राज्य की सुरक्षा रक्षा और सैनिकों द्वारा युद्ध नियमों का पालन करना ये सभी आगरण धर्म है और सर्वमुखी उन्नति की सिद्धि करने वाले हैं। अतः प्राचीन भारतीय राज्य राजनीति के अन्तर्गत राजा एवं प्रजा को अपने—अपने कर्तव्य से विमुख होना अधर्म है। ऐतिहासिक एवं परम्परागत उपागम के अन्तर्गत धर्म आधारित राजनीतिक व्यवस्था या शासन व्यवस्था का संचालन किया जाता था।

2. संस्थागत उपागम—

राज्य राजनीति के अंतर्गत संस्थागत उपागम का अध्यापन किया जाता है। इसमे संस्थात्मक ढांचे के पहलुओं पर ध्यान देना आवश्यक है। प्रथम सरकार के संगठन राष्ट्रीय तथा राज्य स्तर पर लगभग एक जैसे है। भारत के राष्ट्रपति का चुनाव प्रत्यक्ष रूप से होता है। और राज्य का राज्यपाल राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत होता है दूसरा संविधान की संघात्मक व्यवस्था में केंद्र का विशिष्ट स्थान है। इस प्रकार के ढांचे के अन्तर्गत राज्यों की राजनीति में दो समानांतर प्रवृत्तियों उभरी है। इन बिरोधी प्रवृतियों ने बहुत सारे तनावो को बढ़ावा दिया है। राज्यों की प्रवृति शक्ति को मजबूत करना है एवं अपने अधिकारों को स्थापित करना है, और देश की शासन नीति मे अपनी भागीदारी बढ़ाना है। जबकि अभिकि संसाधनों और योजना बद्ध समन्वय के लिये उनको केन्द्र पर निर्भर रहना पड़ता है। राज्य राजनीति की शासन व्यवस्था मे सबसे महत्वपूर्ण पद मुख्यमंत्री का होता है।

राज्यों की राजनीतिक प्रक्रियाओं में केन्द्र का हस्तक्षेप बढ़ता ही जा रहा है। बहुत से क्षेत्रों में यह राज्यपाल के कार्यालय द्वारा किया जाता है। यद्यपि सरकार का आधारभूत ढाँचा संसदीय हो लेकिन जहाँ तक राज्यपाल के पद प्रकृति और शक्तियो का सवाल है उनकी कुछ महत्वपूर्ण विशेषताएं है इनका राज्यों की राजनीति में विशेष महत्व है। प्रथम राज्यपाल निर्वाचित नही होता बल्कि मनोनीत होता है। उसकी नियुक्ति और पद राष्ट्रपति के प्रसादपर्यन्त ही बना रहता है। जिसका अर्थ है केन्द्र में सत्ताधारी पार्टी जिसकी सलाह पर राष्ट्रपति कार्य करता है अगर सत्ताधारी पार्टी के मुताबिक किसी राज्य में राज्यपाल नही तो राष्ट्रपति को सलाह देकर उसको पद से हटवा सकती है। इसके अतिरिक्त अनुच्छेद 356 में उल्लिखित आपातकाल के प्रावधान में राष्ट्रपति राज्यपाल से राज्य मे संवैधानिक तंत्र विफल होने की स्थिति में सूचना मांगता है। इसके आधार पर राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू किया जा सकता है।

3. आधुनिक उपागम—

राज्य राजनीतिक शासन व्यवस्था के तहत आधुनिक उपागम के अन्तर्गत राजनीतिक संस्थाओं के अलावा

अन्य संस्थाओं का भी अध्ययन किया जाता है। जैसे राजनीतिक का सामाजिक आर्थिक ढांचा राजनीतिक दल दबाव समूह एवं क्षेत्रीयतावाद आदि।

(क) राज्य राजनीतिक का सामाजिक अर्थिक ढाँचा

यह सर्वसम्मति से स्वीकार किया गया है कि किसी राजनीतिक व्यवस्था में राजनीतिक प्रक्रियाओं को निश्चित करने में सामाजिक आर्थिक विकास का स्वरूप और उसकी सीमा महत्वपूर्ण तत्व होता है इसलिये। राज्य राजनीति के सामाजिक आर्थिक ढाँचे का अध्ययन करना आवश्यक हो जाता है। भारतीय समाज की संरचना जटिल सामाजिक व्यवस्था से युक्त है इसी कारण भारतीय समाज को बहुलवादी कहा जाता है। यह विभिन्न भाषा जातियों, जाति विभाजन और धर्मो की विशेषता है। इसलिए सामाजिक संरचना का राज्य राजनीतिक व्यवस्था पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा है।

किसी भी राज्य के आर्थिक संसाधनों विकास की प्रवृत्तियाँ कृषि एवं उद्योग धन्धो की स्थिति से वहाँ की राजनीत प्रभावित होती है। विभिन्न राज्यो की आर्थिक स्थिति में विविधता पाई जाती है। किसी राज्य में कृषि उत्पादकता अच्छी है तो किसी राज्य मे उद्योग धन्धो का अच्छा विकास हुआ हो जैसे– देश के सकल घरेलू उत्पाद में कृषि क्षेत्र का 17.5% (2015–16) की कीमतों पर है उत्तर प्रदेश भारत का सबसे बड़ा उत्पादक राज्य है। इसके बाद पंजाब, हरियाणा और मध्य प्रदेश हैं। उत्तर प्रदेश भारत में गन्ने का सबसे अधिक उत्पादक है इसके बाद महाराष्ट्र कर्नाटक और तमिलनाडु का स्थान है। इसके अलावा उद्योग धन्धो के मामलों में भारत में कई मुख औद्योगिक क्षेत्र हैं जो विनिर्माण केन्द्र के रूप में काम करते हैं प्रमुख क्षेत्र है– गुजरात, महाराष्ट्र, तमिलनाडु, कर्नाटक और अन्य राज्य शामिल हैं। प्रत्येक क्षेत्र में अद्वितीय लाभ और ताकत है जो विशिष्ट उद्योगों और क्षेत्रो को आकर्षित करती है। जिन क्षेत्रों में कृषि उत्पादकता अधिक है उन क्षेत्रों मे किसान संगठन मजबूती से उभरे है तथा जिन क्षेत्रो औद्योगिक विकास हुंए है उन क्षेत्रों मे श्रमिक संघ मजबूती से उभरे है। जो राज्य राजनीति मे अपना विशेष प्रभाव डालते हैं।

(ख) राजनीतिक दल

लोकतांत्रिक राजनैतिक व्यवस्था में राजनैतिक दलों का स्थान केन्द्रीय अवधारणा के रूप में बहुत ही महत्वपूर्ण है राजनैतिक दल किसी सामाजिक व्यवस्था में शक्ति के वितरण और सत्ता के आकांक्षी व्यक्तियों के समूहों का प्रतिनिधित्व करते है। वे परस्पर हितो के सारणीकरण अनुसाशन सामंजस्य का प्रमुख साधन होते है। इस तरह राजनैतिक दल समाज व्यवस्था के लक्ष्यों, गतिशीलता, सामाजिक परिवर्तनों के अवरोधों और सामाजिक आन्दोलनों से भी सम्बंधित होते है। राजनैतिक दल को समाजशास्त्री सामाजिक समूह मानते हैं, जबकि राजनीतिज्ञ राजनीतिक दलो को आधुनिक राज्य में सरकार बनाने की एक प्रमुख संस्था के रूप मे देखते हैं। कुछ राष्ट्रीय राजनीतिक दल होते कुछ क्षेत्रीय राजनीतिक दल होते है राष्ट्रीय दल जिनका प्रभाव राष्ट्रव्यापी होता है, जैसे भाजपा, कांग्रेस आदि। क्षेत्रीय राजनीतिक दल जिनका प्रभाव किसी क्षेत्र विशेष तक ही होता है जैसे द्रमुक, तेदेवा वीजंद, सपां आदि।

(ग) दबाव समूह

राज्य राजनीति पर दबाव समूह भी प्रभाव डालते है। एक ही प्रकार के हित रखने वाले व्यक्ति एक समूह मे संगठित होते हैं। ताकि सामूहिक प्रयास के द्वारा वे अपने उद्देश्यों की पूर्ति कर सके। चूंकि समाज में रहने वाले व्यक्तियों के हित एक से नही होते हैं, उनमें भिन्नता पाई जाती है। इसलिए उन विभिन्न हितों को विकसित और सुरक्षित रखने के लिये अलग–अलग समूहों का निर्माण किया जाता है। पी. ओ. के अनुसार "हित समूह ऐसे गैर सरकारी संगठन है। जिनका निर्माण कानून को सरकार पर दबाव बनाते हुऐ रद्द घोषित करवाया। भारत में प्रमुख दबाव समूह कार्यरत है जैसे– ऐसोसिएटेड चैम्बर्स आफ कामर्स, फिक्की, एशोचैम, भारतीय मजदूर संघ, भारतीय किसान यूनियन आदि।

(घ) क्षेत्रीयता वाद

देश के कुछ भागो मे रहने वाले लोग अपनी भाषा संस्कृति की दृष्टि से अपने को अन्य भागों से पृथक महसूस करते हैं। राजनीतिक क्षेत्र मे केन्द्र सरकार का कम से कम हस्तक्षेप चाहते हैं। समुचित विकास के लिए पृथक राज्य का निर्माण करना चाहते हैं। 1956 के राज्य पुर्नगठन आयोग द्वारा भाषायी आधार पर राज्यो का

पुर्नगठन किये जाने के बाद से बराबर नये राज्यो का निर्माण होता होता रहा है। देश के कुछ भागों में सांस्कृतिक भिन्नता के आधार पर पृथक प्रदेशों की मांग उठती रही है फलस्वरूप उत्तर प्रदेश के पर्वतीय क्षेत्रों को पृथक करके उत्तरांचल विहार में झारखण्ड और मध्य प्रदेश में छत्तीसगढ़ राज्य का निर्माण किया गया है। इसके अलावा नागालैण्ड, मणिपुर मेघालय आदि से भी अलग राज्य की मांगे उठने लगी है श्रेत्रीयतावाद का उग्र स्वरूप पृथकतावादी आन्दोलन है। तमिलनाडु में द्रविड़स्तान पंजाब मे खलिस्तान की मांग ने तमिलनाडु समाज के विभिन्न वर्गो मे तनाव पैदा किया है जो देश की अखण्डता के लिए घातक है। इसके लिये कुछ हद तक राज्य सरकारे भी जिम्मेदार होती है जैसे मणिपुर में 2023 में दो समुदायों के बीच संघर्ष से हुयी हिंसा से अपार धन की क्षति हुई। मणिपुर राज्य सरकार अपराधियो को प्रश्रय प्रदान किया था। उन पर दण्डात्मक कार्यवाही बहुत बाद मे किया जब पूरा मणिपुर सार्वजनिक नीति को प्रभावित करने के लिये किया जाता है। यह प्रत्याशियों के अपन तथा सरकार के व्यवस्थापन के उत्तरदायित्व की अपेक्षा सरकार को प्रभावित करके अपने हित साधने में लगे रहते हैं। 'ऑडीगार्ड' ने दबाव समूहों का अर्थ बताते हुए यह लिखा है कि ''एक दबाव समूह ऐसे लोगों का औपचारिक संगठन है जिनके एक अथवा अधिक सामान्य उद्देश्य एवं स्वार्थ हों और जो घटनाओं के क्रम को विशेष रूप से सार्वजनिक नीति के निर्माण और शासन को इसलिए प्रभावित करने का प्रयास करें कि उनकों हितो की रक्षा और वृद्धि हो सके।''

कोई दबाव समूह है या नही इसका निर्धाण इस बात से होता है कि वह सरकार पर दबाव डालता है या नही उसका महत्व तथा दबाव की सीमा उसके सदस्य संख्या, सदस्यों की योग्यता और आर्थिक स्थित जैसे तत्वो पर निर्भर करती है। हाल में 2021 में किसानों ने आन्दोलन करके सरकार पर दबाव बनाते हुऐ किसान विरोधी कानूनो को रद्द करवाया है। इसके बाद 2024 में भारतीय किसान विरोध 13 फरवरी 2024 को उत्तरी राज्यो पंजाब व हरियाणा मे किसानो द्वारा शुरू किये गये निरंतर विरोध और सड़क पर अवरोधो का यह आन्दोलन का दूसरा दौर था बहुत ही व्यापक बड़ा आन्दोलन था। इसके अलावा सरकार ट्रक ड्राइवरों के लिए "हिट एण्ड रन' प्रावधान का कानून लेकर आयी जो कि उनके हितो के अनुकूल नहीं था इसलिये 1 जनवरी 2024 से ट्रक ड्राइवरों ने आवगमन को ठप्प कर दिया, व्यापक स्तर पर स्ट्राइक करके हिट एण्ड रन कानून के विरोध मे देश तथा पूर विश्व से त्वरित कार्यवाही की मांगे हुयी तथा व्यापक स्तर पर आन्दोलन भी किये गये। इस प्रकार की राज्यों की संघर्ष की स्थिति राज्य राजनीति एवं राष्ट्रीय एकता अखण्डता को प्रभावित करती हैं।

16.5 बदलते परिदृश्य मे राज्य राजनीति का स्वरूप

वर्तमान बदलते परिदृश्य मे जनता को सामाजिक, आर्थिक एवम् सार्वजनिक जीवन स्तर को ऊँचा करना राज्य राजनीति उद्देश्य है। नागरिक स्तर पर या व्यक्तिगत स्तर पर कोई विशेष प्रकार का सिद्धान्त एवं व्यवहार राजनीति कहलाती है। संकीर्ण कर्म मे सत्ता मे पद हासिल करना तथा सरकारी पदो का उपयोग अपने निजी हितो को प्राप्त करने में करना राजनीति है भारतीय राज्य राजनीति को व्यवस्था को सुचारू रूप से संचालित होने के मार्ग में बहुत सी समस्याएं चुनौतियाँ हैं। जातिवाद का राज्य राजनीति पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा है जाति व्यवस्था, क्षेत्रीयतावाद एवं भाषावाद, भारतीय राजनीति एक बड़ी समस्या है। महिलाओं की राजनीति में सहभागिता कम होना भी लोकतांत्रिक व्यवस्था के लिए सही नहीं है। हालांकि 74 वे संविधान संशोधन के माध्यम से महिलाओं को पंचायती राज 33 प्रतिशत आरक्षण का प्रावधान करके उनकी सहभागिता को प्रोत्साहित किया गया है। लेकिन ये पर्याप्त नहीं है।

पंचायतीराज प्रणाली का उद्देश्य ग्रामीण क्षेत्रों मे स्थानीय लोग को मजबूत करना तथा लोगों की मूल आवश्यकताओं को राजनीतिक व प्रशासनिक प्रयास से पूरा करना है। इस प्रकार की चुनौतियों का सामना करते हुये भारतीय राज्य राजनीतिक की व्यवस्था सफलतापूर्वक अपना कार्य कर रही है जो अपने आप मे एक मिसाल है। सामूहिक प्रदर्शनों तथा हिंसक आन्दोलनों राज्य राजनीतिक व्यवहार में अनुमति नहीं हैं। शांतिपूर्ण प्रदर्शन को ही अनुमति मिलना चाहिये लेकिन हाल के दिनों में कुछ आन्दोलन, जो कि शांतिपूर्ण ढंग से अपनी मांगो के लिये धरना प्रदर्शन किये गये जैसे किसान आन्दोलन, वाहन चालको के आन्दोलन अनुचित कानूनों के विरोध में विपक्ष के आन्दोलन कि एवं दिल्ली के बौद्धिक वर्गों के द्वारा आन्दोलन किये गये। जिस पर सरकार द्वारा, उन पर हिंसक कार्यवाही करवाई गई, पुलिस की पिटाई से लोगो की मौते हुयी, उन पर आंशू गैस छोड़ी गयी, पानी के फौवारे लगयो गये आन्दोलन में दिल्ली जाते हुये किसानों के रास्तों मे राज्य सरकारो ने कीलें ठुकवाई आदि। इस प्रकार की कार्यवाहियाँ स्वस्थ लोकतंत्र के विकास में बाधक बनते हैं। क्योंकि लोक तंत्रीय व्यवस्था

अन्तर्गत संविधान मे मौलिक अधिकारो के अन्तर्गत वाक्अभिव्यक्ति संगठन बनाने, एवं शांतिपूर्ण धरना प्रदर्शन की स्वतंत्रता नागरिको को प्रदान की गई है। इसको प्रतिबंधित करना निश्चित रूप से राजनीत मे नागरिक भागीदारी के खुले तरीकों के विकास को और भी बाधित करते है और सरकार तथा लोगो के बीच तनाव बढ़ाते हैं। इसके अलावा जनमत निर्मान में प्रेस की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि भारत में प्रेस निष्पक्ष नहीं रहा उसने साम्प्रदायिकता को बढ़ावा दिया है। सामुदायिक घटनाओं को समाचार पत्र बढ़ा चढ़ाकर प्रकाशित करते हैं। परिणाम यह होता है कि समाज के सम्बन्धित वर्ग उल्लेखित हो उठते हैं, और साम्प्रदायिक तनाव देश के दूसरे भागों तक फैल जाता है। इसी प्रकार कुछ समाचार पत्र सत्तारूढ़ दल का आँख मूँद कर समर्थन करते हैं। कुछ समाचार पत्र कठोरता के साथ विरोधी दृष्टिकोण रखते हैं। इससे स्वस्थ जनमत का निर्माण नही हो पाता है। एकीकरण की भावना को बढ़ावा देने पर राज्यों की विभिन्नताओं के वावजूद राष्ट्रीयता को बढ़ावा मिलेगा देश की अखण्डता को बल मिलेगा। यही विश्वास होना चाहिये कि विभिन्न धर्म और जाति से सम्वन्ध रखने के बाद भी हम मनुष्य होने और एक ही देशवासी होने के कारण एक है। देश में स्वस्थ राजनीतिक दल प्रणाली की आवश्यकता है। जो साम्प्रदायिक हितो से ऊपर उठकर समाज राज्य एवं देश हित मे वचनबद्ध होकर कार्य करे। (भारतीय राजनीतिक व्यवस्था प्रोफेसर एस.एम. सईद पेज नं 442 एवं 443)।

16.6 सारांश

अतः स्पष्ट है कि प्रत्येक राज्य का राजनीतिक, सामाजिक, एवं आर्थिक विकास अनेक प्रकार से एक दूसरे से भिन्न है। उनकी भौगोलिक परिस्थितियां भिन्न होती है। राजनीतिक विशेषताएं भी भिन्न होती हैं। और ये अंतःक्रियाओं की भिन्नता सामाजिक रीति–रिवाजों एवं राजनीतिक विश्वास के साथ रचनाओं को प्रभावित करती है। राज्यो की प्रवृत्ति अपनी शक्ति को मजबूत करना है। अपने अधिकारों को स्थापित करना है। देश की शासन नीति में अपनी भागीदारी बढ़ाने का प्रयास करते हैं, जबकि योजनाओं और समन्वय के लिये उन्हें केन्द्र पर निर्भर रहना पड़ता है। पहले राज्य राजनीति हो चाहे राष्ट्र की राजनीति ऐतिहासिक एवं संस्थागत अध्ययन किये जाते हो किन्तु वर्तमान मे राजनीतिक संस्थाओ के साथ–साथ ही साथ राज्य का सामाजिक आर्थिक ढाँचा, राजनीतिक दल, दबाव समूह, क्षेत्रीयतावाद एवं बदलते परिदृश्य मे राज्य राजनीति के स्वरूप का भी अध्ययन आवश्यक हो गया है। बदलते परिदृश्य मे राज्य राजनीति का उद्देश्य जनता के सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन को ऊँचा करना है। राज्यो को बहुत से आन्दोलनो एवं अन्य चुनौतियों का सामना भी करना पड़ता है साथ ही राज्यो की समस्याओ सुलझाना तथा राज्यो मे होने वाली हिंसक गतिविधियो को नियंत्रित करना भी है राज्यों की राजनीति मे अपराधियों के प्रति पक्षपाती रवैया त्यागना होगा तथा निष्पक्ष पत्रकारीता को भी प्रोत्साहन देना होगा क्योंकि स्वस्थ लोकतंत्र एवं स्वस्थ राज्य राजनीति मे समाचार पत्रो का भी महत्वपूर्ण योगदान होता है।

16.7 अभ्यास प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. राज्य राजनीति का कौन सा उपागम नहीं?

   (A) ऐतिहासिक या परंपरागत उपागम

   (B) संस्थागत उपागम

   (C) आधुनिक उपागम

   (D) प्रतिमान उपागम

   उत्तर– (D)

2. आधुनिक उपगाम के अंर्तगत कौन सा सही नहीं है।

   (A) राज्य राजनीति का समाजिक आर्थिक ढांचा

   (B) राजनीतिक दल

   (C) दबाव समूह

(D) इंप्लाइज संघ

उत्तर– (D)

निम्नलिखित प्रश्न –

3. राज्य राजनीति का अर्थ एवम प्रकृति स्पष्ट कीजिए।
4. राज्य राजनीति के अध्ययन के सैद्धांतिक आधार समझाइए।
5. राज्य राजनीति के अध्ययन के उपागमो पर प्रकाश डालिए।
6. बदलते परिदृश्य में राजनीति के स्वरूप की व्याख्या कीजिए।

16.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. निलंगना जैन, द प्रॉब्लम ऑफ जस्टिस इज पॉलिटिकल थियरी एंड स्टेट प्रैक्टिस, अनामिका पबिलसर्स, नई दिल्ली।
2. शशि मणि त्रिपाठी, द ह्यूमन फेस ऑफ सुप्रीम कोर्ट ऑफ इंडिया, गंगा कावेरी पाब्लिसिंग हाउस, वाराणसी।
3. संगीता आहूजा, पीपुल लॉ ऑफ जस्टिस, ओरियंट लंगमान, नई दिल्ली।
4. लास्की हेरोल्ड जे. पार्लियामेंट्री गवर्नमेंट इन लंदन, अलायन्स यूनियन लंदन।
5. राय एसएन. ज्यूडिशियल रिव्यू एंड फंडामेंटल राइट्स।
6. मार्कण्डन के सी, द प्रियमबल।
7. पायली एम वी, कांस्टीट्यूशनल गवर्नमेंट एंड पॉलिटिक्स।

इकाई–17 राज्य राजनीति के सामाजिक आर्थिक निर्धारक

17.0 उद्देश्य

17.1 प्रस्तावना

17.2 राज्य राजनीति सामाजिक आर्थिक पृष्ठभूमि

17.3 राज्य राजनीति के सामाजिक आर्थिक निर्धारण

17.4 राज्य राजनीति में सामाजिक सरचना की विशेषताएं

17.5 राज्य राजनीति में सामाजिक संरचना का प्रभाव

17.6 राज्य राजनीति में आर्थिक तत्व की विशेषताएं एवं प्रभाव

17.7 सारांश

17.8 अभ्यास प्रश्न

17.9 उपयोगी पुस्तकें

17.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात आप

- राज्य राजनीति की सामाजिक आर्थिक पृष्ठभूमि समझ सकेंगें।
- राज्य राजनीति के सामाजिक आर्थिक निर्धारण को समझ सकेंगे।
- राज्य राजनीति सामाजिक संरचना एवं प्रभाव को समझ सकेंगे।
- राज्य राजनीति में आर्थिक तत्व एवं उसके प्रभाव को जान सकेंगे।

17.1 प्रस्तावना

अनेकता में एकता भारतीय समाज की विशिष्ट पहचान है। भारतीय राज्य राजनीति का सामाजिक आर्थिक ढाँचा प्रमुख अंग है। किसी भी समाज में अर्थव्यवस्था और राजनीति, राष्ट्र और कानून तथा प्रौद्योगिकी एवं विज्ञान सभी एक दूसरे से जुड़े हुये होते हैं। और इसलिये किसी भी एक क्षेत्र में परिवर्तन ने दूसरे क्षेत्र प्रभावित होना अवश्यंभावी है। खासकर आर्थिक विकास का तरीका और प्रसार राजनीतिक प्रक्रिया को प्रभावित करने वाला प्रमुख तत्व है। किसी भी समाज में राजनीति को प्रभावित करने में संसाधनो की क्षमता आर्थिक विकास का स्तर कृषि की प्रकृति, औद्योगीकरण की रफ्तार और वर्ग चेतना का विकास अहम भूमिका निभाती है।

सामाजिक एवं आर्थिक दृष्टि से भारत के विभिन्न राज्यो में संरचनाएं भिन्न है। भारतीय राज्यो मे सामाजिक आर्थिक भिन्नता पाई जाती है। जबकि पूरे देश में एक प्रकार की ही शासन व्यवस्था लागू है भारत जैसे विकासशील देश जहाँ राजनीति और समाज मे तेजी से परिवर्तन हो रहे हैं वहीं सामाजिक–आर्थिक ढाँचे भी परिवर्तित हो रहे हैं। राजनीति में घटित होता है वह पूरी तरह से आर्थिक और सामाजिक घटनाओं का ही परिणाम होता है। राजनीतिक प्रक्रिया निश्चित रूप से सामाजिक आर्थिक ताकतो से प्रभावित होती है आजादी के समय तथा उसके पश्चात सामाजिक आर्थिक शक्तियों और उससे प्रभावित भारतीय राज्य राजनीति की व्यवस्था है।

17.2 राज्य राजनीति की सामाजिक–आर्थिक पृष्ठ भूमि

भारतीय राजनीति की समाजिक व्यवस्था विश्व की प्राचीनतम सामजिक व्यवस्थाओं मे से एक है। इसमें अनेक विभिन्नताएं और जटिलताएं हैं। भारत जैसे विकासशील देश में जहाँ राजनीति और समाज में तेजी से

परिवर्तन हो रहे है वहीं सामाजिक आर्थिक परिवर्तन भी राजनीति को प्रभावित करते हैं। लगभग दो सौ वर्षो के औपनिवेशिक नीतियों ने भारतीय समाज व्यवस्था, अर्थव्यवस्था और शासन व्यवस्था का स्वरूप बदल दिया। उदाहरण के लिये उन्नीसवी शताब्दी में ब्रिटिश शासको ने भारत में धीरे–धीरे आधुनिक राष्ट्र की नींव रखी। उन्होंने भूमि का सर्वेक्षण कराया भू–राजस्व तय किया, आधुनिक नौकरशाही कायम की सेना और पुलिस बल का गठन किया। अदालते स्थापित की, और कानून नियम बनाये। इसको अलावा उन्होंने संचार, रेल–सेवा, डाकतार व्यवस्था, टेलीग्राफ सड़के और नहरें बनाई स्कूल और कलेज खोले। ऐसे परिवर्तनों से वे ताकते सक्रिय हुयी जिनका भारतीय अर्थव्यवस्था और समाज के संतुलित विकास और प्रंगति के लिए नहीं बल्कि ब्रिटिश साम्राज्यवादी हितों की पूर्ति के किया गया था ताकि ब्रिटेन में नये स्थापित उद्योग धन्धों के विकास के भारत से कच्चे माल को इंग्लैण्ड आसानी से पहुँचाया जा सके, तथा बने हुये माल को अधिक मूल्यों पर भारत लाकर बेचा जाये। इस प्रक्रिया से भारत के उद्योग धन्धों का विकास अवरूद्ध हो गया था। किन्तु संचार साधनो, यातायात साधनों, स्कूल कालेजो, समाचार–पत्रों आदि के विकास ने भारतीय जनता के लिये ब्रिटेन की औपनिवेशिकता से युक्त होने के लिये ढाल का काम किया।

(क) सामाजिक ढाँचा

भारतीय सामाजिक ढाँचे के स्वरूप का प्रभाव नये संस्थानों के विकास और काम काज पर पड़ा। देश पूरी तरह दो वर्ग तरह दो वर्गों में बटा हुआ था उच्च वर्ग एवं निम्न वर्ग, उच्चवर्ग जिसके हाथ मे परम्परागत ढंग से अधिकार थे तथा दूसरी तरफ निम्न वर्ग जो अधिकारों से वंचित वर्ग था, जैसे छोटे किसान, भूमिहीन श्रमिक, अकुशल श्रमिक, बेरोजगार आदि। अभिजात्य वर्ग में व्यवसायी, कर्मचारी, नेता, उद्योगपति जिनका राज्य की सम्पत्ति पर पूरा मालिकाना अधिकार है। सम्पति और आर्थिक अधिकारों वाले वर्ग का भारतीय राजनीति पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। इस तरह शासन तंत्र आर्थिक रूप से सम्पन्न व्यक्तियो के हाथों आ गया और उन्होंने इसका उपयोग अपने हितो को साधने में किया।

भारतीय समाज का एक और महत्वपूर्ण पहलू था–जाति, वर्ण, समुदाय, भाषा, क्षेत्रीय, आधार पर भेदभाव। सदियो पुरानी परम्परा के अनुसार हालांकि रोजमर्रा की जिन्दगी मे विभिन्न धर्म के लोगों के बीच किसी तरह की भेद–भाव नहीं किया जाता था वे सब एक समाज में घुल मिलकर रहते थे। लेकिन राजनीतिज्ञों ने अक्सर जनता को विभाजित करने के लिये धर्म का उपयोग किया। 'फूट डालो राज करो' की उपनिवेशवादी नीति मे यह खास तौर से दिखलाई पड़ता है।

राजनीतिक प्रक्रिया को जटिल बनाने का महत्वपूर्ण तत्व था समाज में जाति–भेद (जाति का बहुत ही सामान्य, लेकिन मूल अर्थ था ऐसी प्रतिष्ठा और परम्परा को स्थापित करना जिसमें एक व्यक्ति की स्थिति और प्रतिष्ठा उसके जन्म पर निर्भर करती है। अपने चरम स्तर पर जाति स्तर विन्यास अन्य हर तरह के स्तर विन्यास को सम्मिलित कर लेती है। एक ही जाति के सभी व्यक्तियों के एक ही तरह के रीति–रिवाज तथा सामाजिक–आर्थिक और राजनीतिक स्थिति होती थी अलग–अलग जातियों के लोग इन सभी मामलों में एक दूसरे से अलग होते थे। सामान्य अर्थो में वर्षो तक जाति व्यवस्था के आधार पर ही सामाजिक आदान–प्रदान होता रहा है। इसमे सामाजिक मूल्यों की झलक दिखाई पड़ती थी।

उपनिवेशवादी शासन ने जाति व्यवस्था में कुछ, परिवर्तन किये स्वतंत्र शिक्षा, आर्थिक अवसर और नये–नये संस्थानो द्वारा अधिकारों की स्थिति से जाति व्यवस्था ने आधुनिक रूप लिया बदलते परिवेश मे जाति प्रथा की कुछ विशेषताएं जैसे – रीति–रिवाज परम्पाराएं महत्व खोने लगी। साथ ही धर्म निरपेक्षता, सामूहिक तथा सैद्धान्तिक आयाम उभर कर सामने आने लगे। अंग्रेजी शिक्षा व्यवस्था के कारण भारतीय समाज में विभाजन दिखाई पड़ा एक शिक्षत वर्ग कला साहित्य, भारतीय संस्कृति सूच्यों परम्पराओ को लेकर आगे बढ़ा तथा दूसरा शिक्षित वर्ग अंग्रेजी, विज्ञान पश्चिमी शिक्षा और संस्कृति को अपनाते हुये आगे बढ़ा। इस विभाजन ने राष्ट्रीय आन्दोलन के चरित्र को आजाद भारत की राजनीतिक व्यवस्था को काफी हद तक प्रभावित किया।

(ख) आर्थिक ढौचा

जहाँ तक आर्थिक क्षेत्र की बात है। दो शताब्दी के लम्बे ब्रिटिश उपनिवेशवादी शासन ने भारत को पूरी तरह निचोड़ दिया था। भारत के उद्योग धन्धे, हस्त शिल्प कला, घरेलू उद्योग धन्धे, पारम्परिक उद्योग धन्धे आदि को अंग्रेजो ने नष्ट कर दिया था। आजादी के समय ब्रिटिश उपनिवेशवादी शासन ने भारत को गरीब देशों

की श्रेणी में लाकर खड़ा कर दिया था। 1948–49 में भारत की राष्ट्रीय आय अनुमानतः 86.5 अरब रुपये थी यह प्रति व्यक्ति वार्षिक आय मात्र 246.9 रुपये थी और इस तरह विश्व मे सबसे कम प्रति व्यक्ति आय वाले देशो मे से एक भारत देश था। गरीबी के अलावा विभिन्न वर्गो और क्षेत्रों के बीच आय और सम्पत्ति को विवरण पूरी तरह असमान वितरण था।

भारत की अर्थ व्यवस्था मुख्यतः कृषि पर आधारित थी यह बात इस तथ्य से भी स्पष्ट होती है कि कुल श्रम शक्ति का लगभग 72% भारत कार्यरत थी। संगठित उद्योग धन्धों में दो प्रतिशत श्रम शक्ति लगी हुयी थी कुल श्रम शक्ति का 11 प्रतिशत से भी कम हिस्सा विभिन्न तरह के उद्योग धन्धो मे खपा था। 08 प्रतिशत से भी कम व्यापार और परिवहन के क्षेत्र मे जबकि 10 प्रतिशत से भी कम अन्य सेवाओ में थे। कृषि क्षेत्र में अधिक व्यक्ति लगे थे किन्तु राष्ट्रीय आय मे कृषि क्षेत्र का योगदान मात्र आधा था इससे यह पता चलता है कि इतनी बड़ी संख्या में कृषि क्षेत्र में सक्रिय मजदूर अधिक उत्पादन क्षमता वाली किसी आधुनिक पूँजीवादी कृषि व्यवस्था से जुड़े हुये नहीं थे। इससे यह पता चलता है कि जरूरत से ज्यादा लोग कृषि पर निर्भर थे। भूमि का वास्तविक मालिकाना कुछ ही लोगो के हाथ में जो जमींदार जागीरदार बड़े भूस्वामियों जैसे सामतवादी प्रथा के वाहको के हाथ मे था। इनके नीचे विचौलिये काश्तकार थे। जिनके अलग–अलग अधिकार और कर्तव्य थे। ब्रिटिश नीतियो की वजह से किसानों की स्थिति बद से बदतर हुयी अनेक किसान बटाईदार, छोटे काश्तकार और भूमिहीन कृषि मजदूरों में बदल गये थे। विभिन्न मामलो में भारत विकसित देशों पर निर्भर हो गया था।

17.3 राज्य राजनीति के सामाजिक– आर्थिक निर्धारण

यह सर्व सम्मति से स्वीकार किया गया है कि किसी राजनीतिक व्यवस्था में प्रक्रियाओं को निश्चित करने में सामाजिक आर्थिक विकास का स्वरूप और उसकी सीमा एक महत्वपूर्ण तत्व है। संसाधन क्षमता, आर्थिक विकास की प्रकृति और स्तर शहरीकरण और शिक्षा स्तर राजनीति के स्वरूप और तथ्य इसी तरह स्वतंत्रता का समय भारत के विभिन्न क्षेत्रों मे औद्योगीक समान नहीं था। ब्रिटिश उपनिवेशवादी शासन व्यापारिक, औद्योगिक विकास मुख्यतः समुद्री तटवर्ती क्षेत्रों में हुआ, जैसे– बम्बई, कलकत्ता, और मद्रास आदि। फलस्वरूप इस क्षेत्र में व्यापतिक पूँजीपति वर्ग का विकास हुआ जिसने उद्योगों मे पूँजी लगाना शुरू किया। जिससे शिक्षा और रोजगार के अवसर बढ़े, साथ ही उपभोज्य उद्योग का विकास हुआ। इन उद्योगों में काम करने के लिये मजदूर वर्ग पर्याप्त मात्रा में दूसरे क्षेत्रों से लाये गये। जिससे इन का चहुँमुखी विकास हुआ।

भारत के अन्य क्षेत्रों मे जहाँ पर उद्योग कम विकसित हुऐ थे वहाँ पर शैक्षिक उच्च संस्थानों का विकास हुआ इसके अलावा वहाँ पर वकीलों, डाक्टरों, अध्यापको, पत्रकारो जैसे – विशिष्ट वर्ग का विकास हुआ। परिणामस्वरूप ये क्षेत्र राष्ट्रीय आन्दोलन के जन्म और विकास के केन्द्र बने और उसकी जगहों की अपेक्षा इनकी राजनीति धर्मनिरपेक्ष प्रजातांत्रिक रही इनका विकास भी ज्यादा हुआ।

उपर्युक्त वर्णित तत्वों के साथ सामाजिक तत्व भी जुड़े है। जैसे जाति, धर्म भाषा और श्रम अवसर इनका जीवन विभिन्न तत्वो के अन्तर–क्रिया के फलस्वरूप होता है। ये तत्व व्यक्तिगत चेतना, सामाजिक सम्बन्ध राजनीतिक व्यवहार के राष्ट्रीय प्रतिमानों के स्तर पर कभी व्यक्तिगत रूप से और कभी साथ मिलकर कार्य करते हैं। सभी मिलकर शिक्षा, शहरीकरण, औद्योगीकरण कृषि विकास और सामाजिक भाषाई और धार्मिक ढाँचे के कारण राज्यों के नीच अत्यधिक भिन्नता पैदा हो जाती है। जिसके फलस्वरूप राजनीतिक प्रक्रियाओं के विभिन्न प्रतिरूप और प्रवृत्तियाँ देश के बहुत से भागों में अलग अलग देखने को मिलती है।

17.4. राज्य राजनीति में सामाजिक संरचना की विशेषताएं

भारतीय राज्य राजनीति सामाजिक संरचना में वर्ण व्यवस्था सदियों पुरानी वैदिक परम्परा मे मिल जाती है। चार वर्ण वैदिक काल से अस्तित्व मे थे। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि सभी वर्गों के कार्यो का भी विभाजन किया गया था ब्राह्मण का कार्य था अध्ययन अध्यापन क्षत्रिय का कर्तव्य था प्रजा की रक्षा करना तथा उसकी रक्षा हेतु एवं अपने साम्राज्य विस्तार हेतु युद्धरत रहना। वैश्य का कार्य व्यापार आदि कार्य करना तथा शूद्र वर्णक्रम मे सबसे निचले स्तर पर था शूद्रों का कार्य अन्य ऊपरी तीनो वर्गो की सेवा करना। वर्ण व्यवस्था की संख्या में व्यक्ति की योग्यता और आधार बनाकर चलने की बात थी। लेकिन बाद इसने जाति व्यवस्था का स्वरूप ले लिया जो व्यक्ति के जन्म पर आधारित थी मन्नु स्मृति में जिसके बारे मे विश्वास किया जाता है कि इसे प्राचीन भारतीय राजा मनु ने लिखा है।

वर्ण व्यवस्था का बहुत ठोस बौद्धिक समर्थन किया गया है। प्रारम्भ में वर्ण व्यवस्था में केवल वर्ग थे जैसे– ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य। ब्राह्मणों में पुरोहित और बुद्धिजीवी वर्ग आते थे। क्षत्रिय योद्धा शासक होते थे, और वैश्य उत्पादन के क्षेत्र से सम्बन्धित लोग होते थे, जिनमें कारीगर और किसान करते थे। शुद्रो को वर्ण व्यवस्था में बाद मे जोड़ा गया है। उनकी हैसियत गुलामो जैसी थी। शूद्रों में अधिकांशतः युद्ध में हारे हुये बंदी और जाति से निकाले हुए लोग आते थे।

इस प्रकार मानसिक शारीरिक श्रम के अन्तर्विरोध से पैदा हुआ सामाजिक विभाजन समय के साथ–साथ जन्म और नातेदारी पर आधारित कट्टर सामाजिक विभाजन में बदल गया। अब जाति व्यवसाय और स्तर पर आधारित न होकर व्यवसाय और स्तर ही जाति आधारित हो गये।

जाति प्रथा के रहते भारतीय समाज और राज्य का वर्ग विश्लेषण कठिन और पेचीदा हो जाता है। हालाकि आर्थिक रूप से सम्पन्न वर्ग और उँची जातियाँ बहुत हद तक एक ही है। फिर भी जटिलता बनी हुयी है। इसे उन मध्ययम जातियों से बढ़ते सामाजिक राजनीतिक महत्व ने और मजबूत कर दिया जिनकी आर्थिक स्थितियाँ ''हरित क्रांति'' के कारण बेहतर हो गई है। हाल के दशकों में जातिगत, निष्ठा और कतारबंदी की प्रवृत्ति इतनी मजबूत हो गई है कि जाति भारत में राजनीतिक प्रक्रिया सबसे महत्वपूर्ण निर्धारक तत्वों में से एक बन गई है।

17.5 राज्य राजनीतिक में सामाजिक संरचना का प्रभाव

समाजिक ढाँचे के तत्व राजनीतिक प्रक्रिया के साथ अन्तर्क्रिया करते है। सामाजिक ढाँचे के सम्बन्ध में राजनीतिक प्रक्रिया का अध्ययन इसलिये महत्वपूर्ण हो जाता है, क्योकिं जिस समाज के अन्दर राजनीतिक ढाँचा क्रियाशील होता है। वह उसकी राजनीतिक प्रक्रिया पर महत्वपूर्ण प्रभाव डालता है। यदि भारत विभिन्न सामाजिक राजनीतिक मामलों में सम्बंधित खबरों पर नजर डाले ते जातियों के बहुत से आयाम दिखाई देते हैं। उदाहरण स्वरूप ''जाति युद्धों'' या अनुसूचित जातियो पर अत्याचारों की बात सुनते है बेलची, पिपरा, परसबीधा और अरवल इस संदर्भ में बहुत चर्चित नाम है। आरक्षण विरोधी कहे जाने वाले आंदोलनो की बात सुनाई पड़ती है जब गुजरात मे 1985 मे आरक्षण के लिये दंगे भड़के तो मुखमंत्री ने पिछड़े वर्गों के लिये आरक्षण 10 प्रतिशत से बढ़ाकर 28 प्रतिशत कर दिया था। इसके बाद 1990 के मध्य मे राष्ट्रीय मोर्चा सरकार द्वारा मण्डल कमीशन की रिपोर्ट लागू करने के विरोध मे आरक्षण विरोधी देंगे हुये थे। राजनीतिक दलो द्वारा ''जाति गठबन्धन'' या ''जाति अपील'' की ओर मतदाओं द्वारा ''जाति आधारित'' मतदान की बात सुनने को मिलती है। उच्च वर्गों द्वारा सरकार से आरक्षण की मांग किये जाने पर जनवरी 2019 मे नरेन्द्र मोदी सरकार ने 103वें संविधान संशोधन के तहत EWS कोटा लागू किया। सरकार ने संविधान के अनुच्छेद 15 और 16 खण्ड 6 मे इस कोटे को जोड़ा जो कि सवर्ण वर्ग के लोगों जो कि काधिक रूप से कमजोर हे उन्हें नौकरी और शिक्षा में 10% का आरक्षण देता है। इसके बाद अन्य वर्गो द्वारा यह मांग उठायी जाने लगी कि सभी वर्ग के लोगों को उनकी जनसंख्या के अनुपात में आरक्षण मिलना चाहिये क्योंकि अन्य वर्गों को उनकी जनसंख्या के अनुपात में आरक्षण का लाभ कम प्राप्त हो रहा हैं। जातिगत भेद–भाव, वर्ग भेदभाव आदि के कारण राजनीति मे कुछ नकारात्मक परिणाम भी दिखाई दिये। हालांकि राम मनोहर लोहिया ने जाति प्रथा को पूरी तौर पर समाप्त करने के लिये कई तरह के आन्दोलन चलाए थे। यद्यपि उन्होंने ऊँची जातियो के तत्वों और समाज के दूसरे प्रगतिशील तत्वों को भी साथ लेने की बात कही थी लेकिन जाति प्रथा के विरोध में लोहिया के अभियान को बाद में सीमित कर दिया गया। बृहद पैमाने पर सामाजिक संरचना राजनीति संस्थाओं को प्रभावित करती है। माना जाता है कि सामाजिक मानदण्ड बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक के बीच संबंधों के माध्यम राजनीतिक संरचना को प्रभावित करते है। परिवार, धर्म, कानून, अर्थव्यवस्था और वर्ग सामाजिक संरचनाएं बड़ी प्रणालियों जैसे – राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक एवं कानूनी प्रणालियों आदि को महत्वपूर्ण रूप से प्रभावित करती है।

17.6 राज्य राजनीति में आर्थिक तत्व की विशेषताएं व प्रभाव

(क) राजा राजनीति में आर्थिक तत्व की विशेषताएं

राजनीति अर्थव्यवस्था की निम्नलिखित विशेषताएँ है।

1. समाजवादी राजनीतिक अर्थव्यवस्था इस विचार को बढ़ावा देती हो कि वस्तुओं और धन का उत्पादन

और वितरण समाज द्वारा बनाये रखा और विनियमित किया जाता है। न कि लोगों के एक वशेष समूह द्वारा इसके पीछे तर्क यह है कि समाज द्वारा जो कुछ भी उत्पादित किया जाता है। वह समाज के लोगों के वजह से होता हो जो इसमें भाग लेते हैं। चाहे उनकी स्थिति कुछ भी हो समाजवाद का उद्देशय अमीर और गरीब के बीच की खाई को पाटना है। जिससे व्यक्तियो या समूहों की अधिकांश शक्ति और धन को नियंत्रित करने की क्षमता समाप्त हो जाती है।

2. पूंजीवादी राजनीतिक अर्थव्यवस्था का सिद्धान्त व्यक्तिगत लाभ एवं उन्नत्ति की प्रेरणा पर आधारित है। यह मुक्त बाजारो को अपनी मर्जी से अर्थव्यवस्था को विनियमित करने और चलाने की क्षमता की वकालत करता है। पूंजीवाद के पीछे का विचार यह है कि निजी व्यक्ति और संस्थाएं अपने स्वयं के हितो से प्रेरित होती है। वे उत्पादन और वितरण को नियंत्रित करते है कीमते निर्धारित करते है और आपूर्ति और मांग बनाते है।

3. मिश्रित अर्थव्यवस्था की विशेषता है कि आर्थिक क्षेत्र सार्वजनिक तथा निजी हाथो मे स्वामित्व बनाये रखते है अर्थव्यवस्था मे सभी वस्तुओं और उत्पादों का उत्पादन करने, सम्पत्ति अर्जित करने और बनाये रखने अपनी रुचि के व्यवसाय को चुनने और अपनी इच्छानुसार उत्पादो/सेवाओं की मांग करने के लिए स्वतंत्र है। भारत मे राजनीतिक अर्थलवस्था पूँजीवाद और समाजवादी गुण दोनो के गुणो का मिश्रण है भारत में मिश्रित अर्थव्यवस्था अपनायी गई है। पूर्व में समाजवाद की और इसका झुकाव था किन्तु 1991 से उदारीकरण के दौर में पूँजीवाद की ओर भारतीय अर्थव्यवस्था का झुकाव हो गया। तथा वर्तमान मे मोदी सरकार के काल में लगभग सभी क्षेत्रों में भारतीय अर्थव्यवस्था के निजी हाथों के लिये खोल दिये गये है। (2014 से 2024 तक में) मिश्रित अर्थव्यवस्था प्रणाली पूँजीवादी और समाजवादी अर्थव्यवस्था दोनों की विशेषताओं को जोड़ती है। इसमें मुख्य रूप से तीन विशेषताएं शामिल है। जैसे निजी सम्पत्ति सुरक्षा, मांग और पूर्ति के नियमों के मूल्य निर्धारित करके देना और व्यक्तिगत हितो से प्रेरणा प्राप्त करना आदि।

(ख) राज्य राजनीति मे आर्थिक तत्व का प्रभाव

भारत के राज्य राजनीतिक अर्थव्यवस्था मिश्रित है। जिसमे सार्वजनिक और निजी क्षेत्रों के बीच प्रतिस्पर्धा होती है। जिसके परिणाम स्वरूप अन्ततः दक्षता और उत्पादकता में वृद्धि होती होती है। सार्वजनिक क्षेत्र की कम्पनियों से प्राप्त लाभ सरकार को प्राप्त होता है। परिणामस्वरूप मिश्रित अर्थव्यवस्था में आय की असमानता कम होती है क्योंकि पूँजीपति जहाँ व्यक्तिगत स्वार्थ से प्रेरित होकार कार्य करते तो समाज मे सम्पत्ति के वितरण, में असमानता आ जाती है किन्तु उस असमानता को समाप्त करने सरकार द्वारा जनता के लिये कल्याणकारी योजना चलायी जाती है। जिससे समाज मे आय की असमानता को कम करने का प्रयास सरकार द्वारा किया जाता है। सरकार द्वारा चलायी जा रही योजनाएं है– जैसे

1. कोरोना काल मे केन्द्र सरकार ने प्रधानमंत्री गरीब कल्याण अन्न योजना शुरू की है इस योजना के तहत गरीब जरूरतमंदों को हर महीने प्रत्येक व्यक्ति को 5 किलोग्राम तक मुफ्त राशन दिया जाता है। 1 जनवरी 2024 से सरकार ने अगले 5 वर्षों के लिये इसे आगे बढ़ा दिया है।

2. प्रधानमंत्री उज्ज्वला योजना भारत के गरीब परिवारो की महिलाओं के लिये केन्द्र सरकार ने 1 मई 2016 मे शुरू किया इसके अन्तर्गत गरीब महिलाओं को मुफ्त एल.पी.जी. गैस कनेक्शन प्रदान किये जाते हैं।

3– स्वच्छ भारत अभियान

4– मुख्यमंत्री सामूहिक विवाह योजना

5– निःशुल्क बोरिंग योजना

6– अम्बेडकर विशेष रोजगार योजना

7– मुख्यमंत्री समग्र ग्राम विकास योजना

8– प्रधानमंत्री ग्रामीण आवास योजना।

राजनीतिक परिवर्तन अर्थव्यवस्था के कई क्षेत्रों को प्रभावित करते हैं। जो चुनावों और सरकारी नीतियों को प्रभावित करते हैं। वो क्षेत्र निम्नलिखित है–

1. मौद्रिक और राजकोषीय नीति
2. खाद्य सुरक्षा
3. वैश्विक व्यापार
4. श्रम आपूर्ति मांग और संकट
5. सकल घरेलू उत्पाद (जीडी.बी.)
6. वित्तीय असमानता
7. आपदा प्रबंधन
8. पर्यावरण स्थिरता

17.7 सारांश

सत्ता में जैसे–जैसे राजनीति दल बदलते है देश की आर्थिक स्थिति अक्सर बदलती रहती है। जो सत्ता मे मौजूद पार्टी की विचारधारा और लक्ष्यों पर आधारित होती है। यह अर्थव्यवस्था के क्षेत्रों जैसे– मौद्रिक और राजकोषीय नीति, खाद्य सुरक्षा, श्रम संकट बढ़ती असमानता जी. डी. पी. और आपदा प्रबंधन को प्रभावित का सकता है। अर्थव्यवस्था मे बदलाव बदले मे नये राजनीतिक कानून, नीतियों या चुनाव परिणाम ला सकते है। निर्धनता और वर्णीय असमानता से उत्पन्न आर्थिक विषमता की दृष्टि से देश के विविध राज्यों की स्थिति भिन्न–भिन्न है। आर्थिक तत्वों की भिन्नता से राज्य राजनीति प्रभावित हुयी है। राज्यों–राज्यों के बीच आर्थिक असमानता पाई जाती है। कुछ राज्यों की अर्थव्यवस्था उच्च है। तथा कुछ राज्यों की अर्थव्यस्था निचले पायदान पर है। वहाँ की प्रति व्यक्ति आय निम्न है। इसीलिये आर्थिक तत्वो की भिन्नता के कारण राज्य राजनीति प्रभावित होती है।

17.8 अभ्यास प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न।

1. राजनीति को प्रभावित करने वाले तत्वों में क्या सही नहीं है।

   (A) खाद्य सुरक्षा

   (B) आपदा प्रबंधन

   (C) वैश्विक व्यापार

   (D) क्षतिपूर्ति।

   उत्तर– (D)

2. सरकार की कौन सी योजना नही है?

   (A) स्वच्छ भारत अभियान

   (B) उज्ज्वला योजना

   (C) प्रधान मंत्री आवास योजना

   (D) अचल संपत्ति योजना।

   उत्तर– (D)

निम्नलिखित प्रश्न

3– राज्य राजनीति की समाजिक आर्थिक पृष्ठभूमि व्याख्यायित कीजिए।

4– राज्य राजनीति के समाजिक आर्थिक निर्धारक स्पष्ट कीजिए।

5– राज्य राजनीति की समाजिक संरचना की विशेषताए बताइए।

6– राज्य राजीतिनित सामाजिक संरचना का प्रभाव।

7– राज्य राजनीति में आर्थिक तत्व की विशेषताएं व प्रभाव बताइए।

17.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. .निलंगना जैन, द प्रॉब्लम ऑफ जस्टिस इज पॉलिटिकल थियरी एंड स्टेट प्रैक्टिस, अनामिका पब्लिसर्स, नई दिल्ली।
2. शशि मणि त्रिपाठी, द ह्यूमन फेस ऑफ सुप्रीम कोर्ट ऑफ इंडिया, गंगा कावेरी पब्लिसिंग हाउस, वाराणसी।
3. संगीता आहूजा, पीपुल लॉ ऑफ जस्टिस, ओरियंट लंगमान, नई दिल्ली।
4. लास्की हेरोल्ड जे. पार्लियामेंट्री गवर्नमेंट इन लंदन, अलायन्स यूनियन लंदन।
5. राय एसएन. ज्यूडिशियल रिव्यू एंड फंडामेंटल राइट्स।
6. मार्कण्डन के सी, द प्रियमबल।
7. पायली एम वी, कांस्टीट्यूशनल गवर्नमेंट एंड पॉलिटिक्स।

इकाई–18 भारत में राज्यों की राजनीति : प्रकृति, प्रारूप एवं उभरती प्रवृत्तियाँ

इकाई की रूपरेखा

18.0 उद्देश्य

18.1 प्रस्तावना

18.2 राज्यों की राजनीति का अर्थ एवं प्रकृति

18.3 राज्यों की राजनीति प्रारूप

18.4 राज्यों की राजनीति की उभरती प्रवृत्तियाँ

18.5 राज्यों की राजनीति की उभरती प्रवृत्तियों का भारतीय राजनीति पर प्रभाव

18.6 सारांश

18.7 अभ्यास प्रश्न

18.9 उपयोगी पुस्तकें

18.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात आप

- राज्यों की राजनीति का अर्थ एवं प्रकृति समझ सकेंगें।
- राज्यों की राजनीति का प्रारूप समझ सकेंगे।
- राज्यों की राजनीति की उभरती प्रवृत्तियों एवं उसके प्रभाव को जान सकेंगे।

18.1 प्रस्तावना

भारत में राज्यों की राजनीति में अत्यधिक विभिन्नताएं हैं कुछ राज्यो मे क्षेत्रीय राजनीतिक दल उभरे हैं, जबकि कुछ राज्यों में राष्ट्रीय दलों की मजबूत पकड़ है। कुछ राज्यों में मजबूत किसान आन्दोलन है कुछ राज्यों में बड़े राजनीतिक दल, स्थिर प्रतिरूप, सरकारों की क्षमताएं विभिन्न समूहो की भूमिका। यहाँ तक कि राजनीतिक संस्थाओं की तरफ लोगों का रूख एक दूसरे के राज्यो मे अलग–अलग है। प्रत्येक राज्य का विकास एवं विशेषताएं एक दूसरे से भिन्न हैं। जो कि राजनीतिक संस्थाओं को प्रभावित करती है। राज्यों को कृषि, विकास, शिक्षा ग्रामीण करों के मुद्दों पर कानून बनाने के लिए अधिकार प्राप्त है। राष्ट्रीय योजना का प्रभावकारी कार्यान्वयन राज्य सरकारों के कार्यो पर निर्भर करती है।

18.2 राज्यों की राजनीति का अर्थ एवं प्रकृति

(क) राज्यों की राजनीति का अर्थ –

भारतीय संघ के विभिन्न राज्यो मे होने वाली राजनीतिक प्रक्रिया को राज्यों की राजनीति कहते हैं। भारत की संघात्मक व्यवस्था में राज्य वे महत्वपूर्ण कड़ियाँ है जिनके द्वारा राज्य, शहर कस्बे एवं ग्राम की राजनीति को राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था के साथ समन्वित करने का कार्य किया जाता है। भारत की संघात्मक व्यवस्था मे राज्य राजनीति का विशेष महत्व है भारतीय लोकतंत्र की सफलता इस तथ्य पर निर्भर करती है कि हम अपने विकास कार्यक्रमो जैसे सामाजिक आर्थिक न्याय से सम्बद्ध कार्यक्रमों को किस गति के साथ क्रियान्वित कर पाते है, और संविधान में सभी प्रकार के विकास कार्यक्रमों सम्बन्धित शक्तियों राज्यों को ही प्रदान की गई है। भूमि सुधार कानून हो या शिक्षा में परिवर्तन लाने का कोई कार्यक्रम परिवार नियोजन, मद्यनिषेध, कुटीर उद्योगों मे वृद्धि, करना व्यापक सिचाई सुविधाओं की व्यवस्था करना आदि व्यवहार में ये सभी कार्यों को राज्य सरकारो द्वारा संचालित किया जाता है। इसीलिये जनसाधारण की संसद और केन्द्रीय मंत्रिमण्डल की अपेक्षा विधानसभा और मंत्रिमंडल से अधिक रूचि होती है। राज्य राजनीति राष्ट्रीय राजनीति की आधारशिलाएं

होती हैं।

18.3. राज्यो की राजनीति का प्रारूप

संविधान द्वारा जिस प्रकार संघात्मक शासन की व्यवस्था की गई है। इसमें केन्द्रीय सरकार को राज्यों की अपेक्षा उच्च और राज्यों पर नियंत्रण की स्थिति प्रदान की गई है। केन्द्रीय शासन से राज्य राजनीति प्रभावित रहती है किसी भी स्तर की राजनीति पूरी तरह से स्वायत्तता या अलग प्रक्रिया नही बल्कि यह समस्त सामाजिक प्रक्रियाओं का एक हिस्सा है, यह समाज की प्रक्रियाओं से प्रभावित होते हैं। राज्यों की राजनीति व्यवस्थापित, लिखित एवं एकीकृत संविधान के ढाँचे के अन्तर्गत शुरू होती है। लेकिन इसके साथ समाप्त नहीं होती है। राज्य स्तर पर राजनीतिक प्रतिरूपों को आकार प्रदान करने में राजनीतिक पृष्ठभूमि सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक संरचनाओं और क्षेत्रीय विभिन्नताओं की अन्य भूमिका होती है। राजनीतिक ढाँचे के दो पहलू है प्रथम सरकार संगठन राष्ट्रीय तथा राज्य स्तर पर है। भारत के राष्ट्रपति का चुनाव अप्रत्यक्ष रूप से होता है तथा राज्यपाल राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत किया जाता है। इस ढाँचे के अन्तर्गत राज्यों की राजनीति से दो समानांतर प्रवृत्तियां उभरी है। राज्यों को प्रवृत्ति अपनी शक्ति को सशक्त करना है। अपने अधिकारो को स्थापित करना व देश शासन की नीति मे अपनी भागीदारी को बढ़ाना है। जबकि अपनी योजनाओ को संचालित करने के लिए केन्द्र पर राज्यों की आर्थिक निर्भरता रहती है।

(ख) राज्यों की राजनीति की प्रकृति

भारतीय इकाइयों के शासन. के सम्बन्ध में अमेरिकी राज्य की शासन व्यवस्था की तरह भारतीय संघ के इकाइयों के भिन्न भिन्न संविधान नहीं है। लेकिन कुछ राज्यों को विशेष राज्य का दर्जे का प्रावधान किया गया है। वैसे सभी राज्यों एक समान शक्तियाँ प्रदान की गई है। राज्यों की राजनीति को प्रभावित करने वाले तत्वों के कारण इसका अध्ययन एक जटिल विषय है। जैसे जाति, धर्म, भाषावाद, क्षेत्रीयतावाद पर्यावरणीय चुनौतियाँ आदि तत्व राज्यों की राजनीति को प्रभावित करते हैं। राज्य राष्ट्रीय राजनीति की आधार शिलाएं हैं, लेकिन एक ही सांविधानिक ढाँचे और समस्त राज्य की राजनीति का भाग होते हुए भी सभी राज्यों की प्रक्रिया समान नहीं हैं क्योंकि सभी राज्यों की स्थितियों एक दूसरे से सभी मामलों में भिन्न है। राजनीतिक प्रक्रिया केवल कानूनी तथा सांविधानिक समस्याओं की तक ही सीमित नहीं है। औपचारिक अनौपचारिक दोनो प्रकार व्यवस्थाएं ऐतिहासिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक आधारों के सन्दर्भ में एक दूसरे को प्रभावित करती है इसलिये सभी राज्य एक ही संविधान के अनुसार शासित होते हैं। फिर भी उनकी राजनीति परस्पर सम्बद्ध तथा उनके सामाजिक मूल्यों मे भिन्नता दिखाई देती है।

राज्यों में मुख्यमंत्री का पद सबसे महत्वपूर्ण होता है। वह राज्य का सबसे शक्तिशाली व्यक्तित्व होता है। इसके अतिरिक्त राज्य में राज्यपाल की भी भूमिका महत्वपूर्ण होती है। राज्यपाल निर्वाचित नहीं राष्ट्रपति के द्वारा मनोनीत किया जाता है तथा उसका पद राष्ट्रपति के प्रसाद वर्यन्त ही बना रहता है। राज्यपाल मंत्रिपरिषद की सलाह से कार्य करता है किन्तु उसे विवेकाधीन शक्तियाँ भी प्रदान की गई है। भारतीय संघीय ढांचे के रूप को निर्धारित करने वाले संविधान के प्रावधान से नियत केन्द्र एवं राज्यो के मध्य विधायी, प्रशासनिक एवं वित्तीय सम्बन्ध है इसके अतिरीक्त अन्य प्रावधान जैसे कुछ अन्य राज्यो के विशेष प्रावधान आदि किये गये हैं। स्वतंत्रता के पश्चात राज्यपाल की केन्द्र के प्रतिनिधि के रुप में उनकी भूमिका ने राज्यों की राजनीति को प्रभावित किया है।

18.4 राज्यों की राजनीति की उभरती प्रवृत्तियाँ

भारत मे राज्यों की राजनीती मे अत्यधिक विविधताएं है कुछ राज्यों में क्षेत्रीय राजनीतिक दल उभरे है, जबकि कुछ राज्यों में राष्ट्रीय दलों की मजबूत पकड़ है। लोकतांत्रिक व्यवस्था को राजनीतिक दलों की बदलती हुयी प्रवृत्तियां व्यापक स्तर पर प्रभावित करती हैं। भारतीय राजनीतिक व्यवस्था मे राजनीतिक दलो ने सम्पूर्ण प्रशासन व्यवस्था को प्रभावित किया है। इसीलिये आधुनिक समय मे प्रशासन के सभी स्तरों पर राजनीतिक दलों की नवीन उभरती हुयी प्रवृत्तियाँ स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। किसी राष्ट्र के राजनैतिक दलों द्वारा अपनाई गई नीतियों और कार्यप्रणाली का प्रभाष स्पष्ट रुप से देखा जा सकता है।

जाति व्यवस्था भारतीय राजनीति का महत्वपूर्ण तत्व होते हुए भी देश के सभी भागों मे जातियों की

भूमिका समान नहीं है। विविध, राज्यों में जाति समूहो की भूमिका पृथक–पृथक रही है। कुछ क्षेत्रो मे जातियो के संगठन ने दबाव समूहों के रूप में कार्य किया है। भारत देश की भौगोलिक अवस्थित जनसंख्या एवं अन्य दृष्टिं से विविधता परिलक्षित होती है। उत्तर एवं दक्षिण भारत के व्यक्ति भाषा, संस्कृति एवं रंगरूप की दृष्टि से एक दूसरे से भिन्न है। भौगोलिक दृष्टि से पूर्वोत्तर भारत भी सांस्कृतिक राजनीतिक परिवर्तनों से भिन्न रहा है। दूसरी ओर विशाल जनसंख्या वाले राज्य भी हैं। जिनका प्रभाव उस राज्य की आर्थिक स्थिति तथा अपरोक्ष रूप से राजनीतिक स्थिति को प्रभावित करती है। इसके अलावा अन्य कारक जैसे राज्यपाल की भूमिका में परिवर्तन होना, संसद के प्रभाव मे कमी होना, संसद के द्वितीय सदन की सैरचना मे बदलाव, राज्यराजनीति का बढ़ता प्रभाव, द्वितीय लोकतांत्रिक जन उफान, न्यायिका सक्रियता में वृद्धि होना आदि महत्वपूर्ण उभरती प्रवृत्तियाँ है।

(क) राज्यपाल की भूमिका में परिवर्तन होना

भारतीय संविधान में राज्यों में एक राज्यपाल पद का प्रावधान किया गया है। राज्यपाल के पद प्रकृति और शक्तियो की महत्वपूर्ण विशेषताएँ होती है। जिसका राज्यो की राजनीति में विशेष महत्व है। राज्यपाल निर्वांचित नही होता बल्कि मनोनीत होता है। उसकी नियुक्ति और पद राष्ट्रपति के प्रसाद पर्यन्त ही बना रहता है। राज्यपाल को संविधान की सुरक्षा एवं जनता की भलाई का उत्तरदायित्व सौपा जाता है। भारतीय प्रशासन में राज्यों की भूमिका का विशेष महत्व होता है। संवैधानिक दृष्टि से राज्यों के प्रशासन के लिये अनेक प्रावधान किये गये है। राज्यपालों के द्वारा 1967 ई. तक अपनी भूमिका का निर्वाह सही ढंग से किया गया किन्तु 1967 ई. के बाद राज्यपाल पर केन्द्र सरकार के एजेन्ट के रूप में कार्य करने के आरोप लगाए गये थे। राज्यपाल पर संविधान के अनुच्छेद 356 के आधार पर लगाए गये थे। इस अनुच्छेद के अनुसार राज्यपाल विधानसभा भंग करने के लिए अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करता हो यादि उसे लगता है कि राज्य का शासन संविधान के अनुसार नही चल रहा है राष्ट्रपति इस रिपोर्ट पर संज्ञान लेते हुऐ मंत्रिपरिषद की सलाह पर उस राज्य की विधानसभा को भंग कर सकता है। इस शक्ति का अब दुरुपयोग होने लगा है। केन्द्र में जिस दल की सरकार होती है उसी दल की जब राज्यों मे भी सरकारे होती है तो कानूनी अव्यवस्था फैलने पर भी 356 का प्रयोग नही किया जाता है। जैसे मणिपुर एवं उत्तर प्रदेश की कानून एवं शासन व्यवस्था संविधान के अनुरूप नही चलाए जा रहे फिर भी अनुच्छेद 356 का प्रयोग नही किया क्योंकि वहाँ पर या तो केन्द्रीय सत्ता दल वाली ही सरकारे हैं या केन्द्रीय सत्ता समर्थित सरकारे है। मणिपुर में हिंसक मामले तथा उत्तर प्रदेश के फर्जी एनकाउटर मामले है और सत्तारूढ़ दल की सरकारे जिन राज्यों में नहीं है वहाँ पर 356 अनुच्छेद से सम्बधित रिपोर्ट राज्यपालों ने केन्द्र सरकार को सौपी की जैसे झारखण्ड, पश्चिम बंगाल, दिल्ली राज्य आदि। बी.बी.सी न्यूज के अनुसार इसीलिये राज्यपालो पर केन्द्र के एजेन्ट के रूप में कार्य करने के आरोप लगयो जाते हैं।

(ख) संसद के प्रभाव में कमो होना

व्यवस्थापिकाओं के पतन के सम्बच्च मे **के.सी व्हीयर** ने कहा यो कि "व्यवस्थाविकाओं ने अपनी शक्तियों कार्यकुशल व सम्मान को बनाये रखा हो या इनमें वृद्धि तक कर रही हो ऐसा संभव है, फिर भी उनका अन्य संस्थाओं से सापेक्ष रूप मे इन सभी पहलुओं में पतन हुआ है। क्योंकि अन्य संस्थाओं ने अपनी शक्तियाँ बढ़ाकर अपना दर्जा सुधार लिया है। भारतीय राजनीतिक व्यवस्था मे बहुदलीय गठबंधन युक्त सरकारो के काल मे संसद के प्रभाव मे कमी आई है। एक दलीय–प्रभुत्व सरकारों के काल में संसद एक प्रभावशाली संस्था के रूप में अच्छे से कार्य करती थी संसद मे विभिन्न मुद्दों पर बाद–प्रतिवाद के चलते बहस होती थी तब कानून पारित होने से लेकिन वर्तमान समय में गतिरोध इतना बढ़ गया है कि सदन चलने नहीं दिया जाता है। संसद में पूरे सत्र के दौरान कार्यवाधित होते है सत्र बार–बार स्थगित करना पड़ता है। लेकिन एक अच्छी बात भी है कि विपक्ष यदि मजबूत रहता है तो केन्द्रीय सरकारें मनमानी रवैया नही अपना पाती है। जैसे– 2014 से लेकर 2024 तक केन्द्र सरकार ने तानाशाही रवैया अपनाया था क्योंकि विपक्ष कमजोर स्थिति मे था लेकिन 2024 के आम चुनाव के बाद पुनः सत्ताधारी दल केन्द्र की सत्ता में काबिज हुआ लेकिन इस बार विपक्ष के मजबूती से उभरने के कारण सत्ताधारी दल मनमाना रवैया नहीं अपना पाता है। (बी.बी.सी. स्रोत) जो कि, एक स्वस्थ लोकतंत्र का परिचायक है।

(ग) संसद के द्वितीय सदन की संरचना में बदलाव

आधुनिक समय में संसद के द्वितीय सदन अर्थात राज्य सभा की संरचना में बदलाव देखा गया है। राज्य सभा के सदस्य व संघ केन्द्र शामीत प्रदेशों विधानसभा के सदस्य चुनते है। इसके बावजूद यह सदन न

तो केन्द्र व राज्यो के बीच संघर्ष भी परिषद है न ही राज्यों के अधिकारों रक्षक नही क्षेत्रीय भागों की अभिव्यक्ति का सदन है। प्रो० एम०पी० सिंह मानते है कि दलीय व्यवस्था में आये परिवर्तन से राज्यसभा योग्य संघीय वित्तीय सदन बन गया है इस परिवर्तन को वह निम्नलिखित तर्को से स्पष्ट करते है–

1. राज्यसभा को लोकसभा के समान संघीय शक्तियाँ प्राप्त हो संविधान संशोधन किसी मुद्दे पर दोनो सदनों के गतिरोध को खत्म करने के लिये हो रही संयुक्त सत्र में अपनी राय रखने की उसके पास निषेधाधिकार की शक्तियाँ है।

2. संयुक्त सत्र में फैसला हमेशा लोकसभा के पक्ष में जाये यह हमेशा संभव नहीं है। जबकि लोकसभा के पास अधिक सदस्य संख्या है। परन्तु जटिल गठबन्धनयुक्त व्यवस्था के चलते यह संभव है कि संयुक्त सत्र में फैसला राज्य सभा के पक्ष में जाये।

3. राज्यसभ सरकार को राज्य सूची के मुद्दे और अखिल भारतीय सेवा से सम्बंधित कानून बनाने से रोक सकती है 2003 ई. में दो प्रभावी बदलाव किये गये है–

(क) प्रथम मूल संविधान में यह व्यवस्था थी कि राज्य सभा के उम्मीदवार का नाम उस राज्य की मतदाता सूची मे होना आवश्यक है जिस स्थान से वह चुनाव लड़ना चाहता है। किन्तु अब यह व्यवस्था की गई है, कि राज्य सभा के उम्मीदवार के लिये उस राज्य का निवासी होना आवश्यक नही है, जिस राज्य से वह राज्य सभा का चुनाव लड़ना चाहता है।

(ख) गुप्त मतदान की व्यवस्था के कारण राज्य सभा के चुनाव में विधायक धन के प्रलोभन से प्रभावित होकर मताधिकार का प्रयोग करते हुये पाये गये हैं। इस भ्रष्ट आचरण को समाप्त करने के लिये राज्य सभा के चुनाव मे अब खुले मतदान की व्यवस्था को अपनाया गया है। इस प्रकार राज्य सभा की संघीय प्रासंगिकता बढ़ गई है। जो प्रमुखतः बढ़ते श्रेत्रीयकरण तथा राजनीतिक व्यावस्था के संघीय करण के कारण भी है।

(घ) राज्य राजनीति का बढ़ता प्रभाव–

आधुनिक भारतीय राज्य राजनीति की विशिष्टता यह है कि अब राज्यों की राजनीति का प्रभाव राष्ट्रीय राजनीति पर देखा जा सकता है। कई बार ऐसी घटनाएं हुयी जिनके आधार पर स्पष्ट रूप से कहा जा सताता है कि राज्य राजनीति राष्ट्रीय राजनीति को प्रभावित करती है। वर्तमान मे राष्ट्रीय स्तर पर बनने वाली सरकारो का निर्धारण भी राज्यो की राजनीति से ही होने लगा है। विशेष रूप से बड़े राज्यों जैसे उत्तर प्रदेश, महाराष्ट्र, विहार, आदि इन राज्यों में जिस दल की सरकारे होती है केन्द्र मे भी उसी दल की सरकार बनती है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि राष्ट्रीय राजनीति में राज्य सरकारो का प्रभाव बढ़ता जा रहा है। इसके अलावा विभिन्न राज्यों की सामाजिक, आर्थिक स्थिति भी राष्ट्रीय राजनीत को प्रभावित करती है इसलिये राज्यों की आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ करने के लिए बहुत सी जन कल्याण योजनाएं केन्द्र सरकार द्वारा चलायी जाती है जैसे मुफ्त अनाज वितरण योजना के अन्तर्गत गरीबी रेखा से नीचे आने वाले लोगो को 5 किलो राशन सरकार प्रदान करती है। ताकि अति गरीब पिछले वर्ग के लोगो को समाज की मुख्य धारा में जोड़ा जा सके।

(ङ.) द्वि लोकतांत्रिक जन–उफान

भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में लोक तांत्रिक परिवर्तन को दर्शाने के लिये प्रसिद्ध राजनीति विश्लेषक योगेन्द्र यादव ने द्वितीय लोकतात्रिक जन–उफान शब्द का प्रयोग किया है। वर्तमान में बदलती दलीय व्यवस्था ने लोकतंत्र को सशक्त बनाया है। लोक तांत्रिक जन उफान का अभिप्राय है कि आम जनता की लोकतंत्र के प्रति आस्था व सक्रियता का अत्यधिक होना।

(क) प्रथम लोक तांत्रिक जन–उफान

1960 के दशक में भारतीय राजनीति में दिखाई देता है, जब मतदान प्रतिशत 60 प्रतिशत के पास पहुँच गया। कांग्रेस ने सामाजिक अनुक्रम के नीचे आने वाली जातियों को अपने दल राजनीति में उन्हें स्थान दिलाया। इन जातियों में राजनीतिक चेतना उत्पन्न हुयी। चुनाव मे प्रत्याशियों की संख्या बढ़ती चली गई। कांग्रेस के प्रभुत्व के विकल्प राज्यों में खड़े किये जाने लगे। आम जनता अपने अधिकारो का प्रयोग करने लगी। इसे ही योगेन्द्र यादव ने प्रथम जन उफान की संज्ञा दी है।

(ख) द्वितीय लोकतांत्रिक जन–उफान 20वीं सदी के अन्तिम दशक देखा गया इस समय समाज के हर वंचित वर्ग–दलित, अन्य पिछला वर्ग, अल्प संख्यक आदिवासी वर्ग महिलाओ तथा बहुजन का उभार सहभागिता करने लगे है। वे चुनाव लड़ते तथा जीतते भी है। कई राज्यों में वह सत्ता प्राप्त करने में भी सफल रहे है। योगेन्द्र यादव का मानना है कि इस काल में राज्य राजनीति में दलित–बहुजन वर्ग ने राष्ट्रीय राजनीत से अधिक अपनी चुनावी सहभागिता दर्ज करायी है।

(च) न्यायिक सक्रियता में वृद्धि होना

न्यायिक सक्रियता मे नागरिको के अधिकारों के संरक्षण और समाज में न्याय को बढ़ावा देने में न्यायपालिका द्वारा निभाई गई सक्रिय भूमिका को दर्शाती है। दूसरे शब्दों में इसका तात्पर्य है, न्यायपालिका द्वारा सरकार के अन्य दो अंगों विधायिका और कार्यपालिका को उनके संवैधानिक कर्तव्यों के निर्वहन के लिये बाध्य करने के लिये अपनी मुखर भूमिका निभाने से है। भारत मे न्यायिक सक्रियता के सिद्धांत को 1970 के दशक को मध्य मे पेश किया गया था। न्यायमूर्ति वी0आर0 कृष्णा अय्यर और न्यायमूर्ति पी.एन भगवती, न्यायमूर्ति ओ, चिन्नापरेड्डी एवं न्यायमूर्ति डी.ए–देसाई ने देश में न्यायिक सक्रियता की नींव रखी भारतीय राजनीति में दलीय व्यवस्था के बदलते स्वरूप के कारण न्यायिक सक्रियता में वृद्धि हुयी है। भारतीय प्रशासन व्यवस्था में व्यवस्थापिका न्यायपालिका में शक्तियों का विभाजन किया गया है। लेकिन जब एक दल का प्रभुत्व होता है तो संसद प्रभावशाली संस्था रहती है (2014 से 2024 के काल में संसद अधिक प्रभावशाली रही है) यद्यपि संवैधानिक प्रावधानों के आधार पर न्यायपालिका संसद के बनाये कानूनों की समीक्षा करके उसे अवैध घोषित कर सकती है। किन्तु ऐसी स्थिति में संसद संविधान मे संशोधनं करके कानूनों को वैध घोषित कर सकती है।

मध्यान्ह भोजन कार्यक्रम, भोजन में जुड़े अन्तरिम आदेश सर्वोच्च न्यायालय ने इसी दौर मे जारी किये हल प्रकार न्यायिक सक्रियता में वृद्धि होना भी दलीय व्यवस्था के परिवर्तन के प्रभाव के रूप मे देखा जा सकता है। इस प्रकार दलीय व्यवस्था मे होने वाले बदलावों ने भारतीय राजनीति व्यवस्था को प्रभावित किया है।

18.5 राज्यों की राजनीति की उभरती प्रवृतियों का भारतीय राजनीति पर प्रभाव

लेकतांत्रिक व्यवस्था मे राज्यों की राजनीति की उभरती प्रवृत्तियों का भारतीय राजनीति पर व्यापक स्तर पर प्रभावित करती है। भारतीय राजनीतिक व्यवस्था मे संविधान लागू होने के चार दशकों तक अखिल भारतीय कांग्रेस का ही प्रभाव बना रहा था एक दलीय वर्चस्व वाली कांग्रेस पार्टी ने शासन व राजनीति में संघीय पहलू के प्रायः दवा दिया था। प्रधानमंत्री और मंत्रिपरिषद के प्रभाव मे संसदीय शासन प्रणाली ही हाबी रही। 1989 के आम चुनावों के बाद लोकसभा बहुदलीय प्रणाली का स्पष्ट प्रभाव देखा गया था बहुदलीय प्रणाली के अन्तर्गत ही राष्ट्रीय स्तर पर गठबंधन व अजयमत की सरकारो का दौर प्रारम्भ हुआ इस प्रकार गठबन्धन की राजनीति के अस्तित्व आ जाने के कारण भारत के संघीय प्रवृत्तियों का विकास हुआ इसके साथ ही राज्य स्तरीय सरकारो की स्वायत्त में वृद्धि देखी गई। जिसके चलते राज्य सरकारो की राजनैतिक और आर्थिक क्षेत्रो की भूमिका पहले की अपेक्षा अधिक बढ़ गई जो कि यह एक महत्वपूर्ण राजनैतिक और बदलाव था। दलीय राजनीति से प्रेरित होकर ही केन्द्र सरकारो के द्वारा राज्यो की राजनीति में हस्तक्षेप की प्रवृत्ति भी बढ़ गई है। इस दृष्टि से संविधान के अनुच्छेद 356 के दुरुपयोग को देखा जा सकता है। किन्तु गठबंधन के काल में संविधान के अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत दूसरे दलों की राज्य सरकारों को असंवैधानिक तौर पर ध्वस्त कर देने की प्रवृत्ति पर अंकुश लगा था। किन्तु एक दलीय केन्द्रीय शासन व्यवस्था के अन्तर्गत 356 अनुच्छेद के प्रयोग के तहत विरोधी दल की राज्य सरकारों को परेशान करने की प्रवृत्ति में वृद्धि दिखाई देती है राष्ट्रसंघ की स्वविवेक की शक्ति में भी कमी देखने को मिलती है। संसद का वर्चस्व स्थापित हो गया है। इसके बाद 2024 के लोकसभा के आम चुनाव के बाद मजबूत विपक्ष की उभरती स्थिति के कारण संसद की शक्ति में कुछ कमी रिखाई पड़ती है।

18.6 सारांश

लोकतांत्रिक व्यवस्था में राज्यों की राजनीति की उभरती प्रवृत्तियाँ व्यापक स्तर पर प्रभाव डाल रही है सरकार के सभी अंगों की कार्यप्रणाली में परिवर्तन दिखाई

पड़ता है। यह परिवर्तन ने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में राजनीतिक दलों एवं राज्यों की राजनीति की उभरती प्रवृतियों से प्रभावित रही है। भारतीय राजनैतिक व्यवस्था में संविधान लागू होने के चार दशकों तक अखिल

भारतीय कांग्रेस का ही प्रभाव बना रहा था। इसके बाद बहुदलीय प्रणाली एवं गठबंधन की सरकारे भी बनने लगी थी। इसलिए राज्य स्तरीय सरकारों में स्वायत्तता मे वृद्धि देखी गई है। केन्द्र सरकारों द्वारा राज्य सरकारों पर हस्तक्षेप की प्रवृत्ति बढ़ गई है। राज्यपालों की नियुक्तियाँ, न्यायपालिका संसद का प्रभाव कम होना राष्ट्रपति की सक्रियता में वृद्धि आदि उभरती हुयी प्रवृत्तियाँ हैं। जो कि राज्यों की राजनीति को प्रभावित कर रही हैं।

18.7 अभ्यास प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न।

1. राज्य राजनीति की उभरती प्रवृत्तियां कौन सी नही है?
   - (A) राज्यपाल की भूमिका में परिवर्तन होना
   - (B) संसद के प्रभाव में कमी होना
   - (C) राज्य राजनीति का बढ़ता प्रभाव
   - (D) लोक सभा का बढ़ता प्रभाव।

   उत्तर – (D)
2. कितने लोकतांत्रिक जन उफान है।
   - (A) प्रथम
   - (B) द्वितीय
   - (C) दोनो
   - (D) कोई नहीं

   उत्तर – (C)

निम्नलिखित प्रश्न

3. राज्यों की राजनीति का अर्थ एवम प्रकृति स्पष्ट कीजिए।
4. राज्यों की राजनीति का प्रारूप समझाइए।
5. राज्यों की राजनीति की उभरती प्रवृत्तियां बताइए।
6. राज्यों की राजनीति की उभरती प्रवृत्तियो का भारतीय राजनीति पर प्रभाव स्पष्ट कीजिए।
7. राज्यों की राजनीति उभरती प्रवृत्तियों का भारतीय राजनीति पर प्रभाव स्पष्ट कीजिए।

18.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. निलंगना जैन, द प्रॉब्लम ऑफ जस्टिस इज पॉलिटिकल थियरी एंड स्टेट प्रैक्टिस, अनामिका पबिलसर्स, नई दिल्ली।
2. शशि मणि त्रिपाठी, द ह्यूमन फेस ऑफ सुप्रीम कोर्ट ऑफ इंडिया, गंगा कावेरी पाब्लिसिंग हाउस, वाराणसी।
3. संगीता आहूजा, पीपुल लॉ ऑफ जस्टिस, ओरियंट लंगमान, नई दिल्ली।
4. लास्की हेरोल्ड जे. पार्लियामेंट्री गवर्नमेंट इन लंदन, अलायन्स यूनियन लंदन।
5. राय एसएन. ज्यूडिशियल रिव्यू एंड फंडामेंटल राइट्स।
6. मार्कण्डन के सी, द प्रियमबल।
7. पायली एम वी, कांस्टीट्यूशनल गवर्नमेंट एंड पॉलिटिक्स।

इकाई–19 राष्ट्रीय राजनीति का राज्य राजनीति पर प्रभाव

इकाई की रूपरेखा

19.0 उद्देश्य

19.1 प्रस्तावना

19.2 राष्ट्रीय राजनीति का अर्थ एवं प्रकृति

19.3 केन्द्र राज्य सम्बन्ध

19.4 राष्ट्रीय राजनीति का राज्य राजनीति पर प्रभाव

19.5 सारांश

19.6 अभ्यास प्रश्न

19.7 उपयोगी पुस्तकें

19.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात आप

- राष्ट्रीय राजनीति का अर्थ एवं प्रकृति समझ सकेंगें।
- केन्द्र राज्य सम्बन्धों को समझ सकेंगे।
- राष्ट्रीय राजनीति का राज्य राजनीति पर प्रभाव को जान सकेंगे।

19.1 प्रस्तावना

संघीय ढाँचे को ध्यान मे रखते हुए भारतीय संविधान ने एक "दोहरे शासन'' की स्थापना की है। केन्द्र मे केन्द्र सरकार और प्रदेशो मे राज्य सरकार संविधान द्वारा प्रदत्त अपने–अपने क्षेत्र में प्रयोग करने के लिये प्रत्येक को कुछ अधिकार दिये गये है। प्रत्येक सरकार के अधिकार एक दूसरे से स्वतंत्र है। अपने निर्धारित क्षेत्र के अन्दर काम करने वाली एक सरकार दूसरे अधीनस्थ नही है। संघ और राज्यों के बीच सम्बन्धों के नियमित करने के उद्देश्य से और दोनों के पृथक अस्तित्व कायम या सुरक्षित रखने के प्रयास के लिये, संविधान ने दोनो के लिये अलग–अलग अन्तर–क्रिया और संचालन का क्षेत्र निर्धारित किया है। उनके अन्तरक्रिया क्षेत्रों मे परस्पर व्यापन और उनके बीच उत्पन्न होने वाले टकरावों को कम करने के उद्देश्य से, संविधानकारो ने केन्द्र और राज्य के अधिकारों को सूची बद्ध करने की विवेकपूर्ण योजना अपनाई है। जो संघीय योजना भारतीय संविधान निर्माताओं अपनाई उसने एक संघीय स्वरूप तथा एक अर्न्तनिहित केन्द्रीय झुकाव के बीच समन्वय स्थापित करना चाहा है।

19.2. राष्ट्रीय राजनीति का अर्थ एवं प्रकृति

(क) राष्ट्रीय राजनीति का अर्थ

भारत की राष्ट्रीय राजनीति संविधान के ढाँचे के अन्तर्गत कार्य करती है। संविधान के अनुसार भारत एक प्रधान समाजवादी, धर्म निरपेक्ष लोकतांन्त्रिक राज्य है। जहाँ पर विधायिका जनता के द्वारा चुनी जाती है। अमेरिका की तरह भारत मे भी संयुक्त सरकारें होती है लेकिन भारत मे केन्द्र सरकार राज्य सरकारो की तुलना में अधिक शक्तिशाली होती है। जो कि ब्रिटेन की संसदीय प्रणाली के अधिक निकट भारतीय संसदीय प्रणाली है।

बहुमत की स्थिति न होने पर, मुख्यमंत्री न बना पाने की दशा में अथवा विशेष संवैधानिक परिस्थिति के अन्तर्गत केन्द्र सरकार राज्य सरकार को बर्खास्त कर सकती है। जिसे राष्ट्रपति शासन कहा जाता है। भारत

की पूरी राजनीति मंत्रियों के द्वारा निर्धारित होती हो भारत एक लोकतांत्रिक और धार्मिक एवं सामुदायिक देश है। जहाँ युवाओं में चुनाव का बढ़ा वोट केन्द्रीय राजनीति में बना रहता है। यहाँ पर चुनाव को लोकतांत्रिक पर्व की तरह मनाया जाता है। राष्ट्रीय राजनीति का सही अर्थ है राज्य की राजनीति को कैसे सुचारू रूप से चलाया जाये, वर्तमान राष्ट्रीय राजनीति इसी पर आधारित है। भारत की राजनीति जिसमे सभी व्यक्तियों को समानता का अधिकार प्रदान किया गया है सभी व्यक्तियों के मत का मूल्य बराबर होता है। गरीब अमीर का भेदभाव नही किया जाता है।

(ख) राष्ट्रीय राजनीति की प्रकृति

भारत में कई क्षेत्रीय सांस्कृतिक और भाषागत विभिन्नताएँ है। जहाँ एक तरफ क्षेत्रीय संस्कृतियों के रक्षार्थ प्रशासन के विवेद्रीकरण की आवश्यकता है वहीं दूसरी तरफ एक राष्ट्रीय मुख्य धारा में विभिन्न समूहों के केन्द्रीयकरण और एकीकरण की भी उतनी ही आवश्यकता है। भारतीय संविधान के निर्माताओं ने ऐसी स्थिति की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए संघीय व्यवस्था को सबसे अच्छा माना है।

एक राजनीतिक संगठन के रूप मे संघीय व्यवस्था एकता की भावना को लेकर विभिन्न हितों के समन्वय स्थापित करने के साथ ही क्षेत्रीय अपेक्षाओं को भी संतुष्ट करती हैं। यह इकाइयो पृथक अस्तित्व मे बिना किसी क्षति के एक आम सरकार की व्यवस्था करती है। जो संघीय योजना भारतीय संविधान निर्माताओ ने अपनाई है, उसने एक संघीय स्वरूप और एक अन्तर्निहित केन्द्रीय झुकाव के बीच समन्वय स्थापित करना चाहा है। एक तरफ उन्होंने राज्य की सभी शर्तों अर्थात दोहरी सरकार दोनों के बीच अधिकारों का विभाजन, उनके बीच संवैधानिक विवादों के निवारण हेतु उच्चतम न्यायालय और दूसरीं ओर संविधान संशोधन की एक विशिष्ट प्रक्रिया को स्वीकृत किया गया है। उन्होंने कई संघीय विशेषताओं जैसे समाज, राष्ट्रीयता सर्वोच्च संवैधानिक एवं भारतीय सेवाएं इत्यादि को समाविष्ट किया है। इन्ही कारकों के फलस्वरूप भारतीय संघ, सर्वोच्च संघ शीर्षस्थ संघ, केद्रोन्मुख संघ, सहयोगी संघ संघीय शासन व्यवस्था की विभिन्न व्याख्या संघीय ये सभी शब्द भारतीय संघ की प्रबल केन्द्रीयकरण की प्रवृत्तियों की ओर इंगित करते है।

19.3. केन्द्र राज्य सम्बन्ध

संघ और राज्यो के बीच सम्बन्धो को नियमित करने के उद्देश्य से, दोनो के पृथक–पृथक अस्तित्व को कायम या सुरक्षित रखने के प्रयास के लिये, संविधान ने दोनो के लिये अलग–अलग अन्तरक्रिया और संचालन क्षेत्र निर्धारित किया है। उनके अर्न्तक्रिया क्षेत्रों मे परस्पर व्यापन और उनके बीच उत्पन्न होने वाले टकरावो को कम करने के उददेश्य से संविधानकारो ने केन्द्र और राज्य के अधिकारो को सूचीबद्ध करने की विवेकपूर्ण योजना बनाई है जैसे. संघ सूची, राज्य सूची और समवर्ती सूची संघ सूची के विषयों पर केन्द्र सरकार को कानून बनाने का अधिकार और राज्य सूची के विषयों पर राज्य को कानून बनाने का अधिकार संविधान ने प्रदान किया है। तथा समवर्ती सूची में केन्द्र एवं राज्य दोनों को कानून बनाने का अधिकार प्रदान किया गया है। विवाद की स्थिति में न्यायपालिका का निर्णय मान्य होता है निर्णय संघ के पक्ष में ही रहते हैं। केन्द्र और राज्य के सम्बन्ध निम्नलिखित है–

(क) विधायी सम्बन्ध

भारतीय संविधान में विधि निर्माण सम्बन्धी अधिकारो को औपचारिक रूप से केन्द्र और राज्यो के बीच विभाजित किया जाता है। संघ सूची ने राष्ट्रीय महत्व के विषयों के विषयों पर कार्य करने के लिये केन्द्र को अधिकार दिया है। इस सूची से 97 विषयो पर विधि निर्माण का एकमात्र अधिकार संसद को है। इनमें रक्षा, विदेशी मामले रेलवे, मुद्रा चुनाव इत्यादि शामिल है। राज्य विज्ञानमण्डलो को राज्य सूची में 61 विषय संविधान द्वारा प्रदत्त है जिन पर के कानून बना सकते है, जैसे पुलिस, स्थानीय शासन, सार्वजनिक स्वास्थ्य शिक्षा, कृषि इत्यादि। समवर्ती सूची में 52 संविधान में वर्णित है जिन पर संसद और राज्य विधानमण्डल दोनो कानून बना सकते है जैसे– शिक्षा, कृषि, विवाह, तलाक, सम्पत्ति हस्तांतरण श्रम, कल्याण, कारखाना समाचार पत्र इत्यादि विषय शामिल है। समवर्ती सूची के विषयों से सम्बंधित केन्द्र एवं राज्य सरकार में टकराव की स्थिति केन्द्रीय कानून ही मान्य होगा संविधान के अनुसार।

संविधान द्वारा यह भी व्यवस्था की गई है कि केन्द्र सरकार विशेष परिस्थितियों मे राज्य सूची के विषय

पर कानून बना सकती है। इसके उदाहण निम्नलिखित है।

1. अगर राज्य सूची में उल्लिखित किसी विषय पर विधि निर्माण के लिये राज्यसभा संसद को दो तिहाई बहुमत से अधिकार दे तो संसद ऐसा कर सकती है। किन्तु राज्य सभा का यह प्राधिकार एक समय मे एक वर्ष की अवधि तक ही प्रभावी होगा।
2. अगर दो या इससे अधिक राज्यों के विधानमण्डल ऐसा आवश्यक समझते हैं कि राज्य सूची में उल्लिखित किसी विषय पर संसद उनके लिये एक कानून बनाये तो वे उसे अधिकार प्रदान कर सकते हैं। लेकिन इस स्थिति में यह कानून उसी राज्य में लागू होगा, जिन्होंने ऐसा प्रस्ताव पारित किया है।
3. आपातकालीन उद्घोषड़ा की अवधि मे संसद को भारत के सम्पूर्ण भू–भाग या किसी हिस्से के लिये राज्य सूची में उल्लिखित किसी भी विषय पर विधि निर्माण का अधिकार मिल जाता है। किन्तु ऐसे कानून उद्घोषड़ा की समाप्ति के 6 माह की अवधि के पश्चात निरस्त हो जाते है। इसी प्रकार जब कभी राज्य में संवैधानिक शासन विफल हो जाता है और राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू हो जाता है तो राज्य विधानमण्डल अधिकारो का प्रयोग संसदीय सत्ता के द्वारा या उसके अधीन होता है।
4. संविधान द्वारा संघीय संसद को किसी देश या किसी अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन, संगठन या अन्य संस्था के साथ की गई सन्धि अनुबंध या समझौते को लागू करने के लिये भू–भाग के सम्पूर्ण या किसी हिस्से के लिये विधि निर्माण मे केन्द्र और राज्यों के बीच विधायी अधिकारों के विभाजन की सामान्य योजना के उल्लंघन का अधिकार दिया गया है।
5. राज्य के राज्यपाल द्वारा कुछ विशेष प्रकार के विधेयक राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिये रोके जा सकते हैं। इसके अलावा राज्य सूची और समवर्ती सूची के अन्दर कुछ ऐसे विषय हैं जिन पर विधि निर्माण के पहले राष्ट्रपति की पूर्व स्वीकृति लेनी राज्यो के लिये आवश्यक है।
6. प्रथम सूची में भारतीय संघ के सभी राज्यों के नाम दिये गये हैं। फिर भी संविधान ने संघ मे नये राज्यों को शामिल करने या नपे राज्यों का निर्माण करने के लिये संसद को अधिकार दिया गया है। राज्य क्षेत्र बढ़ाने या घटाने इसका नाम बदलने, सीमा बदलने अथवा किसी राज्य को सीमावर्ती राज्यों के साथ विलय या संघटन के द्वारा पूर्णतः समाप्त कर देने को लिए संसद को सक्षम बनाया गया है।

(ख) प्रशासनिक सम्बन्ध

भारतीय संघीय व्यवस्था में कार्यपालिका और विधायी शक्तियाँ सह– अश्तित्व हैं। साधारणतया केन्द्रीय कार्यपालिका सिर्फ उन मामलों से सम्बन्ध रखती है। जिन पर संसद कानून बना सकती है। राज्य राज्यपालिका सिर्फ उन मामलो से सम्बन्ध रखती है जिन पर राज्य विधानमण्डल कानून बना सकता है। जिन मामलों में संसद और विधानमण्डल दोनो कानून बना सकते हे। राज्य कार्यपालिका द्वारा प्रयोग किये जाने वाले कार्यकालक अधिकार केन्द्रीय कार्यपालिका के अधिकार क्षेत्र में आते हैं। संघ और राज्य सरकारे एक दूसरे के समन्वय बनाते हुये कार्य करते हैं।, प्रशासनिक सम्बन्ध केन्द्र एवं राज्य के मध्य सम्बन्धों का विवरण इस प्रकार है–

1. केन्द्र को अन्तर्राज्यीय विवादों तथा अन्तर्राज्यीय नही जल विवाद के निपटारे के मामलों में अधिकार है। राष्ट्रपति सम्बनिधत विवादों के मानले जाँच करने तथा उन पर सिफारिश करने के लिये एक अन्तर्राज्यीय परिषद का गठन कर सकता है।
2. के आई.ए.एसआई.पी.एस. जैसे अखिल भारतीय सेवाओं के माध्यम से राज्यों पर प्रशासनिक नियंत्रण रखता है। संविधान मे व्यवस्था है कि दोहरी सरकार के प्रशासन को चलाने के लिये केन्द्र और राज्यों दोनों को अपनी–अपनी लोक सेवाओं के निर्माण का अधिकार है। अखिल भारतीय सेवाएं जिनका चयन समान योग्यता बराबर वेतनमान के साथ अखिल भारतीय स्तर पर होता है। राज्य सरकारो के प्रमुख महत्वपूर्ण पदों को संभालते है उनकी सेवा शर्तें केन्द्रीय नियमों और विनियमो द्वारा नियंत्रित होती है और उनकी अन्तिम रूप से जवाबदेही भारत सरकार के प्रति होती है। चूँकि ने केन्द्र और राज्य सरकारे दोनो के प्रशासन मे महत्वपूर्ण पदों को संभालते है। वे राष्ट्रीय अखण्डता, प्रशासनिक एकरूपता और सम्बधता सुनिश्चित करने में सहायता करते हैं।

3. राज्य लोक सेवा आयोग के सदस्यो की नियुक्ति राज्य सरकार द्वारा की जाती है किन्तु उच्चतम न्यायालय द्वारा जाँच करने के बाद राष्ट्रपति द्वारा हटाये जा सकते है।

4. केन्द्र और राज्यों के बीच उत्पन्न होने वाली समस्याओं निवारण हेतु प्रशासनिक स्तर पर एक स्वैच्छिक सहयोग ढाँचा है। संविधान के कार्यों में अन्तर–स्तर प्रतिनिधि प्रतिनिधायन की व्यवस्था करता है, जो भारतीय संघवाद के संचालन को पर्याप्त लचीला बना देता है। इस तरह जहाँ पर एक केन्द्र सरकार के लिये अपने प्रशासनिक कार्यो के प्रत्यक्ष निष्पादन में असुविधा होती है, वो उन कार्यो का निष्पादन दूसरी सरकार द्वारा करा सकता है।

5. भारत मे कई राज्यों के भाषाई पुनगर्ठन के परिणामस्वरूप केन्द्र पसारी शक्तियों की निरस्त करने के लिये दिसम्बर 1955 मे प्रधान मंत्री जवाहर लाल नेहरू ने क्षेत्रीय परिषदों के विचार को प्रस्तुत किया सम्पूर्ण देश को उत्तरी क्षेत्र, दक्षिणी क्षेत्र केन्द्रीय क्षेत्र पूर्वी क्षेत्र और पश्चिमी क्षेत्र आदि 5 क्षेत्र में विभक्त किया। इसका उद्देश्य प्रत्येक क्षेत्र में राज्यों की एक परिषद की व्यवस्था करना है। जो एक ऐसा मंच बन सके जहाँ राज्य आपसी विवादों पर विचार–विमर्श और समाधान कर सके। ये प्रत्येक क्षेत्र में आर्थिक और सामाजिक विकास में सहयोग को सुगम करती है। क्षेत्रीय परिषद में केन्द्रीय गृहमंत्री और क्षेत्र के प्रत्येक राज्य के मुख्यमंत्री होते है गृहमंत्री परिषद का अध्यक्ष होता है। क्षेत्रीय परिषद के साथ योजना आयोग के एक सदस्य को भी सम्बद्ध किया जाता है। लेकिन यह एक पूर्णतः परामर्शदात्री संस्था है।

(ग) वित्तीय सम्बन्ध

केन्द्र और राज्य के बीच वित्तीय सम्बन्धों का ताल्लुक राजस्व विभाग से है, जो निम्नलिखित है–

1. केन्द्रीय सूची में राजस्व के कुछ ऐसे मद जिन पर कर निर्धारण वसूली और इस्तेमाल केन्द्र सरकार द्वारा किया जाता है जैसे सीमा शुल्क।

2. राज्य सूची मे राजस्व के कुछ ऐसे मद है जिनका निर्धारण वसूली इस्तेमाल राज्यो द्वारा किया जाता है जैसे– नौसेना, राजस्व एवं चुंगी इत्यादि।

3. कुछ ऐसे शुल्क है जिनके कर का निर्धारण केन्द्र द्वारा होता है किन्तु वसूली और खर्च राज्यों द्वारा किया जाता जैसे– टिकट कर।

4. कुछ ऐसे कर जिनका निर्धारण केन्द्र करता है किन्तु राज्यों को दे दिये जाते हैं, जसे उत्तराधिकार एवं सम्पतिशुल्क, रेलयात्री भाड़ा, सामान भाड़ा आदि।

5. कुछ ऐसे कर जिनका निर्धारण और वसूली केन्द्र करता है और उन्हें केन्द्र एवं राज्यों के आवंटित कर दिया जाता है जैसे उत्पाद शुल्क आदि।

6. संविधान संसद को, भारत की संचित निधि से प्रतिवर्ष कुछ राशि सहायता अनुदान के रूप मे उन राज्यों को सहायता देने का अधिकार देता है, जिन्हें सहायता की आवश्यकता है। ऐसे अनुदान, वित्त आयोग की सिफारिश पर दिये जाते हैं, जिसकी नियुक्ति साधारणतया हर पाँचवे वर्ष राष्ट्रपति द्वारा होती है। ये सहायता अनुदान विभिन्न राज्यो के लिये भिन्न–भिन्न हो सकते हैं, और उनमें कुछ का कोई भी सहायता बिल्कुल नही दिया जा सकता है। केन्द्र और राज्यों को भारतीय रिजर्व बैंक से ऋण भी लेने का अधिकार है।

(घ) राष्ट्रीय विकास परिषद

योजना आयोग के सुझाव पर अगस्त 1952 में एक राष्ट्रीय विकास परिषद का गठन किया गया योजना आयोग के क्षेत्र में यह सर्वोच्च पुनरावलोकन और परामर्शदात्री निकाय है। परिषद के सदस्यों में प्रधानमंत्री सभी राज्यो के मुख्यमंत्री व योजना आयोग के सदस्य 1967 से सभी केन्द्रीय मंत्रिपरिषद् के मंत्री शामिल हैं। परिषद के विचार विमर्श में भाग लेने के लिये अन्य केन्द्रीय मंत्रियो और राज्य मंत्रियो को भी आमंत्रित किया जाता है। राष्ट्रीय योजना के निर्माण के लिये दिशा निर्देश निर्धारित करने का उत्तर दापित्व इसे सौपा गया है। यह एक मंच है जहाँ ढाँचे में एक मध्यस्य संरचना है इसका उद्देश्य विकास के बृहद कार्य मे केन्द्रीय राज्य और स्थानीय

सरकारो के बीच सहयोग स्थापित करना है। पंचवर्षीय योजनाएं इसकी स्वीकृति के पश्चात ही सक्रिय हो पाती है।

19.4 राष्ट्रीय राजनीति का राज्य राजनीति पर प्रभाव

संविधान एक यंत्र की तरह है संविधान उन लोगो के माध्यम से जीवन धारण करता है जिनके माध्यम से केन्द्र एवं राज्य की शासन व्यवस्था का संचालन होता है। संविधान निर्माताओं ने अपेक्षा और आशा की थी कि केन्द्र राज्य सम्बध सुधार रूप से संचालित होंगे तथा संविधान मे की गई व्यवस्थाओं के माध्यम से देश एकता के सूत्र में बंध सकेगा स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को अंग्रेजो ने भारत देश की शासन सत्ता सौप दी थी केन्द्र और राज्यों में कांग्रेस निर्विवाद प्रबल सत्ताधारी, दल बनी रही कांग्रेस पार्टी ने केन्द्र–राज्य सम्बन्धों को सुचारू रखने में एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। राज्य स्तर पर सरकारों की विविधता इस तथ्य से हुयी थी कि अपने केन्द्रीय नेताओं के प्रभावशाली नियंत्रण मे कांग्रेस ने केन्द्र और राज्य के किसी टकराव को पनपने नही दिया। अगर मत–भेद भी थे तो उन्हें व्यक्तिगत और पार्टी के स्तर से सुलझा लिया गया। अत: भारतीय संघ ने एकात्मक राज्य के आभाव को जन्म दिया जिसे केन्द्र संवैधानिक ढंग से राज्यों पर नही लाद सका उसे पार्टी के माध्यम से थोपने में सफल रहा है। केन्द्रीय नीतियों और निर्णयों के प्रति किसी भी विरोध को पार्टी स्तर या सरकार द्वारा गठित निकायों में विचार–विमर्श द्वारा समाप्त करने की कोशिश की जाती थी, और प्रायः सहमति पैदा कर ली जाती थी।

केन्द्र राज्य सम्बन्धों का ढाँचा सम्बन्धों का ढाँचा 1967 के आम चुनाव के पश्चात परिवर्तित होने लगा था। प्रथम बार कांग्रेस के अलावा अन्य राजनीतिक दल नौ राज्यों में सत्ता में आये संसद में कांग्रेस की क्षमता घट गयी थी। ऐसी स्थिति में

केन्द्र की तुलना में राज्यों की स्थिति मजबूत हो गई। केन्द्र और राज्य के बीच सबसे गंभीर टकराव 1967 में पश्चिम बंगाल के संयुक्त मोर्चा सरकार के गठन के साथ पैदा हुआ राज्यों में विभिन्न गैर कांग्रेसी सरकारो ने राज्य सरकारों के लिए स्वायत्त अधिकारों की मांग प्रारम्भ कर दिया केन्द्र सरकार गरीबी, उपशमन, भू–सुधारो, सामाजिक न्याय के निमित संविधान संशोधन करके तथा बांग्लादेश कॉंग्रेस संकट पर विजय प्राप्त करके कांग्रेस भारी लोकप्रियता हासिल कर रही थी। अतः राज्य शक्ति कमजोर पड़ गई पुनः केन्द्र प्रबल हो गया। सत्ता का राजनीतिक और अधिकारी तंत्र वजन केन्द्र के पक्ष मे झुक गया था। सन 1971 में केन्द्र में जनता पार्टी के सत्ता में आने पर भी संघीय शासन की कार्य प्रणाली कोई गुणात्मक परिवर्तन नही हुआ। जनता पार्टी ने भी कांग्रेस का ही रास्ता अपनाया और राजनैतिक अभिप्राय से प्रेरित होकर 9 राज्यो मे कांग्रेसी सरकार को बर्खास्त कर दिया। जनता पार्टी के प्रधानमंत्री मोरार जी देसाई ने राष्ट्रीय संशोधन में अधिक हिस्से की मांग को ठुकरा दिया।

सन 1980 में केन्द्र में कांग्रेस की सत्ता में वापसी तथा कुछ राज्यों मे गैर कांग्रेसी सरकार बनने के साथ राज्यों के लिये अधिक स्वायत्तता वाद–विवाद पुनर्जीवित हो उठा। राष्ट्रीय राजनीति का राज्य राजनीति पर निम्नलिखित प्रभाव पड़े है जैसे–

(क) राज्यपाल की पक्षपातपूर्ण भूमिका

राज्यो के मामले मे हस्तक्षेप करने की संवैधानिक अधिकारों के अलावा राज्य के राज्यपालों पर केन्द्र

की पकड़ है। एक परंपरा विकसित हुयी है कि साधारणतया राज्यपालों की नियुक्ति उस समय के निवासियो मे नही होती इसलिए जहाँ पर राज्यपालो की वियुक्तियाँ की जाती है वे वहाँ की भाषा नही बोल सकते और उनकी समस्याओं का आंकलन भी नही कर सकते है। केन्द्र के प्रतिनिधि होने के कारण राज्य स्तर पर सरकार गिराने के लिये उनका प्रयोग किया जाता है जैसे–

2023–24 में– झारखण्ड में हेमंत सोरेन सरकार, पश्चिम बंगाल मे ममता बनर्जी सरकार तथा दिल्ली राज्य में केजरीवाल सरकार आदि को गिराने के लिए राज्यपालों का प्रयोग किया। केन्द्र सरकार ने झारखण्ड एवं दिल्ली राज्य में सरकारे तो बच गई किन्तु मुख्यमंत्री बदलने पड़े थे। झारखण्ड के मुख्यमंत्री जेल से छूटने के बाद पुन: सूझबूझ के कारण मुख्यमंत्री का पद प्राप्त कर लिया (प्रमुख राजनीतिक विश्लेषक योगेन्द्र यादव के अनुसार) विपक्षी दलों की राज्यो मे सरकारे रहने से वहाँ पर राज्यपाल भारी संख्या में विधेयकों को राष्ट्रपति के

विचार के लिये रोक लेता है। इनके अलवा राज्यपालो की नियुक्ति पदच्युति और स्थानांतरण राज्यों के मुख्यमंत्रियों से बिना परामर्श के किये जाते है।

(ख) राष्ट्रपति शासन का आरोपण

संविधान के अनुसार अगर राष्ट्रपति किसी राज्य के राज्यपाल से सूचना प्राप्त करता है अथवा समझा लेता है कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है कि जिसमें संवैधानिक प्रावधानों के तहत राज्य सरकारो का संचालन नहीं हो सकता है, तो संवैधानिक तंत्र की विफलता घोषित की जा सकती है। जब राज्य केन्द्र को कार्यपालिका के अधिकार के प्रयोग लिये जारी निर्देश को पालन करने या लागू करने में विकल हो जाता हो तब भी संवैधानिक तंत्र की विफलता घोषित की जा सकती है। ये दो प्रावधान केन्द्र को राज्य के मामले में हस्तक्षेप करने के व्यापक अधिकार प्रदान करता है। राज्यपालों के पक्षपात भूमिका के कारण ऐसे अधिकारो का दुरुपयोग संभव है। मणिपुर हिंसा मामले में तथा उत्तर प्रदेश में फर्जी एकन काउन्टर मामले मे केन्द्र सरकार द्वारा पक्षपाती रवैया अपनाया गया। उन पर संविधान के अनुसार शासन न चलाये जाने के गंभीर आरोप लगे किन्तु उन पर केन्द्र सरकार ने कोई कार्यवाही नही किया। जहाँ पर विपक्षी दलो की सरकारे होती है। संवैधानिक तंत्र की विफलता घोषित करके उन राज्यो मे राष्ट्रपति शासन लगाकर केन्द्र सरकार अपनी शाक्ति का दुरुपयोग करती है। (राजनीतिक विश्लेषक योगेन्द्र यादव के अनुसार)

(ग) वित्त और योजना पर मतभेद

वित्तीय रूप से राज्य तंग अवस्था में है क्योकि केन्द्र और राज्यों के बीच का विभाजन इस तरह किया गया है कि राजस्व के अधिकांश लचीले स्रोत केन्द्र को आवंटित कर दिये गये हैं। राज्यों को केन्द्रीय अनुदान और सहायता पर बहुत अधिक निर्भर होना पड़ता है। राज्यो की ओर से वे आम शिकायत रही है कि केन्द्रीय सरकार सामान्यतः वित्तीय संसाधनों और विशेषतः ऋण और अनुदान के आवंटन में भेदभाव पूर्ण बर्ताव करती है। योजना के लिये राशि आवंटन और केन्द्रीय परियोजनाओं मे भी भेदभाव बरता जाता है। इसके अतिरिक्त कर लगाने के अधिकार का वितरण और साथ ही कर एवं अन्य सरकारी प्राप्ति मे वास्तविक भागीदारी का भी केन्द्र के पक्ष में बहुत अधिक झुकाव परिणाम स्वरूप केन्द्र और राज्यों के बीच वित्तीय सम्बन्ध असामंजस्य का एक प्रमुख स्रोत बन गया है।

(घ) केन्द्र द्वारा अधिकारी तंत्र और जनमाध्यम उपकरणो का दुरुपयोग

अधिकारी तंत्र पर नियंत्रण केन्द्र और राज्यों के बीच टकराव का एक अन्य मुद्nk gS। राज्य, अखिल भारतीय सेवाओं के पक्षपातपूर्ण प्रयोग के लिये केन्द्र की आलोचना करते है। जहाँ तक उनके विकास दायित्व का सम्बध है राज्य सरकारों का इन सेवाओं पर पर्याप्त नियंत्रण नहीं है। राज्य की राजनीतिक सत्ता की क्षति की कीमत पर इन सेवाओं के सदस्य सुरक्षा के लिये।

केन्द्र की ओर देखते है। राज्य प्रशासन के महत्वपूर्ण और प्रभावशाली पदो पर तैनात होकर अखिल भारतीय सेवाओ का अधिकारी एक महत्वपूर्ण और प्रभावशाली पदों पर तैनात होकर अखिल भारतीय सेवाओं का अधिकारी एक विशिष्ट वर्ग का निर्माण करता है। राज्य सेवा के अधिकारी उनसे अपने आपको अलग महसूस करते हैं। इससे राज्यो की आर्थिक प्रगति और राजनैतिक, विकास में अवरोध पैदा होता है राज्यों के आरोप है कि केन्द्रीय सरकार शक्ति संतुलन की झुलाव अपने पक्ष में करने के लिये जन संचार माध्यमो दूरदर्शन, आल इण्डिया रेडियो, टीवी चैनल, न्यूज चैनल, सोशल मीडिया आदि का प्रयोग करती है।

(ङ.) राज्यों में कानून और व्यवस्था की समस्या एवं केन्द्र की भूमिका

कानून व्यवस्था का विषय केन्द्र और राज्यों के बीच एक अन्य टकराव का स्थल है। संविधान के अनुसार जब कभी एक राज्य के अन्दर कोई अंतरिम गड़बड़ी पैदा हो जाये या होने की संभावना हो तो केन्द्र का कर्तव्य है कि वह राज्यों को सुरक्षा प्रदान करे। केन्द्रीय रिजर्व पुलिस बल, केन्द्रीय औद्योगिक सुरक्षा बल, सीमा सुरक्षा बल इत्यादि की बहाली द्वारा सहायता प्रदान करने में केन्द्रीय सरकार के लिये राज्य सरकार से परामर्श लेना आवश्यक नहीं है। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय सरकार राज्यों में केन्द्रीय कार्यालयों और सम्पत्ति की सुरक्षा के लिये ऐसे बल तैनात कर सकती है। समय–समय पर राज्यों ने ऐसे बलो के प्रयोग को प्रतिरोध किया है।

इसके अलावा छोटे मामले भी हैं, जिन पर केन्द्र और राज्य के बीच मतभेद उत्पन्न हो जाते हैं। जैसे पक्षपातपूर्ण आधारों पर विधानसभा चुनावों का स्थगन केन्द्रीय सरकार के सामने न झुकने वाले मुख्यमंत्रियों के विरुद्ध जाँच आयोग का गठन प्रधानमंत्री या मंत्रियों का पक्षपातपूर्ण उद्देश्य से राज्यों का दौरा इत्यादि।

19.5 सारांश

भारतीय संविधान के प्रावधानो का परीक्षण करने पर स्पष्ट हो जाता है कि संविधान निर्माताओं के उद्देश्य स्पष्ट था। उनका उद्देश्य था एक सहयोगी संघ की स्थापना करना। राज्य सरकारों को विभिन्न सीमाओं जैसे संसाधनो की योजना और कुशलता के लिये कार्य करना पड़ता है। ऐसी स्थिति में क्षेत्रीय और राष्ट्रीय सरकार की सहयोगी भागीदारी और उत्तम व्यवस्था से राष्ट्रीय सरकार राज्यों को उनके विकास प्रयासो मे हमेशा सहायता कर सकती थी। तथापि उन्हें उग्र क्षेत्रीय शक्तियों के विरोधी आन्दोलन करने का पूर्वाभास नही था इन शक्तियों के आगमन और संघीय योजना की वास्तविक कार्यप्रणाली के निर्माताओं के उद्देश्य को विफल कर दिया है। केन्द्र सरकार और राज्य सरकारो की पक्षपात भूमिका ने केन्द्र राज्य सम्बन्धों एक सामंजस्य स्थिति में ला खड़ा किया है। छोटे–छोटे मामलो मे भी केन्द्र राज्यों के बीच मतभेद उत्पन्न हो जाते है। पक्षपातपूर्ण आधारों पर विधान सभा चुनावो का स्थगन, केन्द्रीय सरकार के सामने न झुकने वालें मंत्रियों के विरुद्ध जाँच आयोग का गठन उदाहरण स्वरूप मुख्यमंत्री, हेमंत सोरेन, केजरीवाल, ममता बनर्जी आदि। प्रधानमंत्री और मंत्रियो का पक्षपातपूर्ण उद्देश्य से राज्यों का दौरा इत्यादि। इसमे कोई सन्देह नही ऐसी स्थिति में केन्द्र–राज्य समबन्धो के पूर्ण निर्माण की आवश्यकता है। यह केवल उसके परस्पर टकराव को ही नही कम करेगा बल्कि एक व्यवहारिक सहयोगी संघ जो कि समय की मांग है। इसकी भी स्थापना औचित्यपूर्ण ढंग से करेगा।

19.6 अभ्यास प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. भारतीय संविधान मे कौन सा।शब्द 42वां संविधान 1976 का संशोधन करके नही डाला गया है–

   (क) धार्मिक राज्य (ख) धर्मनिरपेक्षता (ग) समाजवादी (घ) इनमें से कोई नहीं

2. केन्द्र राज्य सम्बन्ध मे कौन सा नही है?

   (क) विधायी (ख) प्रशासनिक (ग) वित्तीय (घ) व्यापारिक

3. भारतीय राज्यो की प्रकृति कौन सी नहीं है?

   (क) अलगाववाद (ख) भाषागत (ग) सांस्कृतिक (घ) क्षेत्रीय

उत्तर 1– (क) 2– (घ) 3– (क)

निम्नलिखित प्रश्न।

4. राष्ट्रीय राजनीति का अर्थ एवम प्रकृति स्पष्ट कीजिए।
5. केंद्र राज्य संबध व्याख्यायित कीजिए।
6. राष्ट्रीय राजनीति का राज्य राजनीति पर प्रभाव स्पष्ट कीजिए.

19.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. निलंगना जैन, द प्रॉब्लम ऑफ जस्टिस इज पॉलिटिकल थियरी एंड स्टेट प्रैक्टिस, अनामिका पबिलसर्स, नई दिल्ली।
2. शशि मणि त्रिपाठी, द ह्यूमन फेस ऑफ सुप्रीम कोर्ट ऑफ इंडिया, गंगा कावेरी पाब्लिसिंग हाउस, वाराणसी।
3. संगीता आहूजा, पीपुल लॉ ऑफ जस्टिस, ओरियंट लंगमान, नई दिल्ली।
4. लास्की हेरोल्ड जे. पार्लियामेंट्री गवर्नमेंट इन लंदन, अलायन्स यूनियन लंदन।
5. राय एसएन. ज्यूडिशियल रिव्यू एंड फंडामेंटल राइट्स।
6. मार्कण्डन के सी, द प्रियमबल।
7. पायली एम वी, कांस्टीट्यूशनल गवर्नमेंट एंड पॉलिटिक्स।